Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२०
२२६:२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

२०
२२९:२

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

89697

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
कृपया पुस्तक के ऊपर कोई निशान आदि
न लगायें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

27 APR 2009
D-61/1/92/83
14 DEC 1997
RENEWED
RENEWED
2/2/98
29 SEP 2018
TB023

20,229:2
89697

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्म शास्त्रों का समाज-दर्शन

(Social Philosophy of Dharmasastras)

89697

लेखिका

डॉ० गीता रानी अग्रवाल

एम० ए० (समाजशास्त्र, दर्शनशास्त्र) बी० एड्०, पी-एच० डी० दर्शन विभाग

काशी विद्यापीठ, वाराणसी

आमुख

डॉ० रघुनाथ गिरि

एम० ए० पी-एच० डी०, आचार्य (न्याय वैशेषिक)

अध्यक्ष, दर्शन विभाग एवं

संकायाध्यक्ष, मानविकी संकाय

काशी विद्यापीठ, वाराणसी

20,229:2

89697

प्रकाशक

आदर्श विद्या निकेतन

बी० १/९६, अस्सी

वाराणसी–२२१००५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशक :

विक्रमादित्य पाण्डेय

आदर्श विद्या निकेतन

बी० १/९६, अस्सी

वाराणसी–२२१००५

सर्वाधिकार लेखिकाधीन सुरक्षित

प्रथम संस्करण–१९८३

प्रतियाँ–१०००

मूल्य–९०.०० (नब्बे रुपये मात्र)

मुद्रक :

हिमालय प्रेस

के० ५८/१०३, बड़ागणेश, लोहटिया

वाराणसी–२२१००१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूज्यनीया माता

एवं

पूज्य पिताजी को

सादर

समर्पित

—गीता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरोवाक्

डॉ [कु०] गीता रानी अग्रवाल कृत "धर्मशास्त्रों का समाजदर्शन" इस विषय पर एक स्तुत्य पुस्तक है इसमें हिन्दू धर्मशास्त्रों में वर्णित सामाजिक संस्थाओं के स्वरूप का विशद निरूपण तो है ही उनके आधारभूत दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन भी मुख्य रूप से प्रतिपादित हुआ है और यही इसकी विशेषता है। संस्थाओं एवं सिद्धान्तों के सत्यापन के लिये प्रचुर प्रमाण मूलरूप में दिये गए हैं और अन्तिम अध्याय में इनकी आलोचना भी निष्पक्षता के साथ की गयी है। कालक्रम में परम्पराजन्य कर्त्तव्यों एवं निष्ठाओं में दोष आ जाने पर भी मूल सिद्धान्तों एवं मूल्यों की उपादेयता प्रतिपादित की गयी है। भोग और त्याग, प्रवृत्ति और निवृत्ति, सकामता और निष्कामता, इहलोक और परलोक, पिण्ड और ब्रह्माण्ड, नियति और पुरुषार्थ, यथार्थ और आदर्श, अपर पुरुषार्थ एवं पर पुरुषार्थ के समन्वय में धर्मशास्त्रों की कृतार्थता देखी गयी है। धर्मशास्त्रों की सामाजिक व्यवस्था धर्ममूलक होने पर भी समाज व्यवस्था को धर्म से पृथक् करके धर्म निरपेक्ष रूप में भी देखा गया है। हिन्दू धर्मशास्त्रों का समाज दर्शन इतने सर्वांगीण रूप में प्रस्तुत करके लेखिका ने इस विषय के अध्येताओं के लिये एक विस्तृत एवं प्रामाणिक आधार निर्मित कर दिया है जिससे हिन्दी साहित्य का इस दिशा में नया संवर्द्धन हुआ है। मुझे विश्वास है कि जिज्ञासुगण इसका पूरा लाभ उठाएँगे।

राजाराम शास्त्री

२३ अप्रैल, १९८३

भूतपूर्व कुलपति एवं भूतपूर्व संसद सदस्य
काशी विद्यापीठ,
वाराणसी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आमुख

समाज-दर्शन, दर्शन शास्त्र की वह शाखा है जिसमें समाज से सम्बन्धित तथ्यों, अवधारणाओं, मान्यताओं एवं सिद्धान्तों का दर्शन शास्त्र की पद्धति से विवेचन, विश्लेषण एवं मूल्यॉकन किया जाता है। पाश्चात्य दार्शनिक जैसे प्लेटो, अरस्तू, स्टोइक एवं एपिक्यूरियन चिन्तकों के विचारों में उक्त विषयों का विवरण तो प्राप्त होता है, किन्तु उनके दर्शन में समाजदर्शन को दर्शन शास्त्र की स्वतंत्र शाखा के रूप में स्थान प्राप्त नहीं है। विज्ञान के उदय एवं विकास के साथ सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन का महत्त्व बढ़ा है और अनेक सामाजिक विज्ञान जैसे—समाजशास्त्र, अर्थ-शास्त्र, राजनीतिशास्त्र, सामाजिक मनोविज्ञान, आदि समाज के विविध पहलुओं का अध्ययन अपनी विशिष्ट वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा कर रहे हैं। समाज सम्बन्धी विषयों के अध्ययन के महत्त्व बढ़ने के कारण ही समाज-दर्शन का दर्शनशास्त्र की एक स्वतंत्र शाखा के रूप में उदय एवं विकास हुआ है। जहाँ सामाजिक विज्ञान समाज के किसी पक्ष विशेष से सम्बन्धित समस्याओं का अध्ययन करते हैं वहीं समाज-दर्शन समग्र मानव समाज की सामान्य समस्याओं का दार्शनिक पद्धति से अध्ययन करने का प्रयास करता है। समाज-दर्शन का मुख्य सम्बन्ध सामाजिक मूल्यों, लक्ष्यों, आदर्शों एवं मान्यताओं से है अतः इनसे सम्बन्धित अनेक समस्याओं को वह अपने अध्ययन क्षेत्र में सम्मिलित करता है। समाज दर्शन जहाँ एक ओर सामाजिक संस्थाओं के आधार के सम्बन्ध में उत्पन्न विवादों को हल करने का प्रयास करता हैं वहीं दूसरी ओर इन संस्थाओं के उद्देश्यों का निर्धारण एवं मूल्यॉकन भी करता है साथ ही साथ सामाजिक विज्ञानों के पूर्वमान्यताओं, प्राक्कल्पनाओं एवं उपलब्धियों का विवेचन करते हुए उनके द्वारा अपनाई गई पद्धतियों का मूल्यॉकन भी करता है इसका मुख्य उद्देश्य समाज में स्वीकृत आदर्शों एवं मान्यताओं का मूल्यॉकन करना एवं उच्चतम आदर्शों की स्थापना करते हुए आदर्श समाज की कल्पना को साकार करना है।

आधुनिक युग में समाज चिंतन का केन्द्र बनता जा रहा है इसलिए समाज-दर्शन को भी अध्ययन-अध्यापन में विशेष स्थान प्राप्त हो गया है फिर भी इतना कहना पड़ता है कि समाज-दर्शन पर जो भी अध्ययन हो रहे हैं या जो भी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं उनमें मुख्य रूप से पाश्चात्य चिन्तन धारा को आधार बनाया गया है और पाश्चात्य दार्शनिकों के मतों को विशेष स्थान दिया गया है। भारतीय विचारधारा को आधार बनाकर इस विषय पर बहुत कम अध्ययन हुए है।

भारतीय चिंतन के साहित्य में समाज दर्शन के विविध पक्षों से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्रियाँ हैं जिनको संकलित कर व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने वाले अध्ययनों की बहुत कमी है। प्रस्तुत ग्रंथ की लेखिका डॉ०, गीता रानी अग्रवाल ने अपने शोध के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधार पर इस ग्रंथ की रचना कर उक्त कमी की पूर्ति की दिशा में एक सफल एवं सशक्त प्रयास किया है इसमें धर्मशास्त्रों के आधार पर समाज दर्शन से सम्बन्धित विविध पक्षों एवं समस्याओं का विवेचन, विश्लेषण एवं मूल्यॉकन प्रस्तुत किया है यह अध्ययन समाज दर्शन के क्षेत्र में नवीन होते हुए भी शोध पर आधारित विद्वत्तापूर्ण, गम्भीर, विचारोत्पादक एवं प्रमाणों से संम्पुष्ट है।

भारतीय समाज दर्शन की विषय वस्तुओं को ध्यान में रखते हुए इस ग्रंथ को नव अध्यायों में विभक्त किया गया है और दार्शनिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक संस्थाओं से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को उठाया गया है और उनके विविध पक्षों की समीक्षा की गई है।

निष्कर्ष में लेखिका ने धर्मशास्त्रों के समग्रता एवं समन्वय के दृष्टिकोण पर विशेष बल दिया है, जिसको पुष्ट करने के लिए व्यष्टि और समष्टि, त्याग और भोग, नियतिवाद और सकल्प स्वातंत्र्य, पर पुरुषार्थ एवं अपर पुरुषार्थ के समन्वय को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। साथ ही साथ व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध के विषय में प्रतिकृतिरूपता के सिद्धांत का प्रतिपादन, कर्त्तव्याश्रित समाज व्यवस्था का विवेचन तथा आधुनिक सामाजिक समस्याओं के समाधान हेतु धर्मशास्त्रों की सामाजिक व्यवस्था से निकाले गये सूत्रों के संकेत से ग्रंथ की मौलिकता की पुष्टि हुई है।

ग्रंथ मुख्य रूप से समाज-दर्शन से सम्बन्धित है फिर भी आवश्यकतानुसार प्लेटो, अरिस्टोटिल, कूले, मीड, हाब्स, लॉक, रुसो, आदि पाश्चात्य चिन्तकों के विचारों को भी यथास्थान समुचित रूप में प्रस्तुत किया गया है।

ग्रंथ की भाषा सरल एवं सुबोध तथा शैली प्रतिपाद्य विषय के अनुकूल है प्रस्तुत ग्रंथ दर्शन शास्त्र एवं समाज शास्त्र के उन स्नातकोत्तर विद्यार्थियों, शोध छात्रों, विद्वानों एवं जिज्ञासुओं के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी जो भारतीय समाज-दर्शन का अध्ययन करना चाहते हैं या उसमें रुचि रखते हैं। हिन्दी भाषा में इस प्रकार के उच्च स्तरीय शोध पर आधारित प्रामाणिक ग्रंथ का प्रणयन कर डा० गीता रानी अग्रवाल ने भारतीय समाज-दर्शन के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। इसके लिए सहृदय एवं विचारशील समुदाय इनका हृदय से आभारी होगा।

डॉ० रघुनाथ गिरि
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष दर्शन विभाग
संकायाध्यक्ष, मानविकी संकाय
काशी विद्यापीठ
वाराणसी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राक्कथन

आधुनिक युग में समाज-दर्शन को दर्शन शास्त्र की स्वतंत्र शाखा के रूप में विशेष महत्त्व दिया जा रहा है। जहाँ एक ओर समाज दर्शन के विशेष-विशेष पक्षों को लेकर शोध कार्य हो रहे हैं वही दूसरी ओर समाज-दर्शन को स्नातक स्नातकोत्तर कक्षाओं के पाठ्यक्रम में भी स्थान दिया जा रहा है। समाज दर्शन पर अंग्रेजी एवं हिन्दी में अनेक ग्रंथ भी प्रकाशित हो चुके हैं किन्तु उनमें विशेष रूप से पाश्चात्य चिंतन के परिप्रेक्ष्य में ही समाज-दर्शन का विवेचन हुआ है भारतीय विचार धारा को आधार बनाकर इस विषय पर अभी बहुत कम अध्ययन हो पाये हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ इस कमी की पूर्ति की दिशा में एक प्रयास हैं।

धर्म शास्त्रों में धर्म सम्बन्धी चर्चाओं के साथ-साथ समाज-दर्शन सम्बन्धी पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हैं अतः धर्मशास्त्रों को आधार बनाकर ही प्रस्तुत ग्रंथ की रचना की गई है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में सामान्य रूप से अनेक धर्मशास्त्रों से एवं विशेष रूप से मनु एवं याज्ञवल्क्य स्मृति से सामग्री का संकलन कर निम्नलिखित तथ्यों को प्रकाशित करने का प्रयास किया गया है।

(क) धर्मशास्त्रों की सामाजिक व्यवस्था का आधारभूत दार्शनिक पृष्ठभूमि के तीन अंग है प्रथम पिण्ड और ब्रह्माण्ड में प्रतिकृतिरूपता और अविभाज्यता का सम्बन्ध द्वितीय कर्मवाद और पुनर्जन्म की अवधारणा एवं तृतीय विश्व की सोद्देश्यता की स्थापना जिसमें अन्य प्राणियों को भाग के लिए और मानव को पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए महत्त्व दिया गया है।

(ख) वर्ण व्यवस्था तथा आश्रम व्यवस्था धर्मशास्त्रों की सामाजिक व्यवस्था के मूलाधार हैं जो ऐसे व्यापक सिद्धान्तों पर आधारित हैं जिनका प्रत्येक समाज और प्रत्येक काल के लिए उपयोग हो सकता है। समस्त संस्थाएँ (सामाजिक, शैक्षणिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनैतिक) ऐहिकता एवं पारलौकिकता से साथ-साथ जुड़ी हुई है।

यह ग्रन्थ नव अध्यायों में विभक्त है। इसके प्रथम तीन अध्यायों में धर्मशास्त्रों के सामाजिक व्यवस्था की दार्शनिक पृष्ठभूमि का विवेचन किया गया है जिसमें क्रमशः ब्रह्माण्ड एवं मानव समाज, कर्मवाद और पुनर्जन्म एवं पुरुषार्थ का निरूपण किया गया है चौथे और पाँचवे अध्याय में वर्ण व्यवस्था एवं आश्रम व्यवस्था का विवेचन किया गया है। बाद के चार अध्यायों में क्रमशः सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनैतिक संस्थाओं का निरूपण किया गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपसंहार में यह दिखलाने का प्रयास किया गया है कि धर्मशास्त्रों के समाज दर्शन का दृष्टिकोण समन्वयवादी है जिसमें व्यष्टिवाद और समष्टिवाद, नियतिवाद और संकल्प स्वातंत्र्य, प्रवृत्ति और निवृत्ति, भौतिकता और आध्यात्मिकता के समन्वय का प्रयास किया गया है। यहाँ यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि धर्मशास्त्रों के समाजदर्शन में अनेक ऐसे सूत्र उपलब्ध हैं जिनको संशोधित करा आधुनिक समाज की अनेक समस्याओं के समाधान के लिए उपयोग किया ज सकता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ काशी विद्यापीठ के दर्शन विषय की पी-एच० डी० उपाधि हेतु स्वीकृत मेरे शोध प्रबन्ध पर आधारित है। उक्त शोध मैंने डॉ० रघुनाथ गिरि प्रोफेसर एवं अध्यक्ष दर्शन विभाग, काशी विद्यापीठ निर्देशन में सम्पन्न किया है। मैं इसमें अपना सौभाग्य एवं गौरव समझती हूं कि डॉ० गिरि ऐसे विद्वान गुरु के निर्देशन में कार्य करने का मुझे अवसर प्राप्त हुआ है। मुझे डॉ० गिरि के सान्निध्य से क्षमता, स्नेह से प्रेरणा और सहयोग से शक्ति प्राप्त हुई है जिससे यह ग्रन्थ प्रकाशित हो सका है। साथ ही साथ इस ग्रन्थ की आमुख लिखकर डॉ० गिरि ने मुझे जो गौरव प्रदान किया है उसके लिए मैं हृदय से उनका आभार मानती रहूंगी।

दर्शन विभाग काशी विद्यापीठ के जिन अध्यापकों से मुझे प्रेरणा प्राप्त हुई हैं उनमें प्रोफेसर राजाराम शास्त्री भू० पू० कुलपति, काशी विद्यापीठ ने ग्रन्थ की पुरोवाक् लिखे हैं इसके लिए मैं उनके प्रति हृदय से आभार व्यक्त करती हूं।

डॉ० उमेददत्त शुक्ल, डॉ रमेश कुमार त्रिपाठी, डॉ० सुरेन्द्र कुमार श्रीवास्तव डॉ० वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी एवं डॉ० वशिष्ठ नारायण सिन्हा के प्रति में अपनी कृतज्ञता ज्ञापन करती हूँ।

काशी विद्यापीठ के अन्य विभाग के अध्यापकों में इतिहास विभाग के अध्यक्ष डॉ० महेन्द्र प्रताप सिंह समाज शास्त्र विभाग के रीडर, डॉ० गौरी शंकर श्रीवास्तव एवं प्रवक्ता डॉ सुषमा मल्होत्रा के प्रति भी मैं अपना आभार व्यक्त करना चाहती हूं जिससे मुझे अनेक प्रकार के सहयोग प्राप्त हुए हैं।

श्री वाचस्पति मिश्र जिन्होंने प्रूफ देखने में मेरी सहायता की हैं इसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं अन्त में पुस्तक के प्रकाशक श्री विक्रमादित्य पाण्डेय के प्रति भी आभार-प्रकट करती हूँ जिन्होंने विशेष रुचि लेकर पुस्तक को प्रकाशित किया है।

रामनवमी संवत् २०४० **गीता रानी अग्रवाल**

काशी विद्यापीठ

वाराणसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय : ब्रह्माण्ड, और मानव-समाज १-४१

सृष्टि प्रक्रिया में दार्शनिक पूर्व मान्यता, ब्रह्माण्ड में मानव, ब्रह्माण्ड का स्वरूप तथा उसकी उत्पत्ति, सप्तलोक, सप्तपाताल, विभिन्न नरक, सृष्टि प्रक्रिया सृष्टि की चार कोटियाँ, सृष्टि और त्रिदेव, सृष्टि का विस्तार, अन्य प्राणियों की सृष्टि, चेतन सृष्टि का उद्देश्य, सृष्टि प्रक्रिया में मानव: याज्ञवल्क्य के अनुसार, सांख्य और पुराणों की सृष्टि प्रक्रिया, कर्मयोनि और भोगयोनि सृष्टि के आधारभूत दार्शनिक सिद्धान्त, मानव समाज, व्यक्ति और समाज।

द्वितीय अध्याय : कर्म और पुनर्जन्म ४२-६६

कर्म और पुनर्जन्म, कर्म का अर्थ एवं स्वरूप, विधान के आधार पर कर्म के भेद, प्राकृतिक गुण के आधार पर कर्म के भेद, कर्म विपाक प्रक्रिया के आधार पर कर्म के भेद, अन्य आधारों पर कर्म के भेद, मानसिक पापकर्म, वाचिक पापकर्म, कायिक पापकर्म, कर्म तथा उसका फल, निष्काम कर्म, कर्मवाद या कर्म का सिद्धान्त, कर्मवाद के सम्बन्ध में मनु का दृष्टिकोण, पुनर्जन्म, पुनर्जन्म और कर्मवाद।

तृतीय अध्याय : पुरुषार्थ ६७-११६

विश्व और व्यक्ति का लक्ष्य, पुरुषार्थ का अर्थ, पुरुषार्थ और त्रिवर्ग, धर्म का अर्थ (भारतीय दृष्टिकोण), धर्म का अर्थ (पाश्चात्य दृष्टिकोण) धर्म शब्द के अनेक अर्थ।

सामान्य धर्म : धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध;

विशिष्ट धर्म : वर्णधर्म आश्रमधर्म, कुल धर्म, युग धर्म, राज धर्म;

आपद् धर्म : अर्थ की परिभाषा, स्वरूप एवं प्रकार, अर्थ में भूमि की प्रधानता; अर्थ, द्रव्य, धन, आधुनिक चिन्तकों के मत में अर्थ, अर्थ का महत्त्व, अर्थोपार्जन के साधन तथा संचय वृत्तियां, अर्थ एवं सन्तोष, अर्थ की पवित्रता, धन का उचित उपभोग, अर्थ के दोष, काम की परिभाषा एवं स्वरूप, काम का महत्त्व, मोक्ष का अर्थ एवं स्वरूप बन्धन या दुःख का स्वरूप और भेद, सुखादि की दुःखरूपता, परलोक सुख की दुःखरूपता, भोग की दुःखरूपता, विविध भोग योनियाँ, पाप योनियाँ, पुण्य और पाप योनियों के कारण, मोक्ष और उसकी प्राप्ति के उपाय, द्विविध मोक्ष, पितृयान और देवयान।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चतुर्थ अध्याय : वर्ण व्यवस्था १९७-१४२

सामाजिक व्यवस्था की विशेषताएं, प्राचीनता, स्थायित्व, सहिष्णुता, अनुकूलनशीलता, समन्वयता, सनातनता, समता और स्वतन्त्रता, वेद आदि शास्त्रों की आश्रयता, वर्ण व्यवस्था में निहित व्यापक सिद्धान्त, वर्ण व्यवस्था, 'वर्ण' शब्द की व्युत्पत्ति, वर्ण की उत्पत्ति (भारतीय दृष्टिकोण) वर्ण के संदर्भ में आधुनिक विचारकों का मत, वर्ण विभाजन का आधार (विभिन्न विचारकों के मत में), वर्ण का निर्धारण (जन्म या कर्म) कर्म, ब्राह्मणों के कर्त्तव्य, ब्राह्मण के आपत्तिकालीन कर्म, क्षत्रिय के कर्त्तव्य, क्षत्रिय के आपत्तिकालीन कर्म, वैश्य के कर्म, वैश्य के आपत्तिकालीन कर्म, शूद्र के कर्म, शूद्र के आपत्तिकालीन कर्म, स्तरीकरण ।

पंचम अध्याय : आश्रम व्यवस्था १४३-१८३

आश्रम व्यवस्था, आश्रम शब्द का अर्थ, आश्रमों का विभाजन, आश्रमों के सम्बन्ध में त्रिविध सिद्धान्त, ब्रह्मचर्याश्रम, ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश की आयु, ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य, शिक्षा व्यवस्था, शिक्षा की अनिवार्यता, शिक्षा से द्विजत्व प्राप्ति, विद्यार्थी का समपरिधान, भिक्षाटन, गुरुसेवा, अध्ययन विषय, अध्ययन अवधि, अनेक गुरुओं से शिक्षा प्राप्त करना, गुरु की योग्यता एवं वर्ग, शिक्षा का मुख्य उद्देश्य, गृहस्थाश्रम, गृहस्थ की आयु तथा अवधि, गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्य, ऋणों से मुक्ति, पञ्च महायज्ञ; वानप्रस्थाश्रम, वानप्रस्थ के प्रकार, वानप्रस्थी का उद्देश्य; सन्यासाश्रम, सन्यासियों के प्रकार, सन्यासाश्रम का महत्त्व ।

षष्टम अध्याय : सामाजिक संस्था-परिवार और विवाह १८४-२२८

परिवार, परिवार का विकास, परिवार की परिभाषा, पति-पत्नी, पुत्र का स्थान, पुत्रों के प्रकार, औरस पुत्र क्षेत्रज पुत्र, दत्तक पुत्र, कृत्रिम पुत्र, गूढ़ज पुत्र, अपविद्ध पुत्र, कानीन पुत्र, सहोढ़ पुत्र, क्रीतक पुत्र, पौनर्भव पुत्र, स्वयंदत्त पुत्र, पारशव पुत्र, पुत्रिका वर्गीकरण के कारण, पुत्री का स्थान, माता-पिता का स्थान, स्त्री का स्थान, भाई-बहन तथा अन्य सम्बन्धी । विवाह-विवाह के उद्देश्य:धर्म का अनुष्ठान, पुत्र प्राप्ति, रति, विवाहके प्रकार-ब्राह्म विवाह, देव विवाह, आर्ष विवाह; प्राजापत्य विवाह, आसुर विवाह, गान्धर्व विवाह, राक्षस विवाह, पैशाच विवाह, एक विवाह एवं बहु विवाह, अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह, सवर्ण और असवर्ण विवाह, सगोत्र विवाह का निषेध, सपिण्ड विवाह का निषेध, सप्रवर विवाह का निषेध, परपूर्वा स्त्री अथवा पुनर्विवाह करने वाली स्त्री, वर एवं वधू की अपेक्षित विशेषताएं, विवाह के अयोग्य वर एवं वधू, विवाह की आयु ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सप्तम अध्याय : धार्मिक संस्था-संस्कार एवं पञ्चमहायज्ञ, यज्ञ एवं प्रायश्चित्त २२९-२६१

धार्मिक संस्थाओं का स्थान एवं महत्त्व, धार्मिक संस्थाओं के आधारभूत मान्यतायें; संस्कार शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ, संस्कारों की संख्या, संस्कारों का प्रयोजन, गर्भाधान संस्कार, पुंसवन संस्कार, सीमन्तोन्नयन संस्कार, जातकर्म संस्कार, नामकरण संस्कार, निष्क्रमण संस्कार, अन्नप्राशन संस्कार, चूड़ाकरण संस्कार, उपनयन संस्कार, केशान्त संस्कार, समावर्तन संस्कार, विवाह संस्कार, अन्त्येष्टि संस्कार; पञ्चमहायज्ञ, पञ्चमहायज्ञों की महत्ता, ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, वैश्यदेवयज्ञ, नृयज्ञ या मनुष्य यज्ञ, यज्ञ-अग्न्याधान, अग्निहोम, दर्श-पूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुबन्ध या निरूढ़ पशुबन्ध, अग्निष्टोम, अन्यसोम यज्ञ, राजसूय यज्ञ, सौत्रामणि यज्ञ, अश्वमेध यज्ञ-सत्र प्रायश्चित्त, प्रायश्चित्त एवं दण्ड।

अष्टम अध्याय : आर्थिक संस्था-श्रम सम्पत्ति एवं उत्तराधिकार २६२-२७७

श्रम और सम्पत्ति, धर्मशास्त्रों की सम्पत्ति सम्बन्धी अवधारणा, सम्पत्ति का स्वरूप, सम्पत्ति सम्बन्धी उत्तराधिकार, संयुक्त सम्पत्ति, समांशी, कर्त्ता।

नवम् अध्याय : राजनैतिक संस्था:राज्य न्याय और दण्ड २७८-३२०

राज्य का महत्त्व, राज्य का स्वरूप, राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त, राजा की उत्पत्ति, राजा के कर्त्तव्य, राजा पर धर्म का नियन्त्रण, राजनैतिक प्रभुसत्ता, राजा के दैनिक कार्य-क्रम; राजा के सहायक अधिकारी एवं संस्था; मन्त्री परिषद्, मंत्री परिषद् की संख्या, मंत्री परिषद् के सदस्यों की योग्यता; मंत्रियों के परामर्श के विषय, अन्य पदाधिकारी; न्यायपालिका, न्याय सम्बन्धी मुकदमों (वादों) का वर्गीकरण, विधायिका, धर्म-नियम के स्रोत; दण्ड, दण्ड के प्रकार, दण्ड-दान सिद्धान्त, पुर, राष्ट्र, कोष, प्रजा रक्षण, लाभ पर कर लगाने का नियम, राष्ट्रीय योजना; अकष्टकर कर लगाने का नियम, अधिक कर का निषेध, कोष संचय के के साधन, बलि, शुल्क, दण्डकर, तरकर, पशुकर, श्रमजीवी एवं शिल्पीकर; मित्र, उपाय, षाड्यगुण्य मंत्र।

उपसंहार ३२१-३४०

सन्दर्भ एवं सहायक ग्रन्थों की संक्षिप्त सूची ३४१-३४४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
20,229:2
89697

प्रथम-अध्याय

ब्रह्माण्ड और मानव-समाज

सृष्टि प्रक्रिया में दार्शनिक पूर्व-मान्यता

भारतीय चिंतन धारा में आध्यात्मिकता प्रधान रही है । जीवन के किसी भी क्षेत्र के सम्बन्ध में विचार करते समय भारतीय मनीषियों ने समग्रता में व्यक्ति या समष्टि में व्यष्टि के सिद्धान्त को कभी भी नहीं भुलाया है । साथ ही साथ जीवनके प्रत्येक पहलु पर विचार करते समय दार्शनिक पूर्व-मान्यताओं को पूर्णरूपेण स्वीकार किया गया है । भारतीय दर्शनों में यह मान्यता है कि समस्त सृष्टि प्राणियों के कर्मों के परिणाम या फल के रूप में उत्पन्न होती है और प्रत्येक प्राणी उसमें अपने कर्मानुसार तथा अपनी क्षमता के अनुसार अपनी भूमिका का निर्वाह करता है । इससे यह स्पष्ट होता है कि विश्व-व्यवस्था या ब्रह्माण्ड व्यवस्था का मूल आधार कर्म एवं पुनर्जन्म का सिद्धान्त है । इसी आधार पर यह कहा जाता है कि प्राणियों को उनके पूर्व जन्मों के कर्मों के फल देने के लिए सृष्टि की रचना होती है । जिस प्रकार सृष्टि के मूल में कर्म है उसी प्रकार सृष्टि का लक्ष्य पुरुषार्थ की प्राप्ति है । सृष्टि न तो एक ऐतिहासिक घटना है और न एक आकस्मिक तथ्य । यह एक सुविचारित एवं सुविवेचित प्रक्रिया है जिसमें प्रत्येक अंग को उसके निश्चित स्थान पर सर्वज्ञ ईश्वर द्वारा नियुक्त किया गया है । इस नियोजन में सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वर अपनी न्यायप्रियता को विशेष महत्त्व देता है तथा नवीन सृष्टि के लिए प्राचीन सृष्टि को आधार बनाता है ।

ब्रह्माण्ड में मानव

धर्मशास्त्रों का समाज-दर्शन उक्त दार्शनिक पूर्व-मान्यताओं को सामाजिक व्यवस्था की पृष्ठ भूमि के रूप में स्वीकार करता है । धर्मशास्त्रों का मुख्य विषय धर्म विवेचन या कर्तव्या-कर्तव्य का निर्धारण है । उसी संदर्भ में विविध सामाजिक संस्थाओं के स्वरूप और कार्य का निरूपण भी किया जाता है किन्तु धर्मशास्त्रों में मानव, मानव समाज तथा मानव के कर्तव्य अकर्तव्य को विश्व के अन्य प्राणियों तथा ब्रह्माण्ड के सन्दर्भ में समझने का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयास किया गया है। क्योंकि उनकी यह मान्यता है कि मानव ब्रह्माण्ड से पृथक् नहीं है। वह ब्रह्माण्ड का एक अविभाज्य अंग है। ब्रह्माण्ड के संदर्भ में ही उसका सम्यक् विवेचन संभव हो सकता है। यही कारण है कि धर्मशास्त्रों में मानव के कर्त्तव्या-कर्त्तव्य के विवेचन के साथ ब्रह्माण्ड, उसकी उत्पत्ति, विविध लोक, सृष्टि-प्रक्रिया, सृष्टि के विविध पक्ष, विश्व के संचालक देवी-देवताओं, सृष्टि में अचेतन का स्थान, चेतन प्राणियों की उत्पत्ति का क्रम, प्राणियों के विविध वर्ग, उन वर्गों की विशेषता तथा उसका कारण आदि अनेक दार्शनिक प्रश्नों पर प्रकाश डाला गया है।

प्रस्तुत प्रकरण में ब्रह्माण्ड से सम्बन्धित विविध पक्षों का संक्षिप्त बिवेचन इसलिए आवश्यक लगता है कि इसके आधार पर मानव के वास्तविक स्वरूप तथा मानव की सामाजिक व्यवस्थाके मूल तत्त्व को समझा जा सकता है।

ब्रह्माण्ड का स्वरूप तथा उसकी उत्पत्ति

ब्रह्मवैवर्त पुराण में ब्रह्माण्ड के स्वरूप को बतलाते हुए कहा गया है कि सात द्वीप, सात स्वर्ग तथा सात पाताल वाले लोक को ब्रह्माण्ड कहते हैं[१]। ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पुराणों में बतलाया गया है कि सृष्टि की कामना से भगवान ने सबसे पहले जल की सृष्टि की, फिर उसमें अपना वीर्याधान किया। उससे एक अण्डे का जन्म हुआ वह अण्डा सोने जैसा चमकीला था। उस अण्डे में भगवान स्वयं गर्भित हुये। उस भगवान के गर्भ से उस अण्डे में सप्तद्वीप, सागर, लोक, पाताल आदि का निर्माण हुआ[२]। मनुस्मृति में यह भी कहा गया है कि सिसृक्षु भगवान् स्वयोनिरूपाप्रकृति को क्षुब्ध करते हैं, जिससे "अप्" की सृष्टि होती है। इस अप् में वे अपना बीजाधान करते हैं, जिससे हिरण्यमय हेमाण्ड की उत्पत्ति होती है। इस हिरण्याण्ड में वह परम पुरुष भगवान् स्वयं प्रविष्ट होकर उसे उर्वरित करते हैं। वह उर्वरित अण्डा उस अप् में बढ़ने लगता है। उसके विवृद्ध होकर परिपक्व हो जाने पर वही गर्भस्थ

१—ब्रह्मवैवर्त पुराण १. ७. १४ उद्धृत भारतीय सृष्टि विद्या, डा० प्रकाश पृ० १८१

२—अण्डस्यान्तस्त्विमे लोकाः सप्तद्वीपात्रमेदिनी। मनु-स्मृति १, १०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरुष (हिरण्यगर्भ) अपने पूर्ण विकसित (विराट पुरुष या सहस्त्रशीर्ष पुरुष) रूप में उससे बाहर निकलता है [१]।

ब्रह्माण्ड शब्द ब्रह्म और अण्ड इन दो शब्दों के योग से बना है। ये दोनों शब्द उपनिषद् , पुराण एवं धर्मशास्त्रों में विविध स्थलों पर विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। ब्रह्म शब्द परमतत्त्व, चेतन, विराट्, पुरुष, हिरण्यगर्भ, त्रिगुणात्मिका प्रकृति, महत् आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। उसी प्रकार अण्ड शब्द डिम्ब (अण्डे के समान गोल भौतिक शिशु पिण्ड), सूर्यमण्डल, आकाश पञ्चभूतों का पिण्ड आदि अर्थों में व्यवहृत होता है। इसलिए ब्रह्माण्ड शब्द जो इन दोनों के मेल से बनता है अपने शाब्दिक अर्थ में निश्चयार्थ नहीं है। इसके विषय में विभिन्न स्थलों पर जो वर्णन मिलता है उसी के आधार पर इसके अर्थ का और स्वरूप का निर्धारण किया जा सकता है।

सामान्यतया यह माना जाता है कि ब्रह्म का अण्ड ब्रह्मा से उत्पन्न अण्ड है किन्तु कुछ लोग यह मानते हैं कि उस अण्ड से ही ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई है। इन्दिरा रमण शास्त्री ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि ब्राह्माण्ड ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न अण्ड है अतः ब्रह्मा स्वयं उस अण्ड से उत्पन्न नहीं हो सकते। उन्होंने महाभारत के इस कथन पर अधिक बल दिया है जिसमें यह कहा गया है कि अण्ड का अर्थ ब्रह्माण्ड है और ब्रह्मा को तज्जन्य मानना अज्ञानता है। उन्होंने यह दिखलाने का प्रयास किया है कि ब्रह्मा ने ही अण्ड को फोड़कर उसमें पृथ्वी, द्युलोक, पहाड़, दिशाएँ आदि की स्थापना की है। अतः उस अण्ड से ब्रह्मा को जो स्वयं अज हैं, उत्पन्न मानना युक्ति-संगत नहीं है [२]।

उक्त विवाद का कारण ब्रह्माण्ड शब्द का शाब्दिक विश्लेषण

१—सो भिध्यायशरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ।
तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशु समप्रभम् ।
तस्मिन्जज्ञे स्वय ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः। मनुस्मृति, १, ८-९,

२—इन्दिरा रमण, मानव धर्मशास्त्र, पृष्ठ ४१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति प्रक्रिया में उपलब्ध विवरण है। ब्रह्माण्ड शब्द अपने विश्लेषण से ब्रह्मा का अण्ड प्रतीत होता है। और उसके वर्णन में यह प्राप्त होता है कि ब्रह्मा ने इस अण्ड को फोड़कर इसमें विविध लोकों की प्रतिष्ठा की है। साथ ही साथ यह भी वर्णन मिलता है कि भगवान अपनी योनिरूपा प्रकृति को क्षुब्ध कर 'अप्' की सृष्टि करते हैं। और अप् में अपना बीजाधान कर हिरण्यमय अण्ड का निर्माण करते हैं और इस अण्ड से विराट् पुरुष या सहस्त्रशीर्ष पुरुष या ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं।

इन दोनों निरूपणों की संगति स्थापित करने के लिए ब्रह्मा और ब्रह्मण्ड शब्द को दो अर्थों में लेना होगा। एक अर्थ में परतत्त्व से उत्पन्न प्रकृति और उससे बने हुए अण्ड ब्रह्माण्ड हैं जिससे सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा की उत्पत्ति होती है। और दूसरे अर्थ में इस ब्रह्मा द्वारा अपने शरीर को स्त्री और पुरुष दो रूपों में विभक्त कर अपने स्त्रीरूप में अपने पुरुष रुप से बीजरूप में प्रतिष्ठित होकर बनाए हुए अण्ड को ब्रह्माण्ड कहा जा सकता है। जिसको फोड़कर ब्रह्मा विविधि लोकों की सृष्टि उस अण्ड के अन्तर्गत करते हैं।

प्रथम अर्थ में परमतत्त्व को ब्रह्म मानने के कारण उसका बनाया हुआ अण्ड ब्रह्माण्ड है जिससे ब्रह्मा विराट् आदि सृष्टि नायकों की उत्पत्ति होती है या यह कहा जा सकता है कि वह परतत्व अपने द्वारा निर्मित अण्ड से सृष्टि संचालक ब्रह्मा विराट् आदि के रूप में पुनः उत्पन्न होता है। दूसरे अर्थ में वह अण्ड लोक स्त्रष्टा भगवान ब्रह्मा से अधिकृत होने के कारण और समस्त लोकों का आधार होने के कारण ब्रह्माण्ड कहलाता हैं।

इस ब्रह्माण्ड में भूर्भुव आदि सप्त स्वर्ग और अतलादि सप्त पाताल हैं। हमारी सप्तद्वीपा पृथ्वी इन दोनों के मध्य में है। पृथ्वी के ऊपर की ओर स्वर्ग और नीचे की ओर नरक है। सप्त स्वर्ग के नाम- भूः, भुवः, स्वः जनः महः, तपः, सत्य है। सप्तद्विपो के नाम इस प्रकार हैं :- जम्बूद्वीप, प्लक्षद्वीप, शाल्मलीद्वीप, क्रौंचद्वीप, शाकद्वीप, कुशद्वीप तथा पुष्कर द्वीप [१]। सप्त-

१—जम्बूप्लक्षाह्वयौ द्वीपौ शालमलिश्चापरो महान्।
कुशः क्रौञ्चस्तथा शाकः पुष्करश्चेति सप्तमः॥ अग्नि पुराण, १०८, १
विष्णु पुराण, २, २, ५; गरुण पुराण, १, ५४, ४;

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाताल के अन्तर्गत-अतल. वितल, नितल, गभस्तिमान, महातल, सुतल तथा पाताल की गणना की जाती है[1]।

सप्तलोक

ब्रह्माण्ड का विस्तार पूर्वक निरूपण पुराणों में मिलता है। जिसमें भूमण्डल के सप्तद्वीपों का क्षेत्रफल, उनके निवासियों का स्वरूप, उसमें होने वाले कार्यों का विवरण तथा इन द्वीपों के नदी, पहाड़, वन, आदि का निरूपण विस्तार के साथ किया गया है। उसी प्रकार भू-मण्डल के अतिरिक्त भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः तथा सत्य नामक लोकों का वर्णन तथा उनके निवासियों उनमें होनेवाले कार्यो का विवरण भी पुराणों में उपलब्ध होता है। जैसे भुवः मण्डल में सूर्यमण्डल, चन्द्रमण्डल तथा नक्षत्र मण्डल का वर्णन किया गया है[2]। इसे अन्तरिक्ष भी कहा जाता है। इस लोक का अधिपति देवता वायु को माना जाता है। इसमें रहनेवाले देवता गन्धर्व, अप्सरा, भूत, पिशाच, मरुत, मातरिश्वा आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त इसमें आदित्य, रिभुः, विश्वेदेवा, साध्य, पितर, ऋषि तथा अंगिरस आदि का भी निवास माना जाता है। स्वः लोक सूर्य से ऊपर ध्रुव तक विस्तृत है जिसमें बुध, शुक्र, मंगल, बृहस्पति, शनि, सप्तर्षि-मण्डल ज्योतिष-चक्र आदि का अस्तित्व माना गया है[3]। ध्रुव से ऊपर महर्लोक माना गया है जिसमें रहनेवाले भृगु आदि सिद्धगण हैं। महर्लोक के ऊपर जनःलोक है जिसमें ब्रह्माजी के प्रख्यात पुत्र सनकादि निवास करते हैं। जनः लोक से ऊपर तपः लोक है जहाँ वैराज नामक देवगणों का निवास है जिनका कभी दाह नहीं होता। तपः लोक से ऊपर सत्य लोक है जो ब्रह्म लोक भी कहलाता है जिसमें अमर गण निवास करते हैं[4]।

सप्त पाताल

पृथ्वी के नीचे सप्त पातालों का वर्णन भी पुराणों ने किया है। यह सप्त पाताल एक से दूसरे दस-दस हजार योजन की दूरी पर माने गये

१—विष्णु पुराण, २, ५, २,
२—विष्णु पुराण, २, ७, ४-५
३—विष्णु पुराण, २, ७, ७-१०
४—विष्णु पुराण, २, ७, ११-१५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। इन पतालों में सुन्दर महल एवं सुशोभित भूमियाँ हैं जो शुक्ल, कृष्ण. अरुण, पीत शर्करामयी तथा पत्थरमयी और सुवर्णमयी हैं। इनमें दानव, दैत्य. यक्ष्य, नाग आदि सैकड़ों जातियां निवास करती हैं। विष्णु-पुराण का कहना है कि पाताल स्वर्ग से भी अधिक सुन्दर है जहां नागगण के आभूषणों में सुन्दर प्रभायुक्त आह्लादकारिणी सुवर्णमयी मणियाँ लगी हुई हैं, वहां दैत्य और दानव की कन्याएं अत्यन्त सुन्दरी एवं लावण्यवती हैं। जहां पर दिन में सूर्य की किरणें केवल प्रकाश करती हैं, धूप नहीं करती, रात में चन्द्रमा की किरणें शीतल नहीं करती केवल चाँदनी फैलाती हैं जहाँ सुन्दर भोज्य और महापान आदि भोग उपलब्ध होते हैं जहां सुन्दर वन, नदियां, रमणीय सरोवर और कमलों का वन हैं जहां नर कोकिलों की सुमधुर आवाज गूंजती हैं और आकाश भी मनोहारी है। ये सब लोक भाग्यशालियों के भोगने योग्य अनेक भोगों से सम्पन्न हैं[१]।

विभिन्न नरक

उक्त सप्तलोक और सप्त पातालों के अतिरिक्त पुराणों में अनेक नरकों की चर्चा मिलती है जिनमें विभिन्न पाप करनेवाले लोग जाकर अनेक प्रकार की यातनाएं भोगते हैं। इन नरकों में रौरव, शूकर, रौध ताल, विशसन, महाज्वाल, तप्तकुम्भ, लवण, विलोहित, रुधिराम्भ, वैतरणि, कृमीश, कृमिभोजन, असिपत्रवन, कृष्ण, लालाभक्ष, दारुण, पूयवह, पाप, वह्निज्वाल अधःशिरा, सन्दश, कालसूत्र, तमस्, आवीचि श्वभोजन, अप्रतिष्ठ और अप्रचि आदि की गणना की गई है और यह भी बतलाया गया है कि इनके अतिरिक्त और भी अनेक महाभयंकर नरक हैं जो यमराज के शासन के अधीन हैं तथा अत्यन्त दारुण भय देने वाले हैं जिनमें पापरत पुरुष गिरते हैं[२]।

उक्त वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि ब्रह्माण्ड एक व्यापक समष्टि है। इसमें पृथ्वी का सम्पूर्ण भू-भाग और जल भाग तो है ही, साथ-साथ पृथ्वी सहित ऊपर के सात लोक और नीचे के सप्त पाताल और नरक आदि भी सम्मिलित हैं।

सृष्टि प्रक्रिया

धर्मशास्त्रों में वर्णित सृष्टि प्रक्रिया वैदिक सृष्टि प्रक्रिया के

१—विष्णु पुराण, २, ५, २-१२
२—विष्णु पुराण, २, ६, १-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समान है। ऋग्वेद काल से ही सृष्टि से सम्बन्धित प्रश्नों का अनेक प्रकार से उत्तर देने का प्रयत्न होता रहा है। ऋग्वेद के नासदीयसूक्त में सृष्टि प्रक्रिया के वर्णन में यह कहा गया है कि सृष्टि के आरम्भ में न सत् था, न असत् था, न अन्तरिक्ष था न व्योम। उस समय न जल था न प्रकाश न मृत्यु का भय था और न कुछ अमृत था। उस समय केवल वह एक था उससे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था। वहाँ केवल एक अन्धकार था जो अन्धकार से ही आच्छन्न था। यह सृष्टि कैसे हुई यह कोई नहीं जानता है। यदि जानता होगा तो वह अकेला ही जानता होगा किन्तु यह भी कहना संभव नहीं है कि वह जानता है या नहीं[1]।

इसी प्रकार ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में यह वर्णन मिलता है कि एक सहस्रशीर्ष, सहस्राक्ष, सहस्रपाद पुरुष मात्र ही था जो विभु और व्यापक था जिसके एक पाद में समस्त लोक है और जिसका तीन पाद स्वर्ग में है। उसी से विराट् और विराट् से अधिपुरुष की उत्पत्ति होती है। उस पुरुष ने ही अपने से ही समस्त सृष्टि की रचना की है। उसीसे देवता, पशु-पक्षी, मनुष्य, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि सभी की उत्पत्ति हुई है[2]। सृष्टि के वर्णन में उपनिषदों का कहना है कि सृष्टि के आदि में कुछ भी नहीं था केवल मृत्यु थी। बाद को मन, जल, तेज, पृथ्वी और अन्त में प्रजापति की सृष्टि हुई। इसके पश्चात् सुर और असुर उत्पन्न हुए[3]। उपनिषदों में अन्यत्र यह कहा गया है कि सबसे पहले पुरुष का और बाद में स्त्री का शरीर उत्पन्न हुआ और

१—नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न राज्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥
...............कुत अजाता कुत इयं विसृष्टिः।
....अङ्गवेद यदि वा न वेद॥ ऋग्वेद नासदीय सूक्त, १०, १२९

२—ऋग्वेद, पुरुषसूक्त, १०, ९०

३—बृहदारण्यक, १. ३. १, छान्दोग्य, २. १. १. ९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन दोनों से विश्व की सृष्टि हुई[१]। छान्दोग्य उपनिषद् में यह कहा गया है कि एक ही देव ने आकाश और पृथ्वी को जन्म दिया और उनसे विश्व की सृष्टि की[२]। तैत्तिरीय उपनिषद् में यह कहा गया है कि यह जगत् तथा समस्त प्राणी एक ही ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं उसी के आधार पर जीवित रहते हैं और उसी में लय होते हैं[3]।

वेद और उपनिषदों के उक्त वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि उनकी मान्यता में परम तत्त्व अद्वितीय, सर्वव्यापक, अव्यक्त और एक है जो सर्वशक्तिमान् है, जिससे समस्त सृष्टि होती है जो दुष्टों का दमन करता है तथा सज्जनों की रक्षा करता है[४]। इस शक्ति को विश्वकर्मा के रूप में भी निरूपित किया गया है[५]।

सृष्टि की चार कोटियां

मनुस्मृति में सृष्टि प्रक्रिया की चार कोटियों को इस प्रकार वर्णित किया गया है, सर्वप्रथम कोटि, अप्रतर्क्य, अविज्ञेय, अप्रज्ञात और अलक्षण तत्त्व है, इसके विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता यह सूक्ष्म अव्यक्त, सनातन, अचिन्त्य तत्त्व पुरुषसूक्त के सहस्त्रशीर्षा पुरुष के समकक्ष है[६]। दूसरी कोटि, वह गुणातीत तत्त्व स्वयं अपनी शक्ति से व्यक्त भाव में आने के लिए प्रकट होता है। 'स्वयमुद्बभौ' इस व्युत्पत्ति या शक्ति के कारण वह स्वयंभू कहलाता है[७]। वह स्वयंभू भी अव्यक्त पुरुष है किन्तु वह अपने भीतर महाभूतों से निर्मित समस्त भूतों के मूल कारण को निहित रखता है। तीसरी कोटि में, यह स्वयंभू तत्त्व अपने ध्यान की शक्ति से सृष्टि की इच्छा करते हुए सर्वप्रथम 'आपः' तत्त्व का सृजन करता है[८]। स्वयंभू नर तत्त्व हैं। किसी भी वस्तु के संचालक प्राण को नर कहा जाता है। स्वयंभू इस सम्पूर्ण

१—बृहदारण्यक, १, ४, १, २—छान्दोग्य, १. ९. १,

३—तैतिरीयोपनिषद्, ३. १, ४—ऋग्वेद्, ९. २३; ३. ४६; गीता, ४.८

५—ऋग्वेद, १०. ८१. १,

६—आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ।। मनुस्मृति, १. ५,

७—सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ । मनुस्मृति, १. ७,

८—मनुस्मृति, १. ८,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्व का नर हैं उसी ने इसकी सृष्टि की और वही इसमें प्रविष्ट है। नर रूप उस स्वयंभू से जन्म लेने के कारण आपः या मातृत्व या प्रकृति को नारा कहा जाता है[1]। प्रायः सभी धर्म ग्रन्थों ने 'नारायण' शब्द की व्युत्पत्ति मनुस्मृति के 'आपोनारा' के अनुसार की है जिसका अर्थ है नारा अर्थात् 'जल में निवास करने वाला'। पुराण वर्णित रूपों में विष्णु का शेष-शय्या पर सोना, लक्ष्मी का उनका चरण दबाना. विष्णु के नाभि से कमल उत्पन्न होना और उस कमल पर चार मुख वाले एवं हाथ में वेद की पोथी लिए ब्रह्मा का उत्पन्न होना कहा गया है। इस प्रकार के वर्णन में मूर्तता अधिक है। इसलिए यही रूप अधिक प्रचलित और लोकप्रिय है। सृष्टि रचना की कथा महाभारत[2], श्रीमद्भागवत्[3] तथा पुराणों में भी मिलती हैं। इन कथाओं के वाह्य रूप में पर्याप्त भिन्नता है फिर भी इनसे संकेतित तात्त्विक दृष्टि में समानता स्पष्ट दिखती है। ऋग्वेद में जिसे भूत और भविष्य का अधिष्ठाता कहा है[4] वही यहाँ नर कहा गया है। उस पुरुष से विराज् का जन्म हुआ और यहाँ नर से 'आपःनारा' की उत्पत्ति हुई। इसीलिए विराज् और आपः को पर्याय कहा गया। विराज् या आपः सृष्टि की तीसरी कोटि है। इसे ही वैदिक भाषा मे परमेष्ठी कहा गया है। महान् या सर्वव्यापक या बृहत् का जो भाव है वही परमेष्ठी का अर्थ है। आपः संज्ञक मातृत्व ऋतात्मा है। ऋतशक्ति उस स्वरूप को कहते हैं जिसका अस्तित्व तो हो किन्तु जिसमें अभी किसी केन्द्र का निर्माण न हुआ हो, अर्थात् एक केन्द्र पर जिसकी अभिव्यक्ति न हुई हो। मातृत्व में प्रजनन् की शक्ति व्याप्त रहती है किन्तु किसी वस्तु के जन्म के लिए उसमें उसका बीज से गर्भित होना आश्यक है। जो तथ्य मानव की प्रक्रिया में है वही सृष्टि में भी लागू है। महत् आपः नारा या विराट् से पूर्व जो स्वयंभू तत्व था वही प्रकृति का बीजप्रद पिता था वही सृष्टि प्रक्रिया के लिए गर्भित करने वाला तत्व है। प्रारम्भ में वह एकाकी था, वही सृष्टि की कामना से अपने ही शरीर में से जिस मातृ-तत्व या नारी-

१—आपोनारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः। मनुस्मृति, १, १०,

२—महाभारत, आदि पर्व, अध्याय ६५

३—श्रीमद्भागवत्, द्वितीय स्कन्ध, अध्याय ५ और ६,

४—पुरुष एवेदं सर्वयद्भूतं यच्चभाव्यं। ऋग्वेद, १०, ९०, २

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्त्व को उत्पन्न करता है वही आपः या प्रकृति है। वह स्वयंभू अपने शरीर के अर्धभाग से नारी बनता है अतएव सृष्टि प्रक्रिया का वास्तविक प्रतीक अर्धनारीश्वर है [१] वह स्वयंभू आग्नेय तत्त्व है। महत् संज्ञक परमेष्ठी ऋत या सोम है। 'अग्निषोमात्मकं जगत्' यही विश्व का तथ्य है अग्नि पिता, सोम माता है। अग्नि नर, सोम नारी हैं। अग्नि वृषा, सोमयोषा है। अग्नि रुद्र या शिव, सोम शक्ति है। मनुस्मृति की सृष्टि प्रक्रिया में जो चौथी कोटि उसे अण्ड या हिरण्यमय अण्ड से उत्पन्न सर्वलोक पितामह ब्रह्मा कहा गया है [२]। यह सुवर्ण अण्डा उसी आपः तत्त्व की निर्मित अवस्था की संज्ञा है। व्यक्तभाव का नाम हिरण्य है।

सृष्टि विषयक जिस तत्त्व ज्ञान का प्रकाश वीजरूप से सर्व प्रथम वेदों में हुआ इसके पश्चात् सांख्याचार्यों ने विशेष रूप से क्रमबद्ध निरुपण किया है। प्रकृति स्वातंत्र वाले विचारांश से कुछ ऊपर उठकर वेदान्तियों तथा पौराणिकों के मत से सृष्टि का प्रायः सर्वमान्य क्रम यही निश्चित किया गया है कि सबसे पहले 'परमब्रह्म' परमात्मा के अभिध्यान या संकल्प से त्रिगुणात्मिका' असत्' संज्ञक मूल प्रकृति या महामाया से क्षोभ हुआ उससे महत्तत्त्व की महत्तत्त्व से अहंकार की, अहंकार से मनः दशइन्द्रिय और पञ्च तन्मात्राओं को एवं पञ्चतन्मात्राओं से क्रमशः पञ्च महाभूतों की उत्पत्ति हुई। मनु के विचार से यह प्रतीत होता है कि ब्रह्मा ने अपने प्रधान रूप शरीर से सर्व प्रथम मनः को, मनः से अहंकार को अहंकार से महत्तत्त्व को निकाला। मनु का यह सृष्टिक्रम अन्यत्र मान्य सृष्टिक्रम के सर्वथा विपरीत है। इस व्यतिक्रम से बचने के लिए टीकाकारों ने इसको प्रतिलोम में उलट दिया है अर्थात् 'मनसः चाऽपि अहंकारम्' इत्यादि मनु वाक्य का अर्थ यह किया कि मनः से पहले अहंकार को तथा अहंकार से पहले महत्तत्त्व को ब्रह्मा ने स्वशरीरात्मक 'प्रधान' तत्त्व से उद्धृत किया या निकाला।

सृष्टि और त्रिदेव

सृष्टि का मूल कारण ब्रह्म है। पुराणों में विष्णु, नारायण, शिव

१—द्विधाकृत्वा ऽऽऽत्मनो देहमर्धेन पुरुषो ऽभवत्।
अर्धेन नारी तस्यां च विराजमसृजत्प्रभुः॥ मनुस्मृति, १. ३२,

२—तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिन्यज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः॥ मनुस्मृति, १. ९,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदि को सृष्टि के पालक एवं संहारक के रूप में माना गया है। सृष्टि के त्रिविध प्रयोजन सृष्टि स्थिति संहार के संचालक क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव एक ही देव के तीन रूप हैं[1]। पुराणों के अनुसार ये तीन देवता प्रकृति के रज, सत्त्व तथा तमोगुण के प्रगाढ़ रूप से सम्बद्ध हैं। रजोमूर्ति ब्रह्मा रजोगुण का आश्रय लेकर विश्व की सृष्टि करते हैं। सत्त्वपति विष्णु सत्त्व गुण के आश्रय से जगत्पालन में प्रवृत्त होते हैं और तमोरूप शिव तमोगुण के आश्रय से विश्व के संहार में प्रवृत्त होते हैं[2]। ये तीनों देवता अन्योन्यमिथुन हैं और एक दूसरे पर आधारित हैं। किसी एक के बिना शेष दो की कल्पना भी नहीं की जा सकती। कहने का तात्पर्य यह है कि ये तीनों अभिन्न रूप से सम्बद्ध हैं। यह भी कहा गया है कि इस ब्रह्माण्ड में इन तीन देवताओं के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। ये तीन देवता ही तीन गुण, तीन लोक, तीन वेद और तीन अग्नियां हैं। पुराणों का यह मत त्रिदेवतावाद कहलाता है।

इन तीन देवताओं के अतिरिक्त दो और देवताओं की कल्पना भी की गई है वे हैं, कार्तिकेय और गणेश। ये पञ्चदेवतावाद के नाम से भी पुकारे गये। ये पाँच देवता पुराणों में स्वीकृत सृष्टिक्रम के अधिष्ठाता देवता हैं। विष्णु मूलप्रकृति के, ब्रह्मा महत्तत्व के शिव अहंकार तत्त्व के तथा कार्तिकेय एवं गणेश क्रमशः इन्द्रिय एवं भूतसर्ग के अधिष्ठाता देवता हैं। इतना ही नहीं इन देवताओं की मूर्तकल्पना भी इसी तात्त्विक आधार पर की गई है। उनके चतुर्भुज, अष्टभुज, चतुर्मुख, पंचानन, दशबाहु, षडानन, द्वादशमुख आदि संख्यात्मक रूपों का आकलन सांख्यदर्शन के द्वारा विनिश्चित सृष्टि तत्त्वों की संख्याओं के आधार पर किया गया है।

विष्णु की चार भुजाएँ चार प्रकृतियों (प्रकृति, महत्, अहंकार एवं तन्मात्र), तथा आठ भुजाएँ अष्ट प्रकृतियों (प्रकृति, महत्, अहंकार तथा पञ्चतन्मात्र) का प्रतीक है। महत्तत्त्व के प्रतीक ब्रह्मा के चार मुख

१—सृष्टि स्थित्यन्तकरणीं ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम्।
स संज्ञा याति भगवानेक एव जनार्दनः॥ विष्णु पुराण, १. २. ६६,

२—मारकण्डेय पुराण, ४६. २१-२२, विष्णु पुराण, १. २. ६०, ६२, ६३
विष्णुस्सत्वं रजोहञ्चं तमो रुद्र उदाहृताः।
लोकाचारत इत्येवं नामतो वस्तुतोन्यथा॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महत्तत्व के धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्यात्मक चार भावों के प्रतीक हैं। इसी प्रकार अहंकार तत्त्व के अधिष्ठाता शिव के पांच मुख अहंकारात्मक पाँच महाभूतों के तथा दस भुजाएँ अहंकारात्मक दस इन्द्रियों के प्रतीक हैं। कार्तिकेय का षडाननत्व पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा मन के विषय के द्योतक हैं। गणेश का पंचाननत्व भी पञ्चभूतों की संख्याओं से नियमित होता है।

सृष्टि प्रक्रिया तथा उसके तत्त्वों की उक्त व्याख्या सांख्य की सृष्टि प्रक्रिया तथा उसके तत्त्वों के अधिक निकट है। सांख्य दर्शन में 'नित्य शुद्ध बुद्ध स्वभाव बहुश्च' पुरुष और मूलप्रकृति प्रसवधर्मी त्रिगुणात्मिका प्रकृति के सान्निध्य से जगत् की उत्पत्ति स्वीकार की गई है। इन्हें वेदान्त में ब्रह्म और माया कहा गया है तथा सांख्य दर्शन में पुरुष और प्रकृति। सांख्य शास्त्र के अनुसार सृष्टि के उत्पादक तत्त्वों को तीन वर्ग में रखा गया है, पहला अव्यक्त (मूल प्रकृति) दूसरा व्यक्त (प्रकृति के विकार) और तीसरा पुरुष अर्थात् 'ज्ञ'। व्यक्त के अन्तर्गत इक्कीस तत्त्व (महत्, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा, पञ्चभूत, पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चज्ञानेन्द्रिय तथा मन) आते हैं। परन्तु इनमें से प्रलयकाल के समय व्यक्त, पदार्थों का स्वरूप नष्ट हो जाता है। इसलिए अब मूल में केवल प्रकृति और पुरुष दो ही तत्त्व रह जाते हैं। ये दोनों मूल तत्त्व सांख्यवादियों के मतानुसार अनादि और स्वयंभू हैं इसलिए सांख्य को द्वैतवादी भी कहते हैं। जब ये ही दो तत्त्व रह गये तो लोगों ने सिद्ध कर दिया कि अकेला पुरुष कुछ भी नहीं कर सकता, जब प्रकृति के साथ उसका संयोग होता है तब सृष्टि की उत्पत्ति होती है। किन्तु धर्मशास्त्रों की प्रकृति की अवधारणा गीता की प्रकृति की अवधारणा के समान है। भगवद्गीता के अनुसार प्रकृति अपने खेल करने या सृष्टि का कार्य चलाने के लिए स्वतंत्र नहीं है। उसे यह कार्य ईश्वर की इच्छा के अनुसार करना पड़ता है[1]।

सृष्टि का विस्तार

मनुस्मृति की सृष्टि प्रक्रिया को यदि संक्षेप में रखा जाय तो यह कहा जा सकता है कि वहाँ सृष्टि के पूर्व की स्थिति में नासदीय सूक्त

१—तिलक, गीता रहस्य, पृष्ठ १७७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का अनुसरण किया गया है। सृष्टि के प्रारम्भ में दार्शनिकता की अपेक्षा पौराणिकता का अधिक आश्रय प्रतीत होता है। जैसे प्रलय की स्थिति के बाद स्वयंभू अव्यक्त, अपरिमित, भगवान् का आविर्भाव होता है जो आकाशादि महाभूतों को प्रकट करते हैं[१]। परमात्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में मनु का कहना है कि परमात्मा अतीन्द्रिय, सूक्ष्म स्वरूप अव्यक्त, नित्य, अचिन्त्य, और सब प्राणियों के आत्मा है। उनके अविर्भाव का कोई कारण नहीं होता वे स्वयं आविर्भूत होते हैं[२]। ईश्वर से सृष्टि प्रक्रिया की चर्चा में मनु ईश्वर को इच्छा को विशेष महत्व देते हैं। वह ईश्वर सृष्टि की रचना की इच्छा करता है और अपने शरीर से सृष्टि की रचना करता है। इस सृष्टि रचना के प्रारम्भ में वह अपने शरीर से 'अप्' की सृष्टि करता है और उसमें शक्तिरूपी बीज का वपन करता है। काल-क्रम में वह बीज सहस्त्र सूर्य के समान प्रकाश-वाला, सुवर्ण के समान शुद्ध अण्डा हो जाता है जिसमें सम्पूर्ण लोकों की सृष्टि करनेवाले ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं। आप् नर से उत्पन्न होने के कारण नारा कहलाता है और वह परमात्मा का प्रथम निवास स्थान भी है। इस कारण परमात्मा को नारायण कहा जाता है। नारायण से अण्ड और अण्ड के भीतर विभिन्न लोक और सप्तद्वीप वाली पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। उस परम परमात्मा से जो सब का कारण है, नित्य है, सत् एवं असत् स्वरूप है, उत्पन्न होने वाला पुरुष ब्रह्मा कहा जाता है। ब्रह्मा उस अण्डा में एक वर्ष निवास कर उसे दो टुकड़ों में विभक्त कर देते हैं। उस अण्डे के दो टुकड़ों के अन्तर्गत स्वर्ग तथा पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। इन दोनों के मध्य में आठ दिशाएं समुद्र आदि की सृष्टि हुई। ब्रह्मा ने परमात्मा से सत् असत् स्वरूप मन की सृष्टि की और अभिमान से युक्त अपने कार्य में समर्थ अहंकार की सृष्टि की। इसी प्रकार महत्तत्त्व की सृष्टि सम्पूर्ण सत् रज और तम से युक्त विषयों की सृष्टि और रूप रस, आदि विषयों को ग्रहण करनेवाले नेत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा गुदा आदि पाँच कर्मेन्द्रियों एवं शब्द आदि पाँच तन्मात्राओ की सृष्टि हुई। प्राणियों की सृष्टि छः विकारों जिसमें पांच तन्मात्राएं अहंकार सम्मिलित

१—मनुस्मृति, १. ६,

२—योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः ।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ ॥ मनुस्मृति, १. ७,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, से हुई है[१]। इसके बाद सप्त प्रकृति (प्रकृति महत् और पाँच तन्मात्रा) से व्यक्त जगत् जो विनाशशील है, का उदय हुआ। इस उत्पत्ति प्रक्रिया में कर्म की प्रधानता रहती है अर्थात् प्रत्येक तत्त्व अपनी अपनी क्रिया की विशेषताओं के साथ ही उत्पन्न होते हैं। इनसे उत्पन्न होनेवाला महाभूत और महाभूतों से उत्पन्न होने वाले अनेक तत्व अपने पूर्व-पूर्व तत्वों के गुग का आश्रय बनते हैं तथा उनकी अपनी विशेषता भी होती है[२]। इन समस्त बस्तुओं का नाम, वेद नित्य है और सृष्टि पूर्व में भी विद्यमान रहते हैं[३]। इस भौतिक जगत् की उत्पत्ति के पश्चात् देव सृष्टि हुई जिसमें इन्द्र, साध्यगण, और यज्ञादि सम्मिलित हैं। देव सृष्टि के पश्चात् अग्नि, वायु और सूर्य से ऋग्वेद यजुर्वेद और सामवेद को ब्रह्मा ने प्रकट किया। फिर समय, समय का विभाग, नक्षत्र, ग्रह, नदी, समुद्र, पर्वत आदि जो विभिन्न रूपों में हैं ब्रह्मा द्वारा प्रकट किये गये। ब्रह्मा ने मनोभावों जैसे तप, वाणी, रति, इच्छा, क्रोध आदि की भी सृष्टि की। कर्मो के विवेचना के लिए धर्म और अधर्म को स्पष्ट किया और प्रजाओं को सुख दुःख आदि द्वन्द्वों से संयुक्त किया। द्वन्द्वात्मक सृष्टि में हिसा, अहिसा, मृदु, कठोर, सत्य, असत्य आदि उत्पन्न हुए। इन द्वन्द्वों के ग्रहण में यह व्यवस्था है कि जिसके स्वभाव में अदृष्ट के अनुसार जो शक्ति होती है उसी के अनुरूप वह इन द्वन्द्वों में से किसी एक को विशेष रूप से ग्रहग करता है।

लोक की वृद्धि के लिए ब्रह्मा ने अपने मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय उरू से वैश्य और पैर से शूद्र की सृष्टि की। ब्रह्मा ने अपने देह को

१—सोऽभिध्यायशरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्॥
तदण्डमभवद्धैमं सहस्त्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिन्यज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः॥
यन्मूर्त्यवयवाः सूक्ष्मास्तस्येमान्याश्रयन्तिषट्।
तस्माच्छरीरमित्याहुस्तस्य मूर्ति मनीषिणः॥ मनु०, १. ८.९ १७

२—आद्याद्यस्य गुणंत्वेषामवाप्नोति परः परः।
यो यो यावतिथन्चैषां स स तावद्गुणः स्मृतः॥ मनुस्मृति, १. २०,

३—सर्वेषां तु नामानि कर्मांणि च पृथक्पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥ मनुस्मृति, १. २१,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो भागों में विभक्त कर आधे को पुरुष और आधे को स्त्री रूप में प्रकट किया जिसमें विराट् नामक पुरुष की सृष्टि हुई। उस विराट् पुरुष ने तपस्या करके मनु को उत्पन्न किया[1]। इसके बाद मनु ने तप से दस प्रजापतियों को सृष्टि की। वे दस प्रजापति हैं मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलः, क्रतु, प्रचेता, वशिष्ठ, भृगु, और नारद। इन प्रजापतियों से सात अन्य मनुओं की + ब्रह्मा से उत्पन्न होनेवाले देवों से अतिरिक्त देवों की, उनके निवास स्थान की तथा तेजस्वी महर्षियों की सृष्टि की। इन्हीं प्रजापतियों से यक्ष, राक्षस, पिशाच, अप्सराएं, स्वर्ग, गरुण, पितृगण आदि उत्पन्न हुए हैं। दूसरी ओर बिजली, वज्र, बादल रोहित, इन्द्रधनुष, उल्का, निघति और अनेक प्रकार के छोटी-बड़ी ताराओं ध्रुव एवं अगस्त्य आदि की उत्पत्ति भी उन्हीं प्रजापतियों से हुई है।

अन्य प्राणियों की सृष्टि

धर्मशास्त्रों में तात्त्विक सृष्टि प्रजापतियों की सृष्टि तथा सामान्य सृष्टि के उपरान्त अन्य प्राणियों की सृष्टि का भी विस्तार पूर्वक वर्णन प्राप्त होता है। मनु के अनुसार ब्रह्मा ने प्रजापतियों के बाद अन्य प्राणियों की सृष्टि की। जिनमें किन्नर, वानर, मत्स्य, पक्षी, पशु, वन्य पशु, कीड़-मकोड़े, पतंगे, मक्खी, मच्छर, ऊपर नीचे दांत वाले प्राणी, राक्षस एवं

---

१ --लोकानां तु विवृद्धयर्थं मुख बाहूरूपादतः।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत्॥
द्विधा कृत्वाऽऽऽत्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्धेन नारी तस्यां च विराजमसृजत्प्रभुः॥
तपस्तप्त्वाऽसृजद्यं तु स स्वयं पुरुषो विराट्।
तं मां वित्तास्य सर्वस्व स्त्रष्टार द्विजसत्तमाः॥ मनुस्मृति १. ३१-३३,

+पुराणां में ये चौदह मनु माने गए है।
चौदह मनुजों के नाम :- स्वाम्भु, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत और चाक्षुष ये छः मनु पूर्वकाल में हो चुके है। इस समय सूर्य पुत्र वैवस्वत मनु है जिनका यह सातवां मनन्वतर वर्तमान है। विष्णु पुराण, ३.१.६-७, आगामी सात मनुओं के नाम इस प्रकार है :- सार्वणि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्र-पुत्र-सावर्णि, रुचि और भौम। विष्णु पुराण, ३.२. १४-४०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्य आदि प्रमुख हैं। इन प्राणियों को समान्यतया चार वर्गों में रखा जाता है। पहला वर्ग ' जरायुज ' कहलाता है जो मां के गर्भ से उत्पन्न होनेवाले प्राणियों का वर्ग है, इस वर्ग में पशु, सिंह, मृग आदि हिंसक जीव, दोनो ओर दांत वाले प्राणी, राक्षस, पिचाश और मनुष्य आदि आते हैं। दूसरा वर्ग"अण्डज" कहलाता है इसमें वे प्राणी हैं जो अण्डा से उत्पन्न होते है, इस वर्ग में पक्षी, सर्प, मगर, मछली, कछुआ तथा इन्हीं के सामान अन्य जलचर तथा स्थलचर प्राणी आते है। तीसरा वर्ग "स्वेदज नाम से पुकारा जाता है। इस वर्ग में दंश, मच्छर, जूं, मक्खी, खटमल और इसी प्रकार के अन्य जीवों को रखा गया है। चतुर्थ वर्ग " उद्भिज" नाम से जाना जाता है। इस वर्ग में उत्पन्न प्राणी स्थावर भी कहे जाते है। इनकी उत्पत्ति, बीज और डन्ठल दोनों से होती है। इनको सामान्यतया दो वर्गो में रखा जाता है, औषधि और वनस्पति। औषधि वे स्थावर प्राणी हैं, जिनका पौधा फल पकने के बाद नष्ट हो जाता है तथा जिनमें बहुत फल-फूल लगते है। बनस्पति वे उद्भिज प्राणी है, जिनमें फल तो लगते है लेकिन फूल नहीं लगते। इन दो वर्गों के अतिरिक्त स्थावर के और भी भेद है जैसे वृक्ष, गुल्म गुच्छ, तृण, प्रतान और वल्ली। इनमें बृक्ष वे है जो फूल लगने के बाद फल देते हैं। गुल्म, गुच्छ, आदि अन्य स्थावर अपने स्वरूप में भिन्न है किन्तु वे सभी बीज तथा डाल दोनों से उत्पन्न होते है१ ।

चेतन सृष्टि का उद्देश्य

मनुस्मृति में चेतन सृष्टि के प्रयोजन के सम्बन्ध में कहा गया है कि सृष्टि की उत्पत्ति का प्रधान कारण जीवों के कर्म और परमेश्वर का न्याय ही है। जीव अनादि काल से कर्म करते चला आ रहा है और परमात्मा भी अनादि काल से उसको कर्मफल देता चला आ रहा है। इसीलिए प्रत्येक प्रलय के बाद नवीन सृष्टि होती है। नवीन सृष्टि में जब सूर्यचन्द्र और पृथ्वी की रचना हो जाती है और ये जीवन के लिए अनुकूल परिस्थिति तैयार कर देते हैं तब परमात्मा जीवों के कर्मो के अनुसार उनको नाना प्रकार की योनियों में उत्पन्न करता है। सृष्टि के आदि में विधाता ने जिस प्राणी को उसके स्वभाविक कर्म के आधार पर जिस योनि में जन्म दिया उसमें उत्पन्न होकर वह उसी स्वाभाविक कर्म में ही

१—मनुस्मृति १, ३९-४८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रवृत्त हुआ और उसकी यह प्रवृत्ति आगे बढ़ती गयी[१]। विधाता ने जिसको जिस योनि के योग्य समझा उसको उसी योनि में उत्पन्न किया और उत्पन्न होने के बाद वह प्राणी अपनी योनि के स्वाभाविक कर्मों में प्रवृत्त होता गया।

सृष्टि प्रक्रिया में मानव (याज्ञवल्क्य के अनुसार)

सृष्टि प्रक्रिया में मानव का वास्तविक स्वरूप क्या है ? यह प्रश्न धर्मशास्त्रों के लिए एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न रहा है। इस प्रश्न के उत्तर में मानव को आत्मा या जीवात्मा के रूप में देखा गया है, उसे नित्य माना गया है तथा परमात्मा के साथ अभेद स्थापित करने का प्रयास किया गया है।

इस सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य ने बहुत व्यापक रूप से अपना विचार प्रस्तुत किया है, उनका कहना है कि आत्मा सम्पूर्ण जगत प्रपंच का निमित्त कारण है वह अविनाशी है, विश्व का कर्त्ता है, सबको जाननेवाला सर्वज्ञ है, व्यापक होने के कारण ब्रह्म है, समस्त गुणों का आधार है, स्वतन्त्र और अजन्मा है[२]। यह परमात्मा सृष्टि के प्रारम्भ में आकाश, वायु, तेज, जल, और पृथ्वी जो उत्तरोत्तर एक-एक अधिक गुण वाले होते जाते हैं, की रचना करता है[३]। अर्थात आकाश, केवल शब्द गुण वाला होता है वायु शब्द और स्पर्श दो गुण वाला होता है, तेज-शब्द, स्पर्श, और रूप तीन गुण वाला होता है, जल शब्द, स्पर्श, रूप और रस चार गुण वाला होता है, तथा पृथ्वी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पांच गुण वाली होती है। जो परमात्मा भूत जगत् या भौतिक जगत् की सृष्टि करता है वही परमात्मा अपने भीतर से अपने को ही अनेक रूपों में जीवात्मा के रूपों में प्रकट करता हैं। जिस प्रकार तपाए हुए लोहे के पिंड से असंख्य चिनगारियां निकलती है जो अग्नि की स्फुलिंग कहलाती हैं। वे सभी चिनगारियां मूल अग्नि के पूर्ण अनुरूप होती हैं। उसी प्रकार परमात्मा से अनन्त जीवात्मा निकलते हैं जो पूर्ण रूप

१—यं तु कर्माणियस्मिन्सन्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः ।
स तदेव स्वयं भेजेसृज्यमानः पुनः पुनः ॥ मनु० १,२८

२—याज्ञवल्क्य स्मृति, प्रायश्चिताध्याय ६९(अ)

३—याज्ञवल्क्य स्मृति प्रायश्चिताध्याय ७०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से परमात्मा के समान होते हैं[१]।

आत्मा और परमात्मा दोनों में मौलिक अभेद होते हुए भी व्यवहारिक भेद की मान्यता स्मृति के उक्त निरूपण से स्पष्ट होती है। व परमात्मा अजन्मा होने पर भी कर्मवश व्यवहार सम्पादन के लिए शरीर ग्रहण करता है और शरीर ग्रहण करने के कारण वह जन्म लेनेवाला या उत्पन्न जीव कहलाता है। उत्पन्न होने पर वह धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप का कर्त्ता बनता है। अपने इस कर्त्तृत्त्व में तीन प्रकार के तत्त्वों से प्रभावित होता है, पहला है उसकी स्वतंत्रता, दूसरा उसका स्वभाव और तीसरा है उसका अभ्यास। इन्हीं तीनों से प्रेरित होकर वह शुभ-अशुभ कर्मों में प्रवृत्त होता है।

मानव की उत्पत्ति प्रक्रिया की चर्चा करते हुए याज्ञवल्क्य का कहना है कि यज्ञ की आहुतियों से सूर्य सन्तुष्ट होता है और सूर्य के सन्तुष्ट होने से वृष्टि होती है, वृष्टि होने से अनेक प्रकार की औषधियाँ तथा उन औषधियों से अन्नादि उत्पन्न होते हैं। इस अन्न के खाने से शरीर में रस आदि बनते हैं जिनका अन्तिम परिणाम शुक्र, वीर्य और शोणित के रूप में होता है[२]। स्त्री और पुरुष के संयोग से वीर्य और रज का सम्मिश्रण होता है जिससे सम्बद्ध होकर चेतन आत्मा पांच तत्त्वों को आकृष्ट कर इन्द्रियां, मन प्राणादिवायु, ज्ञान, आयु, सुख, धैर्य, धारणा (प्रज्ञा, मेधा), प्रेरणा, (ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का अधिष्ठातृत्व) दुःख, इच्छा, अहंकार, प्रयत्न, आकार, वर्ण, स्वर, द्वेष, भव (सम्पन्नता), अभव (निर्धनता) के साथ शरीर धारण की इच्छा से उत्पन्न होता है[३]।

माता के गर्भ में प्रविष्ट होने के समय से उत्पन्न होने तक जीवात्मा के शरीर की विविध अवस्थाओं का वर्णन भी याज्ञवल्क्य ने संक्षेप में किया है। उनका कहना है कि पहले महीने में रज, वीर्य से संयुक्त पञ्चभूत के साथ चेतन द्रव के रूप में रहता है। दूसरे मास में अर्बुद (कुछ कठिन मांस पिण्ड) का रूप ग्रहण करता है। और तीसरे माह में अंगों एवं इन्द्रियों से युक्त हो जाता है। इसके पश्चात् वह आत्मा पञ्चभूतों से

१—याज्ञवल्क्य स्मृति, प्रायश्चित्ताध्याय, ६७
२—याज्ञवल्क्य स्मृति, प्रायश्चिताध्याय, ७१
३—याज्ञवल्क्य स्मृति, प्रायश्चिताध्याय, ७२-७४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विभिन्न शक्तियाँ ग्रहण करता है। वह आकाश से लाघव, सूक्ष्मता, शब्द, श्रवणेन्द्रिय और कल आदि ग्रहण करता है। वायु से स्पर्शेन्द्रिय, चेष्टा, अंगो का फैलाना, कर्कशता आदि ग्रहण करता है। तेज से दृष्टि, पाचनशक्ति, उष्णता, रूप और प्रकाशित करने की क्षमता ग्रहण करता है। जल से रसनेन्द्रिय, अगों की शीतलता, स्निग्धता, गीलापन और कोमलता आदि ग्रहण करता है तथा पृथ्वी से गन्ध, घ्राणेन्द्रिय, गुरुता और आकार आदि ग्रहण करता है[1]।

चौथे महीने में अंगों में स्थिरता आती है, पाँचवे महीने में रुधिर की उत्पत्ति होती है और छठें महीने में बल, रंग, नाखून एवं रोम आदि आ जाते है। सातवें महीने में मन, चैतन्य, वायुवाहिनी एवं अस्थि बाँधने वाली नाड़ियों से तथा स्नायुयों एवं वात पित्त, श्लेष्म आदि तथा शिराओं से युक्त होता है। आठवें महीने में त्वचा, माँस एवं स्मरण शक्ति से युक्त हो जाता है। नवें या दसवें महीने में प्रसव को प्रेरित करनेवाली प्रबल वायु से वह गर्भ के वाहर कर दिया जाता है[2]।

इस शरीरधारी जीवात्मा के रक्त, मांस, मैदस, अस्थि, मज्जा और शुक्र, इन छः कोषों की अग्नि से युक्त छः प्रकार के शरीर होते है जो छः त्वचाओं, छः अंगों तथा तीन सौ साठ अस्थियों+को धारण करते हैं।

याज्ञवल्क्य ने यहां यह प्रश्न उठाया है कि आत्मा परमात्मा का ही स्वरूप है तो वह किस प्रकार दुर्भावनाओं से युक्त होकर पाप योनियों में जन्म लेता है? साथ ही साथ यदि आत्मा विभु और व्यापक है मन आदि ज्ञान प्राप्ति के साधनों से युक्त है तो उसे अपने पिछले जन्म के अनुभव का ज्ञान क्यों नहीं होता? यदि वह समस्त शरीरों में विद्यमान है तो वह अन्य सभी प्राणियों की वेदनाओं को क्यों नहीं जान पाता[3]? इन प्रश्नों के उत्तर के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य का कहना है कि जीव अपने

१-- याज्ञ० प्रायश्चिताध्याय, ७५-७८

२—वही, ८०, ८१, ८३

+याज्ञवल्क्य ने इन समस्त अस्थियों का विवरण तथा इनके साथ अनेक अंग और उपांगों का विस्तार से वर्णन प्रस्तुत किया है। (प्राय० ८५-१०९)

३--याज्ञ०, प्रायश्चिताध्याय, १२९-१३०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वरूप में सत्य ज्ञान आनन्द है, ईश्वर है किन्तु मन, वाणी और शरीर से युक्त होने के कारण इनके द्वारा वह जो कर्म करता है उन कर्मों के फलस्वरूप सैकड़ों योनियों में जन्म लेता रहता है[१]। तथा इन शरीर आदि से सीमित हो जाने के कारण वह अन्य प्राणियों के दु:ख-सुख का अनुभव नहीं कर पाता है।

सांख्य और पुराणों की सृष्टि प्रक्रिया

धर्मशास्त्रों में सृष्टि के विकास प्रक्रिया का व्यवस्थित और विस्तार पूर्वक वर्णन नहीं मिलता है किन्तु जो कुछ भी तथ्य इस सम्बन्ध में वहां उपलब्ध होते है उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि धर्मशास्त्रों का दृष्टिकोंग सृष्टि प्रक्रिया के सम्बन्ध में सांख्य दर्शन और पुराणों में वर्णित सृष्टि प्रक्रिया के समान है। सांख्य और पुराण इन दोनों में सृष्टि विकास की प्रक्रिया में क्रमिकता का निरूपण मिलता है अर्थात् पहले अचेतन सृष्टि की उत्पत्ति हुई तत्पश्चात् चेतन सृष्टि हुई, अचेतन सृष्टि में सांख्य प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार, अहंकार के सात्त्विक अंश से पांच कर्मेन्द्रिय (वाक्, पाद, पाणि, पायु, और उपस्थ), पांच ज्ञानेन्द्रिय (श्रोत्र, त्वग्, चक्षु, रसना तथा प्राग) और मन की उत्पत्ति मानता है और पंच तन्मात्राओं (शब्द तन्मात्रा, स्पर्श तन्मात्रा, रूप तन्मात्रा, रस तन्मात्रा और गंधतन्मात्रा) की उत्पत्ति तामसिक अहंकार से होती है। राजसिक अहंकार उक्त दोनों उत्पत्ति प्रक्रियाओं में सहायक होता है इसके आगे पंच तन्मात्राओं से पंच भूतों की उत्पति होती है[२]।

इस अचेतन सृष्टि के बाद और सचेतन सृष्टि के पूर्व एक विशेष प्रकार की सृष्टि की चर्चा सांख्य औग पुराण दोनों में उपलब्ध होती है। सांख्य उसे प्रत्यय सर्ग कहता है और पुराणों में उसे अनुग्रह सर्ग कहा गया है। इस प्रत्यय या अनुग्रह सर्ग के मुख्य चार अंग है:- प्रथम पंचपर्वा अविद्या या विपर्यय सर्ग, जिसके अन्तर्गत तमस, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र की चर्चा की गई है। इस पंच पर्वा अविद्या के बाद प्रत्यय सर्ग में अशक्ति, सिद्धि और तुष्टिसर्ग का वर्णन प्राप्त होता है।

१—याज्ञ० प्रयश्चिताध्याय, १३१

२—प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥ सांख्यकारिका, २२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

२०
२२९:२
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसमें तम और मोह के आठ-आठ भेद बतलाए गए हैं[2] महामोह दस प्रकार का माना गया है। तामिस्र और अंधतामिस्र के अठारह भेद बतलाए गए हैं[1]। प्रत्ययसर्ग में दूसरा सर्ग अशक्ति के नाम से बतलाया गया है। अशक्ति का तात्पर्य है इन्द्रियां, मन और बुद्धि की असमर्थता। इनमें पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय और मन जब अपने-अपने विषय के ग्रहण में असमर्थ होते है तब अशक्ति की उत्पत्ति मानी जाती है जैसे अन्धापन, बहरापन इत्यादि। इन इन्द्रियजन्य अशक्तियों के अतिरिक्त बुद्धि की कुछ स्वतंत्र अशक्तियां भी है जो आठ प्रकार की सिद्धि और नौ प्रकार की तुष्टि के अभाव के कारण से उत्पन्न होती हैं[3]। तुष्टि के नौ भेद बतलाए गए है जिनमें चार का सम्बन्ध आत्मा से है जिनके नाम है- प्रकृति, उपादान, काल और भाग्य, और पांच वाह्य है जो पांच इन्द्रियों के विषयों के उपरम से प्राप्त होते है। प्रत्यय सर्ग में चतुर्थ सिद्धि है जिसके आठ भेद बतलाए गए है जिनके नाम है- उह, शब्द, अध्ययन और त्रिविध दुःखों का तीन प्रकार का विघात, सुहृद प्राप्ति और दान।

इस प्रत्यय सर्ग के बाद सांख्य ने सचेतन सृष्टि के वर्णन के संदर्भ में आठ प्रकार के देव सृष्टि की चर्चा की है जिसमें ब्राह्म, प्रजापत्य, इन्द्र, पैतृ, गान्धर्व, यक्ष, राक्षस और पैशाच आते है। पांच प्रकार की तिर्यक-योनि सृष्टि के अन्तर्गत पशु, वन्यपशु, पक्षी, सरीसृप और स्थावर का वर्णन किया गया है। इन सबके बाद मानव सृष्टि की चर्चा जो एक प्रकार की है, सांख्य में प्राप्त होती है[3]।

89697

पुराणों ने सृष्टि प्रक्रिया को मुख्य रूप से तीन वर्गों में विभक्त किया है जिसको प्राकृत सर्ग, वैकृत सर्ग और प्राकृत वैकृत सर्ग कहा है। प्राकृत सर्ग में विष्णु पुराण और पद्मपुराण ने महत् (बुद्धि) तन्मात्रा या भूतसर्ग और वैकारिक या इन्द्रिय सर्ग का वर्णन किया है। वैकृत सर्ग के अन्तर्गत

१—पञ्च विपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तिश्च कारणवैकल्यात् ।
अष्टाविंशतिभेदा तुष्टिर्नवधाष्टधा सिद्धिः ॥ वही, ४७-४८.

२—भेदस्तमसोऽष्टविधः, मोहस्य च दशविधः महामोहः ।
तामिस्रोऽष्टादशधा, तथा भवत्यन्धतामिस्रः ॥ वही, ४९,
आठ प्रकार की सिद्धिः—अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा
प्राप्तिः प्रकाम्यमीशित्वं वशित्वश्चाष्ट सिद्धयः ॥

३—सांख्यकारिका, भाष्य, ५१, ५३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निम्नलिखित सर्गों की चर्चा की गयी है जिससे मुख्य सर्ग में विविध प्रकार के स्थावर जन्तुओं का वर्णन है, तिर्यक, स्स्रोतस, या तैयंक योनि जिसके अन्तर्गत पशु और पक्षियों की योनि को रखा गया है। उर्ध्वस्रोतस जिसमें देव सृष्टि आती है। और अर्वाक् स्रोतस या मनुष्य सृष्टि तथा अनुग्रह सर्ग या मनोभावों की सृष्टि। प्राकृतिक-वैकृत सर्ग में कुमार सर्ग की चर्चा है। इसका विशद विवेचन नहीं मिलता केवल यह बतलाया गया है कि इसके अन्तर्गत वे ऋषि आते हैं जो केवल कुमार हो रहते हैं जैसे सनत कुमार आदि[1]।

पुराणों ने मानव सृष्टि को समस्त सृष्टि में अधिक महत्त्व दिया है इनके अनुसार देव सृष्टि अत्यधिक सात्त्विक होने के कारण पुरुषार्थ साधक नहीं हो सकती और पशु और स्थावर सृष्टि अत्यधिक तामसिक होने के कारण पुरुषार्थ साधना के लिए अक्षम रहती है। मानव सृष्टि रजः प्रधान है इसलिए उसमें पुरुषार्थ साधकता है। पुराणों में तो यहां तक कहा गया है कि समस्त सृष्टि रचना करने के बाद भी अपनी सृष्टि से ब्रह्मा को सन्तोष नहीं हुआ क्योंकि उन्होंने देखा कि उनकी सृष्टि के समस्त प्राणी भोग से बंधे हैं, उनमें पुरुषार्थ साधकता नहीं आ सकती। इसलिए अन्त में उन्होंने मानव की सृष्टि की जिसको पुरुषार्थ का साधक बनाया और इस सृष्टि से उन्हें पर्याप्त सन्तोष हुआ[2]।

सांख्य और पुराणों की उक्त सृष्टि प्रक्रिया का वैज्ञानिक दृष्टि से बहुत अधिक महत्त्व भले न हो किन्तु उससे एक बात अत्यधिक महत्त्व की अवश्य निकलती है। पुराणों ने किसी न किसी प्रकार से इस बात को स्वीकार किया है कि समस्त सृष्टि में मानव सृष्टि की एक अपनी विशेषता है जिसके कारण उसे देव सृष्टि से भी किसी रूप में उच्च स्थान प्राप्त होता है। वह है उसकी पुरुषार्थ-साधकता। उक्त वर्णन से यह भी संकेत मिलता है कि सृष्टि के विकास में क्रमिकता पुराणों और धर्मशास्त्रों को मान्य रही है और उस क्रमिकता में मानव सबसे अन्त में आया है।

संक्षेप में हम इसको यह कह सकते हैं कि उक्त सृष्टि के वर्णन से इन दो तथ्यों की ओर संकेत मिलता है, प्रथम कि मानव समस्त सृष्टि में

१—विष्णु पुराण, १.५. १९-२५; पद्म पुराण, ५. ३. ६९-७४

२—विष्णु पुराण, १. ५. ६-२३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रधान है और दूसरा कि सृष्टि प्रक्रिया में क्रमिकता है।

कर्मयोनि और भोगयोनि

सृष्टि प्रक्रिया में पुराणों ने समस्त प्राणियों को चौरासी लाख योनियों में विभक्त किया है जो मोटे तौर पर उक्त दस विभागों में समाविष्ट हो जाते हैं। इन चौरासी लाख योनियों को कर्म की स्वतंत्रता की दृष्टि से दो भागों में बाँटा गया है जिसकी चर्चा ऊपर की गई है अर्थात् कर्म योनि और भोग योनि। भोग योनि का महत्त्व कर्म स्वातंत्र्य में नहीं है अपितु अपने कर्मो के अनुसार प्राप्त प्रवृत्तियों में होने वाले भोगों में है। उनको अपने किये हुए कर्म का फल अवश्य मिलता है किन्तु यह फल उनके इस जन्म के कर्म का नहीं होता है उनके विगत जन्मों के कर्म का होता है। इसलिए इन योनियों को पुरुषार्थ साधक योनि नहीं माना गया है। मानव को पुरुषार्थ साधक योनि कहकर सृष्टि में उसकी विशिष्टता स्वीकार की गई है। वह एक ओर अपने पूर्व जन्म के संस्कारों वश प्राप्त होनेवाले जन्म तथा भोग का भागी है, और दूसरी ओर अपने विवेक से संकल्प और निर्णय कर नये कर्म करने का पूर्ण अधिकारी और इसके लिए पूर्ण स्वतंत्र भी। उसके जीवन के लक्ष्य के रूप में चार पुरुषार्थ अर्थ धर्म, काम और मोक्ष हैं और वह उनका समर्थ साधक है। वह अपने जीवन में इन चारों पुरुषार्थो को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न कर सकता है। इनको प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है और इसके लिए वह पूर्ण स्वतंत्र भी है।

सृष्टि के आधारभूत दार्शनिक सिद्धान्त

धर्मशास्त्रों में उपलब्ध ब्रह्माण्ड का स्वरूप तथा सृष्टि के विविध अंगों के निरूपण में कुछ दार्शनिक सिद्धान्तों तथा दार्शनिक मान्यताओं का संकेत मिलता है जिनका विस्तार पूर्वक विवेचन करना संभव नहीं है अतः यहां उनका संक्षेप में निरूपण किया गया है।

समस्त सृष्टि व्यवस्था में व्यवस्थापक सिद्धान्त के रूप में कर्मवाद का सिद्धान्त और न्याय का सिद्धान्त पूर्ण रूप से स्वीकृत है। सृष्टि वर्णन में यह बार-बार दुहराया गया है कि सृष्टि प्राणियों को उनके पूर्व जन्म के अथवा पूर्व सृष्टि के कर्मों के फल देने के लिए ही होती है। ये कर्म शुभ एवम् अशुभ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोनों प्रकार के होते हैं। इसलिए ब्रह्माण्ड रचना में जहां एक ओर शुभ लोक है जिनमें पुण्यात्मा लोग अपने पुण्य कर्मों के शुभ फलों का भोग प्राप्त करते हैं तो दूसरी ओर नरक लोक है जिनमें पापात्मा अपने पाप कर्मों के लिए विविध प्रकार की यातनाओं को सहन करते हैं। इस कर्म के सिद्धान्त से जुड़ा हुआ सिद्धान्त न्याय का सिद्धान्त है। अर्थात् इस सृष्टि में किसी भी प्राणी के साथ चाहे वह सुखी है या दुःखी, न्याय का व्यवहार हुआ है। ईश्वर ने उसे वही दिया है जो उसके कर्म के अनुसार उसको प्राप्त होना चाहिए था, इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि यह सृष्टि व्यवस्था कर्म पर आधारित पूर्ण न्याय युक्त व्यवस्था है।

दूसरी ओर सृष्टि वर्णन से यह संकेत मिलता है कि जगत् कोई आकस्मिक घटना नहीं है बल्कि यह एक सोद्देश्य रचना है जो सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान् और न्यायप्रिय ईश्वर के द्वारा बनाया गया है। इसमें केवल बाह्य रूप की नवीनता है, इसका आदर्श ढाँचा सब पूर्व सृष्टि के अनुरूप है अर्थात् प्रत्येक सृष्टि अपने से पूर्व सृष्टि का पुनरावर्तन है और अपने भविष्य सृष्टि का ढाँचा या आदर्श।

सृष्टि वर्णन में एक प्रकार को क्रमिकता दृष्टिगोचर होती है। अर्थात् सृष्टि एक क्रम में विकसित होती है। जिसमें पहले भौतिक और मानसिक तत्त्व फिर सृष्टि नायक तत्पश्चात् विविध वर्ग के प्राणी और मानव उत्पन्न होते है।

जीव या आत्मा के सम्बन्ध में यह संकेत मिलता है कि आत्मा स्वरूपतः अज है, अविनाशी है, अमर है, सत्चित् आनन्द है, विभु-व्यापक है, फिर भी अपने पूर्व कर्मों के कारण शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि को ग्रहण कर जन्म लेता है। विविध योनियों में कर्म के आधार पर भटकता रहता है। अपने शुभ और अशुभ कार्यों का फल भोगता रहता है। इस संसार चक्र से छुटकारा पाने के लिए उसे मानव जीवन मिलता है जिसमें वह साधक बनता है और मोक्ष के लिये प्रयत्न कर मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

धर्मशास्त्रों का समाज-दर्शन ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करता है, ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा न्यायप्रिय मानता है। ईश्वर अपनी विविध शक्तियों के द्वारा विविध रूप ग्रहण कर सृष्टि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की रचना, उसका पालन तथा संहार एवं अन्य समस्त व्यवस्थाओं का सम्पादन करता है।

मानव समाज

धर्मशास्त्रों में मानव समाज की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कोई विशेष वर्णन नहीं मिलता है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में वर्णित चारों वर्णों की उत्पत्ति प्रक्रिया का अनुसरण धर्मशास्त्रों ने किया है। इस वर्णन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ऋग्वेद काल से लेकर धर्मशास्त्रकाल तक के भारतीय समाज-दर्शन के चिन्तकों को समाज के सम्बन्ध में सावयवी सिद्धान्त किसी न किसी प्रकार मान्य रहा है। अर्थात् उनकी यह मान्यता रही है कि समाज के सभी अंग एक पूर्ण इकाई के अवयव हैं और समाज तथा इन अंगों में अवयव और अवयवी का सम्बन्ध है, जैसे–शरीर और शरीर के अंगों में। साथ ही साथ यह भी उन्हें मान्य लगता है कि मानव समाज निरपेक्ष स्वतन्त्र और एकाकी नहीं है। वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का एक अंग है और इसके समान और भी अनेक अंग ब्रह्माण्ड में विद्यमान है। ब्रह्माण्ड के इन समस्त अङ्गों में परस्पर सहयोगिता, सहकारिता, सह-अस्तित्त्व, सापेक्षता और परस्पर आश्रयता का सम्बन्ध है।

धर्मशास्त्रों में राजा की उत्पत्ति प्रक्रिया के दैवी सिद्धान्त का जो वर्णन मिलता है उसको देखने से लगता है कि उस समय के चिन्तक इस बात को किसी न किसी प्रकार स्वीकार करते थे कि राजा की उत्पत्ति के पूर्व समाज की व्यवस्था सुदृढ़ नहीं थी 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' या जंगल का नियम ही समाज का प्रमुख नियम था। राजा की उत्पत्ति के बाद धीरे-धीरे सामाजिक संस्थाओं का संगठन सुदृढ़ हुआ और व्यवस्थित समाज की स्थिति आयी[१]।

भारतीय संस्कृत के चतुर्युग विधान अर्थात् सत्युग, त्रेता, द्वापर और कलियुग तथा इनके चक्रवत् परिवर्तन की मान्यता को देखने से लगता है कि भारतीय समाज-दर्शन के चिंतक यह स्वीकार करते हैं कि सामाजिक व्यवस्था पूर्ण नैतिकता से अर्ध और अल्प

१— मनु. ७. ३-४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नैतिकता की ओर होते हुए अनैतिकता की ओर जाती है और पुनः परिवर्तित होकर पूर्ण नैतिकता की ओर अग्रसर होती है[1]।

महाभारत के शांतिपर्व में वर्णित समाज की स्थिति को देखने से यह लगता है कि भारतीय चिन्तकों के मन में एक ऐसा आदर्श समाज था जिसमें न कोई राजा था, न कोई शासक, न नियम, न कानून, न दण्ड-व्यवस्था। केवल एक सारभौम मान्यता थी जिसे वे धर्म कहते थे, जिसके आधार पर प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने ही कर्तव्यों का पालन करता था और अपने अधिकार के भीतर ही रहता था। न वहाँ संघर्ष था न प्रतिस्पर्धा, और न भय था न आतंक। धर्म के द्वारा ही प्रजा एक दूसरे का रक्षण, पालन-पोषण करती थी। इस आधार पर यह स्वीकार करना कि इस प्रकार के आदर्श समाज का कभी अस्तित्त्व था, बहुत प्रामाणिक नहीं लगता किन्तु इसके आधार पर इतना कहा जा सकता है कि भारतीय समाज-दर्शन के चिन्तक एक ऐसे आदर्श समाज की कल्पना लेकर चलते थे जिसमें व्यक्ति अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता का निर्वाह कर सके और किसी अन्य की स्वतंत्रता में किसी प्रकार कोई हस्तक्षेप भी न हो, जिससे दण्ड और शासक की आवश्यकता अपरिहार्य हो जाय[2]।

व्यक्ति और समाज

व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध समाज-दर्शन की एक प्रमुख समस्या है। समाज-दर्शन के चिन्तकों ने इस विषय पर बड़ी गम्भीरता से विचार किया है। धर्मशास्त्र का समाज-दर्शन इस विषय पर अलग से कोई विचार प्रस्तुत नहीं करता किन्तु सामजिक व्यवस्था के सन्दर्भ में इसकी दार्शनिक मान्यता और उसमें मानव की स्थिति को ध्यान में रखकर इस विषय पर धर्मशास्त्र के समाज-दर्शन के दृष्टिकोण को स्पष्ट किया जा सकता है। साथ ही साथ इस सन्दर्भ में पाश्चात्य समाज-दर्शन के चिन्तकों में से कतिपय चिन्तकों के मत को भी सामने रखा जा सकता है। विषय को तुलनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत करने के लिए यहाँ प्लेटो, दुर्खीम, मीड एवं कूले के

१— फिलांसफी आफ श्री मद्भागवतुपुराण, पृष्ठ २५१

२— नैवराज्यं न राजासीन्न दण्डो न च दाण्डिकः ॥
धर्मेणैव प्रजाःसर्वा रक्षन्ति च परस्परम् ॥ महाभारत, शान्तिपर्व, ५६, १४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृष्टिकोण का अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन करते हुए धर्मशास्त्र के दृष्टिकोण का उनके दृष्टिकोण के साथ तुलनात्मक विवेचन किया गया है।

प्लेटो ने मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी माना है इससे यह स्पष्ट होता है कि प्लेटो व्यक्ति और समाज में अभिन्न सम्बन्ध स्वीकार करता है अर्थात् व्यक्ति समाज के बिना रह नहीं सकता। दूसरी ओर प्लेटो यह भी स्वीकार करता है कि सामाजिकता मानव की अनिवार्यता है, क्योंकि मानव अपने मूल में अपूर्ण है। उसकी अपनी सीमाएं हैं, अपने आप वह न तो अपनी अपूर्णता को दूर कर सकता है। और न सीमाओं का अतिक्रमण। वह आत्मनिर्भर भी नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में अपनी पूर्णता प्राप्ति के लिए उसे राज्य या समाज का अवलम्बन स्वीकार करना अनिवार्य और अपरिहार्य हो जाता है[1]।

प्लेटो के समाज-दर्शन में यह भी बात स्पष्ट रूप से प्राप्त होती है कि व्यक्ति अपने गुणों के कारण ही विभिन्न वर्गों में विभक्त हो जाता है। ये गुण हैं–बुद्धि (रीजन), शक्ति (एनर्जी), मूल प्रवृत्ति या पार्शविक-प्रवृत्ति (एनिमल इन्स्टिक्ट) । इन तीन स्वाभाविक गुणों के कारण मानव स्वभावतः तीन वर्गों में बँट जाता है। रक्षक (गार्जियन्स), सैनिक (वारियर्स) और श्रमिक (वर्कर्स)। प्लेटो व्यक्ति के कार्य और स्तर के निर्धारण में इन गुणों का विशेष महत्त्व स्वीकार करते हैं और साथ साथ उसको न्याय (जस्टिस) के प्रत्यय से भी जोड़ते हैं। प्लेटो ने यह स्वीकार किया है कि नगर व्यक्ति के स्वभाव, आवश्यकता तथा सीमाओं पर निर्भर करता है। नगर में प्रत्येक व्यक्ति को अपने गुण और क्षमता के अनुसार एक ही कार्य करना चाहिए और वह नगर जहाँ का प्रत्येक व्यक्ति या उक्त तीनों वर्ग के व्यक्ति अपने स्वाभाविक गुण, शक्ति और क्षमता के आधार पर नगर के कार्य का सम्पादन करते हैं, निर्विवाद ही न्याय पूर्ण है। यहां एक बात और भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि प्लेटो जिस समाज की चर्चा करते हैं। वह उनके आदर्श नगर तक ही

१— जी० ग्रोटे, "प्लेटो एण्ड दि अदर कम्पेनियन्स आफ सुकरात"
तृतीय संस्करण, (१८८५)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सीमित है। व्यक्ति उसी नगर का नागरिक है और वह नगर उसकी पूर्णता का स्रोत और आधार है।

व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध में प्लेटो के उक्त दृष्टिकोण की तुलना जब हम धर्मशास्त्र के समाज-दर्शन से करते हैं तो निम्नलिखित तथ्य विशेष रूप से विचारणीय प्रतीत होते हैं। धर्मशास्त्रों ने मानव को सामाजिक प्राणी के रूप में स्पष्ट रूप से तो नहीं कहा है लेकिन समाज और मनुष्य की धर्मशास्त्रीय अवधारणा को देखते हुए यह कहना पड़ता है कि धर्मशास्त्रों में भी मनुष्य को समाज के अन्तर्गत ही स्वीकार किया गया है अर्थात् मनुष्य और समाज में किसी न किसी प्रकार का अभेद सम्बन्ध है और मनुष्य समाज में ही आया है क्योंकि सृष्टि के प्रारम्भ में विराट् से ही चारों वर्णों की उत्पत्ति बताकर धर्मशास्त्र का समाज-दर्शन समाज की प्रमुखता की स्थापना कर देता है।

धर्मशास्त्रों के समाज-दर्शन में मानव की अवधारणा जीव की अवधारणा के साथ विवेचित हुई है। समस्त जीव उस परम पुरुष या विराट् से ही उत्पन्न होते है या उसीके बीज या कण या अंश के रूप में आते हैं किन्तु उनकी नित्यता और अनन्तता भी धर्मशास्त्र के समाज-दर्शन को मान्य है। ऐसी स्थिति में किसी न किसी प्रकार मानव या जीव में अपूर्णता का निर्देश धर्मशास्त्र का समाज-दर्शन भी करता है किन्तु उसकी पूर्णता की प्राप्ति किसी नगर विशेष तथा राज्य विशेष पर आश्रित नहीं है जैसाकि प्लेटो ने माना है अपितु वह पूरे ब्रह्माण्ड से जुटा हुआ है और उसके कर्तव्यों का प्रभाव तथा उससे प्राप्त होनेवाले अधिकार पूरे ब्रह्माण्ड से संबंधित है। साथ ही साथ यह भी समझ लेना उचित है कि धर्मशास्त्र का समाज-दर्शन प्राणियों से मानव की श्रेष्ठता को स्वीकार करते हुए यह भी मानता है कि मानव अपने कर्तव्यों के लिए तथा अपनी पूर्णता के लिए केवल वर्तमान समाज तक ही सीमित नहीं है अपितु उसका पूर्व जीवन और भूत का समाज या भूत का ब्रह्माण्ड उसके वर्तमान कर्त्तव्य में सहायक होते हैं और वर्तमान कर्त्तव्य उसके भावी जीवन या परलोक जीवन का आधार बनता है। इस प्रकार धर्मशास्त्र के समाज-दर्शन में भी मानव की अपूर्णता की चर्चा और उसको पूर्ण बनने के लिए प्रयत्न का निर्देश भी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्लेटो[1] ने मानव को उसके स्वाभाविक गुण और धर्मों के आधार पर तीन वर्गों में विभक्त करने का प्रयास किया है किन्तु प्लेटो के ये गुण, बुद्धि, शक्ति और प्रवृत्ति मुख्य रूप से तथ्यात्मक और मनोवैज्ञानिक हैं। इनसे दार्शनिक प्रश्न का समुचित समाधान नहीं होता अर्थात् कोई मनुष्य बुद्धि प्रधान, कोई मनुष्य शक्ति प्रधान, और कोई मनुष्य प्रवृत्ति प्रधान क्यों हो जाता है ? इस प्रश्न का समुचित उत्तर प्लेटो का समाज-दर्शन नहीं दे पाता। धर्मशास्त्रों का समाज-दर्शन भी गुण और कर्म के आधार पर मानव को चार वर्गों में विभक्त करने का प्रयास करता है। किन्तु उसके गुण केवल तथ्यात्मक और मनोवैज्ञानिक मात्र नहीं है अपितु एक विशेष प्रकार के तत्त्व दर्शन पर आधारित है। धर्मशास्त्र के अनुसार सत्वगुण प्रधान वाला व्यक्ति बुद्धि प्रधान होगा, रजो-होगा गुण प्रधान वाला व्यक्ति शक्ति प्रधान और तमोगुण प्रधान वाला व्यक्ति प्रवृत्ति प्रधान होगा। इन तीन गुणों की प्रधानता व्यक्ति के पूर्व जन्म के कर्म के आधार पर आती है अर्थात् जिस व्यक्ति का पूर्व जन्म का कर्म जिस प्रकार का होता है उसी प्रकार के गुण का आकर्षण उसके नए जन्म में हो जाता है इसीलिए कोई व्यक्ति सत्त्व गुण प्रधान, कोई रजोगुण प्रधान तथा कोई तमोगुण प्रधान हो जाता है।

समाज तथा व्यक्ति के सम्बन्ध के विषय में सामाजिक पक्ष को अधिक महत्त्व देने वाले समाज शास्त्रीय "दुर्खीम"[2] का विचार भी प्रस्तुत संदर्भ में महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। दुर्खीम के अनुसार समाज प्रधानतया एक नैतिक सत्ता है, उनके अनुसार सामाजिक व्यवस्था की आत्मा मूल्यगत आदर्श है। यह आदर्श सामाजिक पद्धति तथा समाज की एकता का आधार प्रस्तुत करता है। इन आदर्शों से एक ओर समाज को आकांक्षाओं का बोध होता है, वहीं दूसरी ओर समाज को वास्तविक स्थिति का। सामाजिक आकांक्षाएं मूल्यात्मक पक्ष को पूरा करने में सहायक होती है और समाज की वास्तविक स्थिति इन आकांक्षाओं को पूर्ति कर आवश्यक परिस्थिति उत्पन्न करती है। इस प्रकार क्या होना चाहिए और क्या है ? इन दोनों का भेद समाप्त होने लगता है, यही दुर्खीम का परम रचनात्मक समन्वय है।

१— मनु की समाज व्यवस्थ, पृष्ठ २६

+ मनु की समाज व्यवस्थ पृष्ट २७ के फुटनोट से -

बालाग्रस्य भागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवेति विज्ञेयः सचान्त्याय कल्प्यते ॥

२— मनु की समाज व्यवस्था, पृष्ठ २६,२७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुर्खीम के इन विचारों की तुलना जब हम धर्मशास्त्र के विचारों से करते हैं तो हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। धर्मशास्त्र में भी एक नैतिक आदर्श स्वीकृत है। इनके अनुसार परमात्मा ने सृष्टि को नैतिक नियमों से पूर्ण बनाया है इसलिए सृष्टि का प्रारम्भिक रूप, नियम-परायण तथा दैवी इच्छाओं से ओत-प्रोत है। उस स्थिति में क्या होना चाहिए तथा क्या है, इन दोनों में कोई विभेद नहीं रहता क्योंकि सामाजिक अस्तित्व परम सत्य की वास्तविक अभिव्यक्ति मात्र होता है। किन्तु जहां दुर्खीम समाज को स्वयं ही पूर्ण सत्ता मान लेते हैं वहां धर्मशास्त्रों में समाज और व्यक्ति दोनों से ऊपर उस पूर्ण सत्ता को या परम शक्ति को माना गया है जिससे नैतिक आदर्श निःसृत होते हैं और जो मनुष्य तथा समाज दोनों के लिए पालनीय होते हैं। यहां हम यह कह सकते हैं कि धर्मशास्त्रों की नैतिकता तथा नैतिक नियम एक सुनिश्चित्, सर्वव्यापक, नैतिक स्रोत से आता है जब कि दुर्खीम की सामाजिक नैतिकता उसके नियम तथा आदर्श के लिए समाज से अतिरिक्त कोई अन्य स्रोत नहीं रहता।

धर्म शास्त्रों के समाज-दर्शन में मनुष्य पूर्ण का एक भाग होकर भी अपने कर्त्तव्यों के पालन या सम्पादन द्वारा अपने चरम लक्ष्य या चरम पुरुषार्थ तक उठने के लिए अपना पथ प्रशस्त कर सकता है। वहां दुर्खीम की मान्यता में समाज व्यक्ति के ऊपर एक प्रतिरोध रहित शक्ति के रूप में (कान्स्टैन्ट) उसे आबद्ध किये हुए है। दुर्खीम ईश्वर को एक प्रतीक रूप में स्वीकार कर उसका सामाजिक-करण कर देता है और समाज तथा समाज के अवयवों का दैवी-करण।

व्यक्ति तथा उसके स्व के विकास तथा उत्थान के सम्बन्ध में आधुनिक मान्यताएं धर्मशास्त्र के सामाजिक दर्शन की मान्यताओं से सर्वथा भिन्न प्रतीत होती हैं। इनके अनुसार व्यक्ति जन्मजात मनुष्य नहीं होता है अपितु सामाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा तथा सामाजिक प्रक्रिया के सम्बन्ध में वह मनुष्य बनता है। "कूले" का कहना है कि मां के अतिरिक्त किसी भी अन्य व्यक्ति के लिए सद्यः जात बालक एक विचित्र छोटे पशु से भिन्न कुछ भी नहीं है। बाद के वर्षों में बालक के मध्य साहचर्य का आनन्द उदित होता है जिसमें कुछ तो विशेष सामाजिक संवेगों का फल है और कुछ सामान्य मानसिक, शारीरिक प्रवृत्तियों तथा आवश्यकताओं की अनिवार्यता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार आयु के वृद्धि के साथ-साथ पारस्परिक साहचर्य व्यक्ति के जीवन का एक प्रधान उद्देश्य बन जाता है[1]। "कूले" के "स्व" के प्रयोग से किसी दार्शनिक अथवा नैतिक अर्थ नहीं लिया जा सकता। उसका स्व एक साधारण अर्थ में मनोवैज्ञानिक "दृश्य स्व (इम्पिरिकल सेल्फ) है किन्तु यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि स्व में केवल भौतिक शरीर ही नहीं बल्कि विचार, मत, उद्देश्य तथा इच्छा भी सम्मिलित है। कूले के मत को देखने से यह स्पष्ट होता है कि व्यक्ति का अहम् सामाजिक उत्तर-दायित्व तथा वातावरण के मध्य ही विकसित होता है जैसे हमारी ग्लानि अथवा गर्व की भावनाएँ दूसरों के अस्तित्व तथा उपस्थिति में ही सम्भव है।

इस सम्बन्ध में "मीड[2] का कहना है कि स्व के विकास के दो महत्व-पूर्ण स्तर हैं। प्रथम स्तर पर स्व की रचना तथा विकास एक विशेष सामाजिक क्रिया के द्वारा होता है जिसमें व्यक्ति भाग लेता है। इस क्रिया के बीच मीड व्यक्तियों कें एक दूसरे के प्रति तथा उस व्यक्ति विशेष के प्रति व्यवहार तथा प्रवृत्तियों को विशेष महत्त्व देते हैं। द्वितीय स्तर पर केवल कुछ विशेष व्यक्तियों के व्यवहार तथा प्रवृत्तियों को हो महत्त्व नहीं दिया जाता अपितु सामाजिक समूह के व्यवहार का महत्त्व स्वीकार करना पड़ता है। यहां पूर्ण और स्व दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।

उक्त मतों पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि इन मतों में व्यक्ति का रूप प्रवृत्यात्मक है वह शारीरिक तथा सामाजिक सीमाओं में बंधा है। यदि इनके दृष्टिकोण को संक्षेप में रखा जाय तो कहा जा सकता है कि इनके अनुसार व्यक्ति जन्मजात मनुष्य नहीं है सामाजिकता के मध्य उसके स्व का रूप पशुत्व से ऊपर उठता है। उसके जीवन का चरम लक्ष्य सामंजस्य तथा सामाजिकता है। व्यक्तित्त्व के विकास का इनका प्रत्यय अस्पष्ट है तथा वह प्रतिस्पर्धा से पूर्ण तथा दूसरों के स्व के दमन पर आधारित है जो सामंजस्य तथा सामाजिकता की प्रवृत्ति के विपरीत है।

धर्मशास्त्र के समाज-दर्शन में मनुष्य जन्मजात मनुष्य है चाहे वह

१— मनु की समाज व्यवस्था, पृष्ठ २८

२— मनु की समाज व्यवस्था, पृष्ठ २९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भले ही शुद्र हो[१] और संस्कार से उसकी मानवता नहीं अपितु द्विजता में परिपक्वता आती है। जन्म से अपने पुराने गुग से युक्त हो कर वह आता है और सामाजिक जीवन के बीच संस्कारों द्वारा धीरे-धीरे नवीन जीवन के योग्य बनता जाता है इस प्रकार वह सामान्य मानव से विशेष मानव और सामाजिक मानव तथा इसके ऊपर देवत्व तक भी पहुँच सकता है। इसी में उसकी आत्मपूर्णता है।

धर्मशास्त्रों में व्यक्ति और समाज तथा जीव और जगत् में कोई संघर्ष नहीं है। एक ओर जगत् नैतिक नियमों से पूर्ण है लेकिन जगत् के निर्माण में व्यक्ति के पूर्व जन्मों के कर्मो का महत्त्वपूर्ण हाथ है। वस्तुतः जगत् एक प्रवाह के रूप में है, जिसका अस्तित्त्व व्यक्ति के कर्मों के द्वारा ही संभव है, दोनों को पृथक्-पृथक् करके विचार करना संभव नहीं है। व्यक्ति चरम सत्ता का एक अंश है और समाज में व्याप्त नैतिक नियमों की वैधता उसी चरम सत्ता के द्वारा अनुमोदित होने के कारण है। व्यक्ति अथवा जीव के अभाव में समाज या जगत् की स्थिति प्रलयात्मक होगी। धर्मशास्त्रों के अनुसार परम शक्ति परमसत्ता है वही वास्तविक और सामान्य हैं उसे ही उपनिषदों ने 'भूमा'[२] कहकर सम्बोधित किया है। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि व्यक्ति नगण्य या महत्त्वहीन है वह भी उसी परमसत् और परम शक्ति का अंश है और अपने कर्तव्यों के सम्पादन द्वारा अपनी पूर्णता प्राप्ति के लिए सक्षम भी।

व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध के विषय में आधुनिक युग में पाश्चात्य समाजशास्त्र के चिन्तन के इतिहास में दो सिद्धान्त अत्यन्त महत्वपूर्ण हो गये हैं। ये दो सिद्धान्त हैं, व्यक्तिवाद और समाजवाद। व्यक्तिवाद के अनुसार व्यक्ति का महत्त्व समाज से अधिक है इसका आदर्श है समाज व्यक्ति के लिए है समाज व्यक्तियों का संयोग मात्र है। इस सिद्धान्त के अनुसार सरकार को जहाँतक बन सके व्यक्ति पर निम्नतम शासन करना चाहिए। इसके प्रबल समर्थक में हरवर्ट स्पेन्सर का नाम लिया जाता है। उनके अनुसार राज्य का अस्तित्त्व मानव के अहम्भाव एवं बुरे विचारों के फलस्वरूप आया है। उनका कहना है कि राज्य की

१—जन्मना जायते शूद्रः संस्कारैः द्विज उच्यते; स्कन्धपुराण नागर खण्ड २३९. ३१

२—योवैभूमा तत्सुखम् नाल्पे सुखमस्ति। छान्दोग्य उपनिषद, ९. २३. १.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थापना मनुष्य की दुष्प्रवृत्तियों पर सम्यक् नियंत्रण रखने के लिए तथा एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य के अत्याचार से बचाने के लिए हुई है। इस मत के दूसरे समर्थक जान स्टुअर्ड मिल का कहना है कि राज्य शक्ति के विशेष प्रभुत्व से मनुष्य की मानसिक शक्ति कुण्ठित हो जाती है और उसकी स्वतंत्र-निर्णय-शक्ति में ह्रास हो जाता है। खुली स्पर्धा व्यक्ति की सर्वोत्तम शक्तियों का विकास करती है, उसकी बुद्धि में विकास करती है एवं स्वावलम्बन के भाव दृढ़ करती है। व्यक्तिवाद के प्रबल समर्थकों में टॉमस, हाब्स, लॉक और रूसो के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, इनके सिद्धान्त को समाज का सामाजिक अनुबन्ध या सामाजिक संविदा का सिद्धान्त कहा जाता है। क्योंकि इनके अनुसार समाज की उत्पत्ति एक प्रकार के समझौते के आधार पर हुई है।

महाभारत तथा मनुस्मृति में इस बात की चर्चा मिलती है कि एक समय ऐसा था जब सामाजिक व्यवस्था में न्याय, सत्य आदि गुण बहुत ही क्षीण हो चुके थे, समाज की स्थिति 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के नियम से कार्यान्वित हो रही थी तब सब मनुष्य मिलकर ब्रह्मा के पास गये और ब्रह्मा ने उन्हें शासक के रूप में या धर्म के व्यवस्थापक के रूप में राजा दिया। कुछ चिन्तक इस संदर्भ से यह निष्कर्ष निकालते हैं कि यह एक प्रकार का सामाजिक समझौते का सिद्धान्त है किन्तु यह प्रसंग सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की अपेक्षा समाज की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त के अधिक सन्निकट लगता है। [१]

सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धांत के अन्य समर्थक हॉब्स मानव को एक असामाजिक प्राणी मानता है। उसके अनुसार मानव को वस्तुएं या तो आकर्षित करती हैं या विकर्षित। आकर्षण को इच्छा और विकर्षण को घृणा कहा जा सकता है। [२] जिन वस्तुओं को वह चाहता है उन्हें वह अच्छा कहता है और जिन वस्तुओं को नहीं चाहता उन्हें बुरा। अच्छाई या बुराई वस्तु में नहीं मनुष्य की भावनाओं में है। हॉब्स के अनुसार मानव कभी भी परोपकारी नहीं हो सकता। वह केवल अपने स्वार्थ की पूर्ति की ही चेष्टा करता है। प्रकृति ने सभी मनुष्यों को शारीरिक शक्तियों और मानसिक वृत्तियों में समान बनाया है इसलिए जिस वस्तु

१— महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय ५९' मनु, ७.३
२— समाज दर्शन की भूमिका, पृष्ठ ३२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेष की मांग एक करता है उसे दूसरा भी करता है। शारीरिक शक्ति में एक व्यक्ति दूसरे से अधिक शक्तिशाली हो सकता है पर दूसरे गुटबन्दी कर उसे मार भी सकते हैं। मानव स्वभाव से युयुत्सु और स्वार्थी है। उसके झगड़े के तीन प्रमुख कारण हैं प्रतिस्पर्धा, पारस्परिक अविश्वास और वैभव। प्रतिस्पर्धा के कारण वे अधिक लाभ के लिए, अविश्वास के कारण अपनी रक्षा के लिए और वैभव प्राप्ति के कारण वे प्रसिद्धि के लिए परस्पर झगड़ते हैं।[1]

उक्त विवेचना से लगता है कि हाब्स मनुष्य में केवल आसुरी प्रवृत्तियों को ही स्वीकार करता है किन्तु विचार पूर्वक देखने से यह लगता है कि इन आसुरी प्रवृत्तियों के साथ वह मनुष्य में कुछ दैवी प्रवृत्तियों का अस्तित्व भी स्वीकार करता है। उसका कहना है कि मनुष्य में कुछ इच्छायें ऐसी भी होती हैं जो उसे युद्ध के लिए नहीं बल्कि शांति और मैत्री के लिए प्रेरित करती जैसे आगम सुख की इच्छा, ऐन्द्रिय सुख की इच्छा मृत्यु का भय, और परिश्रम द्वारा प्राप्त भोग की इच्छा, आदि ऐसी इच्छाएं हैं जो उसे एक शक्ति की आज्ञा मानने के लिए बाध्य करती हैं।

इस प्रकार हाब्स ने मनुष्य में आसुरी और दैवी दोनों प्रवृत्तियों का अस्तित्व तो स्वीकार किया है फिर भी आसुरी प्रवृत्तियों को अधिक प्रधान मानता है क्योंकि उसके अनुसार मूल रूप से मनुष्य स्वार्थी है और अपने स्वार्थसिद्धि के लिए वह दैवी गुणों का आह्वान करता है। स्वभावतः सभी मनुष्य स्वार्थी, अहंकारी, लोभी तथा एक दूसरे के विरोधी होते हैं तथा दया, सहानुभूति, प्रेम, परोपकार इत्यादि सद्गुणों का जब कभी उनके भीतर उदय होता है तो वह भी उनके स्वार्थ की सिद्धि के लिए ही होता है। समाज के अस्तित्व के पूर्व हाब्स एक ऐसी प्राकृतिक अवस्था मानता है जिसमें मनुष्य बिना किसी अंकुश के स्वतंत्रता पूर्वक रहते थे। इस प्राकृतिक अवस्था को जिसमें कोई ऐसी शक्ति नहीं थी जो मनुष्यों को भयभीत रख सके, युद्ध की अवस्था कहा जा सकता है। और ऐसी दशा में उद्योग, संस्कृति, नौचालन, भवन निर्माण, यातायात साधनों, ज्ञान, समाज आदि का कोई स्थान नहीं था। मनुष्य का जीवन एकाकी, दीन, अपवित्र, पाशविक एवं क्षणिक था। इस प्राकृतिक अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे के लिए भेड़िया लगता था।

१— समाज दर्शन की भूमिका, पृष्ठ ३३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्राकृतिक अवस्था के साथ-साथ हाब्स ने एक प्राकृतिक व्यवस्था की भी चर्चा की है जिसका पालन करके मनुष्य उस अराजकता की स्थिति में भी सुख पूर्वक रह लेता था। हाब्स के अनुसार उसे 'शांति' की धारा कहा जा सकता है। यह पूर्ण रूप से विवेक पर आधारित है। हाब्स के अनुसार प्राकृतिक व्यवस्था या नियम वह नियम है जो विवेक द्वारा खोजा गया है। इससे मनुष्य उन कार्यों को निषिद्ध समझ लेता है जो जीवन के लिए विनाशकारी हैं। या जिनसे जीवन की रक्षा के साधनों का हरण होता है। इसी तरह वे कार्य स्वीकार होते हैं, जिनसे जीवन की रक्षा होती है।

हाब्स ने सामाजिक समझौते या सामाजिक अनुबंध के सिद्धान्त के उद्देश्य बतलाते हुए यह स्पष्ट किया है कि मनुष्य को उसकी आसुरी सम्पदा पर अंकुश रखने के लिए किसी बाह्य नियंत्रण की आवश्यकता होती है। समाज ऐसेही नियंत्रण की आवश्यकता की पूर्ति करता है। अराजकता की स्थिति में रहता हुआ मनुष्य यह संविदा या अनुबंध इस अभिप्राय से किया होगा कि सबकी सहमति से एक ऐसी शक्ति उत्पन्न की जाय जो सबको अपने आदेश में रखे और सबको अपनी आज्ञा के पालन के लिए विवश कर सके। सब मनुष्य उस शक्ति को अपना-अपना अधिकार समर्पित कर दे जिसे वह बाह्य आक्रमणकारियों तथा आन्तरिक अव्यवस्था से उनके जीवन की रक्षा कर सके तथा इस प्रकार उनके लिए शांतिमय जीवन सम्भव बना सके।

सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का समर्थन करने वाले जॉन लॉक[१] का दृष्टिकोण मानव के स्वभाव के सम्बन्ध में हाब्स से विपरीत है। जहां हाब्स ने मानव को स्वार्थी युयुत्सु और जंगली बताया है, वही लाक ने उसे सहयोगी तथा सामाजिक माना है। हाब्स मनुष्य की आसुरी प्रवृत्तियों पर बल देता है किन्तु लॉक आसुरी प्रवृत्तियों की अपेक्षा दैवी प्रवृत्तियों पर विशेष बल देता है। लॉक के अनुसार मनुष्य समाजप्रिय, सहयोगी, प्रेम और दया का पोषक और स्वभाव से अच्छा है वह नैतिक तथा शान्तिप्रिय है और उसके पारस्परिक सम्बन्धों में प्रेम का साम्राज्य है। सब मनुष्य प्रकृति की एक समानता की अवस्था में है जिसमें सम्पूर्ण शक्ति और अधिकार क्षेत्र पारस्परिक है तथा किसी को दूसरे से अधिक अधिकार प्राप्त नहीं

१— समाज दर्शन की भूमिका, पृष्ठ ३५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। किन्तु लाँक के इस कथन का यह अर्थ नहीं कि वह सब मनुष्य को शारीरिक एवं बौद्धिक शक्तियों में समान मानता है अपितु वह केवल इस अर्थ में समान मानता है कि सबको अपने व्यक्तित्व के विकास का समान अधिकार प्राप्त है।

प्राकृतिक अवस्था के स्वरूप के सम्बन्ध में भी लाँक का मत हाब्स से भिन्न है जहां हाब्स ने प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य जीवन को एकाकी, दीन, अपवित्र, पाशविक और क्षणिक माना है, वहां लांक के अनुसार यह अवस्था शान्ति, सम्पन्नता, सहयोग, समानता और स्वतन्त्रता की अवस्था है जिसमें मनुष्य सामाजिक होता है इस अवस्था को लाँक स्वतन्त्रता की अवस्था तो मानता है लेकिन उसे वह स्वेच्छाचारिता की अवस्था नहीं मानता।

हाब्स की प्राकृतिक व्यवस्था से लॉक सहमत है इनके अनुसार भी वह अवस्था विवेक की अवस्था है यह विवेक, विवेक से काम करने वाली संपूर्ण मानवता को सीखाता है कि सभी मनुष्य समान तथा स्वाधीन है। अतः किसी को भी दूसरे के जीवन, स्वास्थ्य, स्वतन्त्रता एवं सम्पत्ति की हानि नहीं पहुँचानी चाहिए। इस प्रकार लाँक का विचार है कि मनुष्यों को एक दूसरे के अधिकारों पर आक्रमण करने और हानि पहुँचाने से रोका जाना चाहिए। सबको उस प्राकृतिक अवस्था को मानना चाहिए जो शान्ति और सम्पूर्ण मानवता की सुरक्षा चाहती है। इस प्राकृतिक अवस्था के कार्यान्वित होने का अर्थ है कि प्रत्येक मनुष्य को यह अधिकार है कि वह व्यवस्था का उल्लंघन करने वाले को उतना दण्ड दे सके जितना उसका उल्लंघन रोकने के लिए आवश्यक है।

सामाजिक समझौते के सिद्धांत का समर्थन करने वाले चिन्तकों में रूसो का स्थान भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मानव के स्वभाव के सम्बन्ध में रूसो का मत लाँक से काफी मिलता-जुलता है। रूसो के अनुसार भी मनुष्य स्वभावतः एक अच्छा प्राणी है उसमें स्वार्थ साधन मनोवृत्ति के साथ-साथ परोपकार, दया और कृपा की भावना भी है वह स्वाभावतः स्वतंत्र है। तथा सबके समान अपने को आत्मनिर्भर समझता है। मनुष्य निर्भय शांतिपूर्ण एवं सन्तुष्ट प्राणी है तथा उसमें घृणा, द्वेष, वैर तथा अहंकार आदि दुर्भावनाओं का स्वभावतः अभाव होता है उसकी आवश्यकताएं भी सीमित हैं वह अपने आप में सुखी होता है उसे पुण्य-पाप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की भावना से भी कोई मतलब नहीं, रूसो की इस स्थापना से स्पष्ट होता है कि रूसो ने मानव में आसुरी प्रवृत्तियों की अपेक्षा दैवी प्रवृत्तियों पर विशेष बल दिया है ।

प्राकृतिक अवस्था के सन्दर्भ में रुसो का कहना है कि इस अवस्था में मनुष्य में पशुओं की भाँति स्वाभाविकता होती है। वह अपने प्रकृत रूप में तो स्वतंत्र था पर सामाजिक व्यवस्था ने उसे परतंत्र बना दिया है। रुसो की यह उक्ति बहुत ही प्रसिद्ध है—मनुष्य स्वतंत्र उत्पन्न होता है फिर भी वह प्रत्येक स्थान पर परतंत्र है ।[१] अपनी प्राकृत अवस्था में मनुष्य का जीवन शांत और सुखमय था उसकी वह आदर्श अवस्था थी जिसमें मानव एक आदर्श बर्बर था। वह न तो कायर था और न तो राक्षस, उसके अन्दर समता का भाव विद्यमान था उसके क्रिया कलाप नैसर्गिक शक्तियों द्वारा संचालित थे तथा उसने बुद्धि का दुरुपयोग करना नहीं सीखा था, उस समय अच्छाई बुराई, ऊंच-नीच, अपना-पराया आदि का कोई भेद भाव नहीं था। प्रत्येक व्यक्ति अपना स्वामी एवं आत्म-निर्भर था। प्रकृति का नियम जो उनके व्यवहारों को नियमित करता था यह था कि अपने हित को देखो किन्तु यह भी ध्यान रखो कि उससे दूसरों की कम से कम संभव हानि हो। सारांश यह है कि प्रकृति की यह अवस्था आदर्श आनन्द की अवस्था थी ।

रूसो की मान्यता है कि मनुष्य की जिस प्रकृति अवस्था का वर्णन ऊपर किया गया है वह अधिक दिनों तक स्थिर न रह सकी। सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ मनुष्य में निजी संपत्ति का विचार आया लोगों की आवश्यकताएं बढ़ने लगी। उन्होंने पशुओं से अपनी रक्षा करने के लिए हथियार भी बनाना प्रारम्भ कर दिया। धीरे-धीरे अपने पराये की भावना का विकास भी हुआ और निजी संपत्ति की मान्यता अस्तित्व में आई। रूसो ने लिखा है कि वह पहला व्यक्ति समाज का वास्तविक जन्म दाता था जिसने एक भू भाग को बाड़ से घेरकर कहा कि यह मेरी भूमि है। और जिसको उसके उस कथन के प्रति विश्वास करने वाले सरल व्यक्ति भी मिल गये थे[२] व्यक्तिगत संपत्ति के कारण

१— रुसो: सोसल कान्ट्रैक्ट । (२३)
मैन इज बार्न फ्री, हाउएवर ही इज एव्रीव्हेयर इन चेन्स.

२— समाज दर्शन की भूमिका, पृष्ठ ३८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युद्ध, कलह द्वेष, और हिंसा आदि का प्रादुर्भाव हुआ। शक्ति परीक्षण के साथ अहंकार का जन्म हुआ और ऊंच-नीच की भावना आई इस तरह मानव का उत्तरोत्तर पतन होता गया।

इस प्रतियोगिता में प्रतिस्पर्धा की वृत्ति के साथ संघर्ष होने लगा। सभी लोग व्यग्र और व्याकुल रहने लगे, स्वभावत: सबने यह सोचना प्रारम्भ किया कि ऐसा कोई उपाय निकालना चाहिए जिससे जीवन में जो प्रतियोगिता और संघर्ष है, उससे मुक्ति मिले और मनुष्य निश्चिन्त होकर शांति पूर्वक अपना जीवन व्यतीत कर सके। परिणाम स्वरूप एक अनुबन्ध की स्थापना हुई। जिसके फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व और अपनी पूर्व शक्ति को सामान्य प्रयोग के लिए सामान्य इच्छा के सर्वोच्च निर्देशन के अधीन समर्पित कर देता है तथा एक समूह के रूप में उसमें से प्रत्येक व्यक्ति समूह के अविभाज्य अंग के रूप में अपने व्यक्तित्व तथा अपनी पूर्व शक्ति को पुन: प्राप्त भी कर लेता है।

इस अनुबन्ध से मनुष्य के जीवन में महत्वपूर्ण परिवर्तन आ जाते हैं। उसके आचरण में प्राकृतिक शक्ति का स्थान न्याय ले लेता है और उसके कार्यों में नैतिकता का समावेश हो जाता है जिसका पहले उसमें अभाव था। रूसो का कहना है, कि जो कुछ समझौते से मनुष्य खोता है वह है प्राकृतिक स्वतंत्रता और किसी भी वस्तु को पाने का असीमित अधिकार। इसके बदले में जो कुछ वह पाता है वह है नागरिक स्वतन्त्रता और अपनी वस्तुओं पर सुरक्षित स्वामित्व, इस सामाजिक समझौते के सिद्धान्त में दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष है व्यक्ति के स्थान पर समष्टि तथा व्यक्ति की इच्छा के स्थान पर सामान्य इच्छा की स्थापना। रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा सदैव न्याययुक्त होती है और जनहित उसका लक्ष्य होता है। रूसो के अनुसार सामाजिक अनुबन्ध से सरकार की स्थापना नहीं होती वरन् सामान्य इच्छा पर आधारित एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न समाज की स्थापना होती है जो सरकार को नियुक्त करती है। रूसो के अनुसार राज्य या समाज की सर्वोच्च शक्ति सामान्य इच्छा है जो असीमित अविभाज्य समस्त नियम के स्रोत, आदर्श एवं यथार्थ होती है।

जब हम सामाजिक समझौते के सिद्धान्त के समर्थकों के मत से धर्मशास्त्रों के समाज दर्शन के दृष्टिकोण की तुलना करते हैं तो यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाते हैं कि धर्मशास्त्र में भी यह स्वीकार किया गया है कि एक समय ऐसा था जब मनुष्य, मनुष्य से भयभीत था, मत्स्य न्याय या जिसकी लाठी उसकी भैंस का नियम समाज में लागू हो रहा था किन्तु धर्मशास्त्र ने इस स्थिति के निवारण के लिए किसी संविदा या समझौते की चर्चा नहीं की है। वह अपनी धार्मिक और दार्शनिक मान्यता के आधार पर ब्रह्मा से निवेदन कर राजा की प्राप्ति के द्वारा इसका निराकरण का मार्ग ढूंढ़ता है।

जहां तक मानव के स्वभाव का प्रश्न है, धर्मशास्त्रों को यह मान्य है कि मानव में स्वभाव से दैवी और आसुरी दोनों प्रवृत्तियां विद्यमान हैं, कभी कभी उसकी दैवी प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है और कभी-कभी आसुरी। इसीलिए धर्म या कर्त्तव्य का विधान किया गया है जिससे वह अपनी आसुरी प्रवृत्तियों को दबाते हुये अपनी मानवता और दैवी प्रवृत्तियों को विकसित करता हुआ अपने चरम पुरुषार्थ तक पहुँच जांय।

समाज की उत्पत्ति तथा व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए जो दूसरा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है, उसे दैवी सिद्धान्त या समाज की उत्पत्ति का दैवी सिद्धान्त कहा जाता है। वास्तव में यह सिद्धान्त राज्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त है किन्तु राज्य समाज का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंग है इसलिए राज्य और समाज में अभेद मानकर इसे समाज की उत्पत्ति का सिद्धान्त भी मान लिया जाता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य या समाज की स्थापना ईश्वर के द्वारा हुई है। राज्य या समाज मानवीय संस्था नहीं अपितु दैवी सस्था है। संसार की सभी वस्तुएं ईश्वर कृत है उसी प्रकार राज्य और समाज भी। ईश्वर की इच्छा थी कि लोग एक राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत रहें इसलिए उसने ऐसे समाज और राज्य की रचना की और उसपर शासन करने के लिए अपने प्रतिनिधि को भी भेजा। यह कार्य उसने मनुष्य जाति के हित और कल्याण के लिए किया।

पाश्चात्य समाज दर्शन के चिन्तकों का कहना है कि दैवी सिद्धान्त की मान्यता सर्व प्रथम ग्रीस और रोम में मिलो। जब योरोप में इसाई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्म फैला तो इस मत को और भी प्रोत्साहन मिला, क्योंकि ईसाई धर्म के अनुसार समाज या राज्य ईश्वरीय कृति है। सन्तपाल का उपदेश है कि प्रत्येक आत्मा को उच्चतर शक्तियों के अधीन होना चाहिए क्योंकि ईश्वर के शक्ति के अतिरिक्त और कोई शक्ति नहीं है। सभी सांसारिक शक्तियां ईश्वर की दी हुई हैं अतः जो उनकी अवज्ञा करता है उस पर ईश्वरीय पाप गिरेगा[१]।

जब हम धर्मशास्त्रों के दृष्टिकोण को देखते हैं तो लगता है कि धर्मशास्त्रों ने राज्य या समाज के दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त को किसी न किसी प्रकार से प्रारम्भ से ही स्वीकार किया है। महाभारत के शांतिपर्व तथा मनुस्मृति में यह चर्चा स्पष्ट रूप से आई है कि एक समय था जिसे कृत-युग या सत्युग कहा जाता था जिसमें न कोई राजा था न कोई प्रजा, न शासक न शासित, न नियम और न दण्ड व्यवस्था। सभी लोग धर्म के द्वारा अपने आप ही शासित थे और अपनी उन्नति तथा रक्षा धर्म के आधार पर ही करते थे। किन्तु जब इस स्थिति में परिवर्तन हुआ और मानव में स्वार्थ, लोभ, और लिप्सा बढ़ने लगी। धीरे-धीरे दुर्बलों पर अत्याचार होने लगा और समाज का अस्तित्व खतरे में दिखाई पड़ने लगा। तब ये लोग ब्रह्मा के पास गए और उनसे प्रार्थना की, हे प्रभु! मुखिया के बिना हमारा विनाश हो रहा है, हमें एक मुखिया प्रदान करें जिससे हमारी रक्षा हो सके, हमसब मिलकर उसका सम्मान करेगें[२]। उनकी प्रार्थना पर ब्रह्मा ने अष्ट वसुओं के अंश से राजा का निर्माण किया और समाज में न्याय व्यवस्था, धर्म व्यवस्था और शान्ति व्यवस्था का उत्तरदायित्व उस राजा पर सुपुर्द कर उसे सबका शासक बनाया[३]। इस कथानक के आधार पर समाज की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त की मान्यता उस युग में भी स्वीकार करना बहुत युक्तिसंगत नही लगता। क्योंकि उक्त कथानक पूर्णरूप से दैवी सिद्धान्त का पोषक नहीं है उसमें राजा की उत्पत्ति देव अंशों से स्वीकृत है। राजा ईश्वर के प्रति उत्तर-दायी है आदि पक्ष दैवी सिद्धान्त पोषक अवश्य हैं किन्तु धर्मशास्त्रों में कहीं भी राजा को निरकुश नहीं माना गया है। उसको धर्मों के नियमों का निर्माता नहीं स्वीकार किया गया है, जो दैवी सिद्धान्त के

१— समाज दर्शन की भूमिका, पृष्ठ ४४

२— महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ५९

३— मनु. ७.३-४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समर्थक स्वीकार करते हैं। यहां राजा देव का अंश होता हुआ भी धर्म के अधीन है और धर्म के नियम वेद, स्मृति और सदाचार आदि से निर्धारित होते हैं, राजा की स्वतन्त्र इच्छा से नहीं।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि धर्मशास्त्रों में पिण्ड और ब्रह्माण्ड प्रतिकृतिरूपता के सिद्धान्त तथा मानव समाज और विश्व में अविभाज्य सम्बन्ध की स्थापना से यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि मानव समाज का वास्तविक विवेचन विश्व एवं ब्रह्माण्ड के सन्दर्भ में ही सम्भव है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वितीय–अध्याय

कर्म और पुनर्जन्म

कर्म और पुर्नजन्म

कर्म और कर्मवाद भारतीय चिन्तनधारा की एक आधारभूत मान्यता है। भारतीय दर्शन, भारतीय संस्कृति तथा भारतीय धर्म कर्मवाद को पृष्ठभूमि के रूप में अनिवार्यरूप से स्वीकार करते है। कर्म एवं कर्मवाद भौतिक और अभौतिक, चेतन और अचेतन जगत् के समस्त घटनाओं की व्याख्या, कार्य-कारण-सिद्धान्त को आधार बनाकर करता है। यह एक ऐसा व्यापक, शाश्वत और अनुलंघ्य नियम है जिसके अधीन समस्त सृष्टि है। देव, मनुष्य, पशु-पक्षी, कोई भी इस नियम से परे नहीं है। जहाँ यह एक ओर विश्व की वैज्ञानिक व्याख्या करता है, वहाँ दूसरी ओर यह विश्व की नैतिकता के लिए एक व्यापक आधार प्रस्तुत करता है। यह एक सर्व मान्य मत है कि कर्म शृंखला ने संसार चक्र को प्रवाहित किया है और आगे भी वह इसे प्रवाहित करता रहेगा। कर्म का सिद्धान्त अनिवार्य रूप से पूर्वजन्म की मान्यता को स्वीकार करने के लिए बाध्य करता है। यही कारण है कि भारतीय शास्त्रों में कर्म और पुनर्जन्म का महत्त्व इतना व्यापक हो गया है कि इसे माने बिना किसी प्रकार की व्यवस्था या किसी प्रकार के सिद्धान्त का संगत विवेचन सम्भव नहीं लगता।

कर्म के सम्बन्ध में धर्मशास्त्रों में भी बड़ी व्यापकता से विचार किया गया है। कर्म का अर्थ, कर्म का स्वरूप एवं क्षेत्र, कर्म के प्रकार, कर्म का वर्गीकरण, विपाक प्रक्रिया में कर्म, कर्म को कायिक, वाचिक और मानसिक भेद, कर्म के शुक्ल अशुक्ल भेद, कर्म तथा उसका फल, कर्मवाद या कर्म का सिद्धान्त आदि प्रमुख विषय हैं जिनपर धर्मशास्त्रों ने अपना विचार व्यक्त किया है। इस सम्बन्ध में विभिन्न पहलुओं पर धर्मशास्त्रों के दृष्टिकोण में परस्पर मतभेद अवश्य है किन्तु इस मान्यता में कि कर्म का फल कर्त्ता को प्राप्त होता है और कर्म सृष्टि और प्राणी के जन्म चक्र का संचालक है, कोई मतभेद नहीं दीखता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्मशास्त्रों का समाज-दर्शन भी इस कर्म, कर्मवाद और पुनर्जन्म के सिद्धान्त से बंधा हुआ है इसलिए धर्मशास्त्रों के समाज, सामाजिक-व्यवस्था, सामाजिक-संरचना और कार्य एवं प्रयोजन को समझने के लिए कर्म, कर्मवाद और पुनर्जन्म का एक संक्षिप्त परिचय आवश्यक प्रतीत होता है।

कर्म का अर्थ एवं स्वरूप

कर्म शब्द 'कृ' धातु से बना है इसका सामान्य अर्थ करना, व्यापार या हलचल होता है। 'करना' अर्थ में मनुष्य जो कुछ करता है वही उसका कर्म है। इसी सामान्य अर्थ में गीता में इसका उपयोग हुआ है। पर यदि कर्म के अर्थ को व्यापक रूप से देखें तो स्पष्ट होता है कि मनुष्य जो कुछ करता है जैसे– खाना-पीना, खेलना, रहना, उठना-बैठना, श्वासोच्छ्वास करना, हंसना, रोना, सूंघना देखना, बोलना, सुनना, चलना, देना-लेना, जागना, मारना, लड़ना, मनन और अध्ययन करना, आज्ञा और निषेध करना, दान देना, यज्ञ-याग करना, खेती और व्यापार धन्धा करना, इच्छा करना निश्चय करना, चुप रहना इत्यादि ये सब कर्म ही है। [१]

प्राचीन वैदिक परम्परा के अनुसार यज्ञ-याग ही वह कर्म है, जिससे स्वर्ग की प्राप्ति होती है। वैदिक ग्रन्थों में यज्ञ–याग की विधि बताई गई है, परन्तु इसके विषय में कहीं-कहीं परस्पर विरोध भी परिलक्षित होता है। अतएव उनकी एकता और संगति दिखलाने के लिए जैमिनी ने पूर्व मीमांसाशास्त्र की रचना की। जैमिनी के मतानुसार वैदिक और श्रौत यज्ञ-याग करना ही प्रधान कर्म हैं, इसे वे धर्म कहते हैं। मनुष्य जो कुछ करता है वह सब यज्ञ के लिए करता है यदि उसे धन कमाना है तो यज्ञ के लिए और धन–धान्य का संग्रह करना है तो भी यज्ञ ही के लिए [२]। धर्म यज्ञ का एक साधन है वह स्वतंत्र रीति से साध्य वस्तु नहीं है। इसलिए यज्ञ से जो मिलने वाला फल है, उसी में उस कर्म का भी समावेश हो जाता है। उस कर्म का अलग से कोई फल नहीं होता। मीमांसकों के अनुसार यज्ञ करने से एक प्रकार की सुख प्राप्ति होती है और इस सुख प्राप्ति के लिए व्यक्ति यज्ञ बड़े चाव से करता है। भगवद्गीता के दूसरे अध्याय में भी यज्ञ-याग आदि काम्य कर्मों का निर्देश मिलता है [३]। ब्रह्मज्ञान के बिना किये

१—तिलक, गीतारहस्य, (कर्मयोगशास्त्र प्रकरण) पृष्ठ ५५

२—महाभारत, शांति पर्व, २६, २५

३—वेद वादरताः प्रार्थनान्यदस्तीतिवादिनः। भगवद्गीता, २.४२,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाने वाले यज्ञ याग आदि कर्म ही हैं। इसी तरह यह भी मीमांसकों के ही मत का अनुकरण है कि यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः [१] । अर्थात् यज्ञार्थ किये गये कर्म बंधक नहीं है। शेष सब कर्म बंधक हैं। गीता में कर्म का लक्षण बतलाते हुए यह भी कहा गया है कि अक्षर परब्रह्म से पंचभूतादि विविध सृष्टि निर्माण की जो क्रिया है वही कर्म है। [२]

कुछ लोगों की यह मान्यता है कि कर्म व्यापार अथवा क्रिया है, चाहे वह मनुष्य कृत हो, सृष्टि के अन्य पदार्थों की क्रिया हो अथवा मूल सृष्टि के उत्पन्न होने की क्रिया हो उसका परिणाम सदैव केवल इतना ही होता है कि एक प्रकार का नाम रूप बदल कर उसकी जगह दूसरा नाम रूप उत्पन्न हो जाता है। क्योंकि इन नामरूपों से आच्छादित मूल द्रव्य कभी नहीं बदलता वह सदा एक सा ही रहता है। उदाहरणार्थ–बुनने की क्रिया से 'सूत' का नामरूप बदलकर उसी द्रव्य को वस्त्र का नामरूप मिल जाता है। और कुम्हार के व्यापार से मिट्टी के नामरूप के स्थान पर घट का नामरूप प्राप्त हो जाता है।

कर्म के स्वरूप तथा क्षेत्र पर मनु-स्मृति तथा अन्य धर्मशास्त्रों में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। मनु-स्मृति में कर्म के द्वारा चारों वर्णों, आश्रमों आदि के कर्तव्यों का निर्देश किया गया है जैसे ब्राह्मण का कर्म वेदाध्ययन, क्षत्रिय के लिए युद्ध और वैश्य के लिए वाणिज्य आदि। वर्णाश्रम कर्म का सम्यक् प्रतिपादन स्मृति ग्रन्थों में किया गया है इसीलिए इन्हें 'स्मार्त कर्म' या 'स्मार्तयज्ञ' भी कहते हैं। इन श्रौत और स्मार्त कर्मों के अतिरिक्त और भी धार्मिक कर्म हैं जैसे व्रत, उपवास आदि। इनका विस्तृत प्रतिपादन पुराणों में किया गया है। इसलिए इन्हें 'पौराणिक कर्म' कहते है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रतिपादक शास्त्र के आधार पर कर्मों के नाम श्रौतकर्म (जो श्रुति द्वारा प्रतिपादित होते हैं) स्मार्त कर्म (जिनका प्रतिपादन स्मृतियों के द्वारा किया जाता है) तथा पौराणिक कर्म (जिनका प्रतिपादन पुराणों में किया गया है) आदि रखे गए है।

धर्मशास्त्रों में कर्मों के वर्गीकरण के लिए विभिन्न प्रसंगों में विभिन्न आधार अपनाए गए हैं। कर्म के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए वर्गीकरण

१—भगवद्गीता, ३.९

२—भगवद्गीता, ८.३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के इन आधारों का एक संक्षिप्त विवरण यहां प्रस्तुत किया गया है।

(क) विधान के आधार पर कर्म के भेद

विधान के आधार पर कर्मों के दो भेद किये गये है। विहित कर्म तथा निषिद्ध कर्म। विहित कर्म के अन्तर्गत नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मों को रखा गया है। जो कर्म प्रतिदिन किये जाने वाले हैं जैसे-स्नान, संध्या आदि वे नित्यकर्म कहलाते हैं। जिनके करने से कुछ विशेष फल अथवा अर्थ की सिद्धि नहीं होती, परन्तु उनके न करने से दोष अवश्य लगता है। नैमित्तिक कर्म उसे कहते हैं जिन्हें पहले किसी निमित्त के उपस्थित हो जाने से करना पड़ता है जैसे अनिष्ट ग्रहों की शांति, प्रायश्चित आदि। जिसके लिए हम शांति और प्रायश्चित करते हैं वह निमित्त कारण यदि पहले न हो गया तो हमें नैमित्तिक कर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। काम्य कर्म उसे कहते है जब हम कुछ विशेष इच्छा रखकर उसकी सफलता के लिए शास्त्रानुसार कोई कर्म करते है। जैसे वर्षा होने के लिए या पुत्र प्राप्ति के लिए यज्ञ करना। ये तीनों कर्म विहित कर्म के अन्तर्गत आते हैं क्योंकि शास्त्रों में इनको करने का विधान किया गया है। कुछ कर्म ऐसे भी हैं जो नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्म के अन्तर्गत नहीं आते जैसे मदिरापान, असत्यभाषण इत्यादि जिन्हें शास्त्रों ने त्याज्य कहा है। इसलिए ये कर्म 'निषिद्ध कर्म' कहलाते है, क्योंकि शास्त्रों ने इनको करने का निषेध किया है।

(ख) प्राकृतिक गुण के आधार पर कर्म के भेद

प्रकृति के तीन गुणों के आधार पर मनु ने कर्म को तीन रूपों में विभाजित किया है जैसे सात्त्विक, राजसिक व तामसिक। मनु ने यह भी कहा है कि मनुष्य को सत्त्व गुण वाले कर्मों को सर्वाधिक करणीय समझना चाहिए। सात्त्विक कर्मों के अन्तर्गत वेद का अध्ययन, तप, ज्ञान, शौच, इन्द्रियों का निग्रह, धर्म-कार्य, आत्मा का मनन आदि सम्मिलित है। सात्त्विक कर्म की सामान्य विशेषता बतलाते हुए कहा गया है कि जिस कर्म को करने से भूत, वर्तमान तथा भविष्य में मनुष्य लज्जित नहीं होता. जिस कर्म को सदैव जानने की इच्छा रहती है तथा जिस कर्म से मनुष्य आनन्द का अनुभव करता है वह सत्त्वगुण से प्रभावित होने के कारण सात्त्विक कर्म

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है [१]। सात्त्विक कर्म में धर्म की प्रधानता रहती है सात्त्विक कर्मों को करने से मनुष्य को देवत्व की प्राप्ति होती है। अतः मनु के अनुसार मनुष्य को अधिक से अधिक सात्त्विक कर्म करते रहना चाहिए। सात्त्विक कर्म ही श्रेष्ठ और उत्तम कर्म है। दूसरा कर्म राजसिक कर्म है। राजसिक कर्मों में मनु ने उन कर्मों को रखा है जिनके प्रति शीघ्र रुचि हो जाती है और फिर अधैर्य उत्पन्न होता है। ऐसे कर्म में प्रवृत्ति को अनुचित माना गया है। जैसे-निरन्तर विषय-भोग की इच्छा रखना, दूसरों पर विजय प्राप्त करना आदि [२]। रज में अर्थ की प्रधानता रहती है। अर्थात् राजसिक कर्म अर्थ प्रेरित होते है। सात्त्विक कर्मों के प्रभाव से जहां देवत्व की प्राप्ति होती है वहां राजसिक कर्मों के प्रभाव से मनुष्यत्व की प्राप्ति होती है। तीसरा कर्म तामसिक कर्म है। तमोगुण से उत्पन्न कर्म तामसिक कर्म कहलाते हैं, लोभ, निद्रा, अधैर्य, क्रूरता, अनाचार, याचक वृत्ति तथा प्रमाद आदि तामसिक कर्म बतलाये गये हैं [३]। तम में काम की प्रधानता रहती है। तामसिक कर्मों के करने से मनुष्य मृत्यु के पश्चात् निकृष्ट गति या तिर्यक् (वृक्ष, पशु, पक्षी) की योनि प्राप्त करता है। अतः मनु के अनुसार तामसिक कर्मों से निरंतर बचना चाहिए।

गीता में भी कर्म के उसी प्रकार तीन भेद किये गये हैं, सात्त्विक, राजसिक व तामसिक। यहां इन तीनों कर्मों की व्याख्या कर्त्ता के मन में फल के प्रति उठने वाली प्रवृत्ति के आधार पर किया गया है। जो कर्म कर्मफल की आशा त्याग कर बिना आसक्ति के स्वधर्मानुसार किये जाते है उन्हें सात्त्विक कर्म कहते है। फलाशा की इच्छा रखते हुए अहंकार पूर्ण मनोभाव से किया गया कर्म राजसिक है तथा तामसिक कर्म वह है जो मोहवश वर्तमान तथा भविष्य को सोचे बिना किया जाता है। [४]

१— वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम्॥ मनु, १२.३१,

२— आरम्भरुचिताऽधैर्यमसत्कार्यपरिग्रहः।
विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम्॥ मनु १२.३२,

३— लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता।
याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम्॥ मनु. १२. ३३.

४— गीता, १८. २३-२५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ग) कर्म विपाक प्रक्रिया के आधार पर कर्म के भेद

कर्म विपाक प्रक्रिया अर्थात् कर्म एवं कर्म फल का चक्र अनन्त है। इस प्रक्रिया में प्रत्येक मनुष्य को अपने कर्मों का फल अनिवार्य रूप से भोगना ही पड़ता है। इस संदर्भ में कर्म का जो भेद सामान्यतः किया जाता है वह मनु-स्मृति और गीता के कर्म की सामान्य अवधारणा से भिन्न है। कर्म विपाक प्रक्रिया मे कर्म के तीन भेद माने गये हैं-संचित कर्म, प्रारब्ध कर्म तथा संचीयमान अथवा क्रियमाण कर्म। इन तीनों प्रकार के कर्मो का तिलक जी ने इस प्रकार विवेचना प्रस्तुत की है। किसी मनुष्य के द्वारा इस क्षण तक किया गया जो कर्म है चाहे वह कर्म इस जन्म में किया गया हो या पूर्व जन्म में, वह सब संचित कर्म कहा जाता है। इसी संचित कर्म का दूसरा नाम 'अदृष्ट' है और मीमांसकों की परिभाषा में 'अपूर्व' भी कहा जाता है। इन नामों की अन्वर्थता के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि जिस समय कर्म या क्रिया की जाती है उसी समय के लिए वह केवल दृश्य रहती है, उस समय के बीत जाने पर वह क्रिया स्वरूपतः तो शेष नहीं रहती किन्तु उसके सूक्ष्म अतएव अदृश्य संस्कार शेष रहते है जिन्हें न दीखने के कारण अदृष्ट और विलक्षण भावी फल के कारण होने से अपूर्व कहा जाता है। संचित कर्मो को एक साथ भोगना असम्भव है। क्योंकि इनके परिणामों के साथ शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म जुड़े रहते है। उदाहरण के लिए काई संचित कर्म स्वर्गप्रद तो कोई नरकप्रद हो सकता है। इसलिए इन दोनों के फलों को एक ही समय भोगना सम्भव नहीं है। इन्हें एक के बाद एक क्रमशः भोगना पड़ता है। अतः संचित में से जितने कर्मों के फलों का भोगना पहले प्रारम्भ होता है उतने अंश को ही प्रारब्ध कर्म कहते हैं। 'क्रियमाण' का तात्पर्य है वह कर्म जो अभी हो रहा है अथवा जो अभी किया जा रहा है।[१]

(घ) अन्य आधारों पर कर्म भेद

कर्म भेद के उक्त आधारों के अतिरिक्त कुछ अन्य आधार भी धर्मशास्त्रों में मिलते है जिनके आधार पर कर्मों का वर्गीकरण होता है। इन आधारों में कभी कर्म के कारणों जैसे-मन, वचन तथा शरीर को दिया

१—तिलक, गीता रहस्य -पृष्ठ २८४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता है तो कभी कर्मों से होने वाले भले या बुरे फल को दिया जाता है। मनु के अनुसार समस्त कर्म मन, वाणी तथा शरीर की ही उपज हैं और ये कर्म शुभ अथवा अशुभ प्रभाव उत्पन्न करते हैं जिसके अनुसार मनुष्यों की उत्तम, मध्यम या अधम गति (जन्मान्तर की प्राप्ति) होती है।[१] मनु के अनुसार शरीर के कर्म-दोष या पाप-कर्म मनुष्य को वृक्षादि-योनि तथा मन के कर्म-दोष चाण्डालादि कुल में जन्म लेने के लिए विवश करते हैं।[२] एक व्यक्ति शुभ कर्मों से देवभाव, शुभ-अशुभ, मिश्रित कर्मों से मनुष्यभाव को प्राप्त करता है तथा केवल अशुभ कर्मों से नीच योनियों में जन्म लेता है। उक्त तीन आधारों से अर्थात् शरीर वचन और मन से होने वाले पाप कर्मों की गणना करते हुए मनु ने उन्हें मानसिक पाप कर्म, वाचिक पाप कर्म तथा कायिक पाप कर्म कहा है। और उनमें विभिन्न अशुभ कर्मों की गणना भी की है।

मानसिक–पाप–कर्म

अन्याय से दूसरे की वस्तु प्राप्त करने की इच्छा, मन से दूसरों का अनर्थ चाहना और परलोक के अस्तित्व को न मानना, ये तीन मानसिक अशुभ कर्म है।

वाचिक पाप–कर्म

कठोर तथा असत्य वचन कहना, चुगली करना, अनावश्यक विवाद करना, ये चार वाचिक अशुभ कर्म हैं।[४]

१— शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसंभवम् ।
कर्मजा गतयोनृणामुत्तमाधममध्यमा, ।। मनु. १२.३-७

२— देवत्वं सात्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः ।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः ।। मनु. १२. ४० ।।

३— परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम् ।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम् ।। मनु. १२. ५ ।।

४— पारुष्यमनृतं चैव पैशून्यं चापि सर्वशः ।
असंबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ।। मनु. १२. ६ ।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कायिक पाप-कर्म

अन्याय से दूसरे की वस्तु या धन लेना, शास्त्र निषिद्ध हिंसा करना तथा परस्त्री गमन ये कायिक या शारीरिक पाप कर्म हैं ।[1]

मनु ने शुभ-अशुभ कर्मों के परिणामों का विवेचन उनसे प्राप्त होने वाले योनियों के आधार पर किया है । जैसे-ब्रह्महत्या करने वाला मनुष्य कुत्ता, बकरी, पक्षी आदि अथवा चाण्डाल योनि में जन्म लेता है ।[2] मद्यपान करनेवाला व्यक्ति कीड़े, मकोड़े, अथवा हिंसक पशुओं की योनि प्राप्त करता है । चोरी करने वाला व्यक्ति मकड़ी या पिशाच बनता है ।[3] गुरु पत्नी से संभोग करने वाला व्यक्ति घास, लता या कच्चा मांस खाने वाले पशु या क्रूर कर्म करने वाला प्राणी बनता है । चाण्डाल स्त्री से यौन सम्बन्ध करने वाले, परस्त्री गमन करने वाले तथा विभिन्न पाप करने वाले मनुष्यों की अधोगति का भी उल्लेख मनु ने किया है ।[4] इसी प्रकार मनु ने शुभ कर्मों की ओर संकेत करते हुए कहा है कि वेद का अध्ययन, तप' गुरुसेवा, सत्य, अहिंसा और इन्द्रिय शमन आदि सब शुभ कर्म है ।[5] सबसे उत्तम कर्म आत्म-ज्ञान है जो मोक्ष का मार्ग है । कर्मों के वर्गीकरण करते समय मनु ने कर्त्ता की कर्मफल के प्रति होने वाली मनोवृत्ति पर विशेष ध्यान दिया है । कर्म और कर्मफल परस्पर सम्बद्ध होते है । प्रत्येक शुभ एवं अशुभ कर्म अपना फल कर्त्ता को अवश्य देता है और कर्त्ता अपने किए हुए शुभ-अशुभ कर्मों का फल भी अवश्य पाता है । यह एक यान्त्रिक प्रक्रिया

१— अदत्तानामुपादानंहिंसा चैवाविधानतः ।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥ मनु, १२. ७ ॥

२— श्वसूकरखरोष्ट्राणां गोजाविमगपक्षिणाम् ।
चण्डालपुक्कसानां च ब्रह्महा योनिमृच्छति ॥ मनु, १२. ५५ ॥

३— कृमिकीटपतङ्गानां च विड्भुजां चैव पक्षिणाम् ।
हिंस्राणां चैव सात्वानांसुरापो ब्राह्मणो व्रजेत् ॥ मनु १२. ५६ ॥

४— तृणगुल्मलतानां च क्रव्यादां दंष्ट्रिणामपि ।
क्रूरकर्मकृतां चैव शतशो गुरुतल्पगः । मनु १२.५८

५— वेदाभ्यासस्तपोज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः ।
अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयसकरं परम् ॥ मनु १२.८३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के समान चलता है। किन्तु कर्त्ता को उसके कर्मफल से बांधने में केवल कर्म पर्याप्त नहीं है। उन कर्म फलों के प्रति कर्त्ता की मनोवृत्ति ही वह मुख्य कारण है जो कर्त्ता को उसके लिए कर्म के फल से बांधती है। कर्त्ता यदि कर्म फल की प्राप्ति की कामना से कर्म करता है तो उस कर्म का फल उसे अवश्य मिलेगा। किन्तु यदि कर्त्ता कर्म के फल की प्राप्ति की इच्छा न रखकर केवल धर्मबुद्धि या कर्त्तव्य बुद्धि से कर्म करता है तब उसे कर्मफल नहीं मिलता। उसके किए हुए कर्म से उसकी आत्म-शुद्धि होती है और वह मुक्ति का अधिकारी बन जाता है। इस दृष्टि को ध्यान में रखकर मनु ने वैदिक कर्मों के दो भेद किए हैं। प्रवृत्त कर्म तथा निवृत्त कर्म। इन्हें प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग भी कहा जाता है। प्रवृत्ति मार्ग का शाब्दिक अर्थ है वह मार्ग जो मनुष्य को संसार की ओर प्रवृत्त कराता है, कर्त्ता को उसके कर्मों के अनुसार फल देकर संसार चक्र को चलाने में सहायक होता है। निवृत्त कर्म भी कर्म है किन्तु यह कर्त्ता को उसके फल से हटाकर मोक्ष की ओर ले जाने में सहायक होता है। अतः इसे निवृत्ति मार्ग कहा जाता है। मनु ने प्रवृत्त कर्म और निवृत्त कर्म की व्याख्या करते हुए कहा है कि प्रवृत्त कर्म वे कर्म हैं जिनसे कर्त्ता को स्वर्ग एवं सुख आदि की प्राप्ति होती है। ये कर्म संसार में प्रवृत्त कराने वाले होते हैं। उदाहरण के लिए वैदिक ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों को लिया जा सकता है। इस लोक में या परलोक में इच्छा पूर्वक (सकाम भाव से) किया गया (ज्योतिष्टोमादि यज्ञ रूप) कर्म संसार में प्रवृत्ति का साधक होने से, प्रवृत्त कर्म कहा जाता है। द्वितीय निःश्रेयस (मुक्ति) साधक संसार से निवृत्ति कराने वाला (प्रतीकोपासनादिरूप) तथा इच्छा रहित निष्काम भाव से ब्रह्मज्ञान के अभ्यास पूर्वक किया गया कर्म (संसार-निवृत्ति साधक होने से) निवृत्त कर्म कहा जाता है।[१] सामान्यतया निष्काम भाव से किया गया कर्म निवृत्त कर्म कहा जाता है और सकाम भाव से किया गया कर्म 'प्रवृत्त कर्म' कहा जाता है।[२] निष्काम कर्म राग विहीन कर्म होते हैं इन कर्मों के द्वारा बन्धन की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः इनके द्वारा

१— सुखाभ्युदयिकं चैव नैश्रेयसिकमेव च।
प्रवृतं च निवृतं च द्विविधं कर्म वैदिकम्॥ मनु. १२.८८

२— इह-वामुत्र वा काम्यं प्रवृतं कर्म कीर्त्यते।
निष्काम ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते॥ मनु. १२.८९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाति, आयु, भोग ये तीनों ही प्राप्त नहीं होते। निष्काम बुद्धि से किया हुआ कर्म आगे बन्धन पैदा नहीं करता। 'सकाम कर्म' के द्वारा ही जाति, आयु और भोग ये तीनों प्राप्त होते हैं। इन कर्मों के द्वारा ही व्यक्ति एक विशिष्ट स्थान, कुल, वातावरण, जाति एवं शरीर को प्राप्त करता है।

शरीर को "भोगायतन" कहा गया है। सत्य तो यह है कि कर्म के द्वारा शरीर प्राप्त होता है और साथ ही साथ यह भी सत्य है कि शरीर के द्वारा कर्म होते हैं। संसार स्वयं कर्म-जाल है। इसकी उत्पत्ति सब प्राणी के कर्मो के ऊपर आधारित है। कर्मो को भोगने के हेतु देह की आवश्यकता होती है। शरीर के बिना कर्म और भोग दोनों ही नहीं होते। शरीर द्वारा किये गये कर्मो को चार वर्गों में रखा जा सकता है:—(क) शुक्ल (पुण्य या धर्म) (ख) कृष्ण (पाप या अधर्म) (ग) शुक्ल-कृष्ण (पुण्य-पाप मिश्रित) (घ) अशुक्ल-अकृष्ण (न पुण्य न पाप)।

जिन कर्मो से अपना पराया किसी का अहित नहीं होता, किसी प्राणी को कष्ट नहीं होता, बल्कि जो केवल परहित का साधक होते हैं, केवल दूसरों को सुख पहुँचाते हैं, वे कर्म ही "शुक्ल कर्म" कहे जाते हैं। समाज के लिए अकल्याणकारी अर्थात् असामाजिक कर्म जिनके द्वारा दूसरों का अहित होता है तथा प्राणियों को कष्ट होता है, वे कर्म "कृष्ण कर्म" कहलाते हैं। इस प्रकार के कर्म करने वाले व्यक्ति को पापी या पापात्मा कहा जाता है।

साधारणतया सामान्य व्यक्ति के कर्म पाप-पुण्य मिश्रित होते हैं ऐसे व्यक्तियों के कर्मों के द्वारा समाज में किसी का अहित होता है जिसके फलस्वरूप उसको दुःख प्राप्त होता है और किसी का हित होता है जिसके फलस्वरूप उसको सुख प्राप्त होता है। इस प्रकार कर्मों के फलों के अनुरूप गुणों वाली वासनाएं उत्पन्न होती है और इनके अनुसार ही प्राणी, जाति, वायु और भोग प्राप्त करता है और सुख दुःखादि फल भोगता है। इन वासनाओं के द्वारा कर्म में प्रवृत्ति होती है और पुनः कर्म के द्वारा वासनाएं बनती है। इस रूप में "पुण्य-पाप मिश्रित" कर्मों वाले प्राणियों को उनकी मनोवृत्तियों के कारण सुख-दुःख रूपी कर्मफल प्राप्त होते रहते हैं। वासनामय कर्म अर्थात् राग पूर्ण कर्म ही प्राणियों को निरन्तर संसार चक्र में घुमाते रहते हैं। इसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए यह कहा जाता है कि वासनामय कर्म ही संसार है। इनके बिना संसार चक्र समाप्त हो जाता है। कर्म स्वयं में फल प्रदान करने की शक्ति नहीं रखते। यह तो कर्ता की मनोवृत्ति है जो फल प्रदान करने की क्षमता कर्म में उत्पन्न करती है। चूँकि ये कर्म अशुभ और शुभ मिश्रित होते हैं। इनके फल सुख और दुःख मिश्रित होते हैं अतः इन्हें शुक्ल-कृष्ण मिश्रित कर्म या पुण्य-पाप मिश्रित कर्म कहा जाता है।

जो कर्म फलों की आशा से रहित होकर किए जाते हैं उन निष्काम कर्मों को 'अशुक्ल-अकृष्ण कर्म' कहते हैं। ये कर्म किसी भी मनोवृत्ति से नहीं किये जाते। भावनाओं से प्रेरित होकर न किये जाने के कारण इनसे धर्म-अधर्म रूप कर्माशय उत्पन्न नहीं होते और इसी कारण इन कर्मों का फल भी प्राप्त नहीं होता। कर्मयोगी लोग इस प्रकार के कर्म करते हैं। ये कर्म वासना रहित होते हैं अतः ये धर्म-अधर्म रूप नहीं होते। यह तो स्पष्ट है कि कर्मों को किये बिना प्राणी का शरीर जीवित नहीं रह सकता फिर भी कर्मों में प्रवृत्त करने वाली वासना से बचा जा सकता है क्योंकि वासना के कारण ही अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये पाँच क्लेश उत्पन्न होते हैं। वासना रहित कर्म केवल कर्त्तव्य के लिए ही किये जाते हैं। आत्मसंतुष्ट व्यक्ति के लिए कोई भी फल शेष नहीं रह जाता उसके जितने कार्य होते हैं वे सब वासना रहित होते हैं। उसके सम्पूर्ण कार्य ईश्वरार्पण बुद्धि से किये जाते हैं अतः वे समाज के कार्य होते हैं। वह अज्ञानी लोगों की तरह अपने को कर्म करने का अभिमानी कर्ता समझकर उनमें आसक्त नहीं होता। यही कारण है कि वह समस्त कर्मों को करते हुए भी निर्लिप्त रहता है।[१]

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि (मनुष्य) प्रवृत्त कर्म का सेवन कर देवों की समानता (स्वर्ग) पाता है और निवृत्त कर्म का सेवन करता हुआ पंचभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) का अतिक्रमण कर पुनर्जन्म रहित होकर मोक्ष प्राप्त करता है।[२]

१— कल्याण, परलोक और पुनर्जन्मांक, कर्म विपाक मीमांसा से पृष्ठ २५१ से उद्धृत।

२— प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम्।
निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै॥ मनु. १२.९०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्म तथा उसका फल

कर्म और उसके फल के सम्बन्ध में धर्मशास्त्रों की मान्यता का प्रभाव भारतीय जीवन और दर्शन दोनों में परिलक्षित होता है। जीवन में यह विश्वास है कि व्यक्ति अपने कर्मों के अनुसार उत्तम, मध्यम एवं निम्न गति प्राप्त करता है। दर्शन शास्त्रों में कर्म और उसके फल के सम्बन्ध की सम्भावना, अनिवार्यता और अपरिहार्यता आदि का बड़ा सूक्ष्म विवेचन किया गया है। योग दर्शन में इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि कर्म और उसके फल के सम्बन्ध को समझने के लिए क्लेश, कर्म, विपाक तथा आशय के स्वरूप एवं परस्पर सम्बन्ध को समझना आवश्यक है। क्लेश पाँच हैं अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। ये कर्म के कारण बनते हैं तथा पुनः कर्मों से उत्पन्न होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि बीज और वृक्ष की भाँति क्लेश और कर्म का सम्बन्ध चलता रहता है। प्रथमतः कर्म क्लेश से उत्पन्न होता है और आगे चलकर वह क्लेशों को जन्म देता है और पुनः क्लेश से कर्म। इस प्रकार यह प्रक्रिया चलती रहती है। कर्मों के विपाक या फल को तीन वर्गों में रखकर समझा जा सकता है वे हैं: जाति, आयु और भोग। कर्म के कारण ही व्यक्ति विभिन्न उच्च, मध्य एवं निम्न योनियों में जन्म ग्रहण करता है। किसी योनि विशेष में जन्म लेना न तो आकस्मिक है और न उसकी इच्छा पर निर्भर। यह तो उसके पूर्व जन्म के कर्मों पर आधारित है। वह एक बाध्यता है। उसके पूर्व कर्म जिस प्रकार के जन्म के उपादान संग्रह करेंगे उस प्रकार का जन्म उसे अवश्य ही ग्रहण करना पड़ेगा। अतः कर्म का प्रथम फल या परिणाम जाति या जन्म है। कर्म का दूसरा परिणाम आयु या जीवन की अवधि है। विभिन्न वर्ग के प्राणियों की आयु भिन्न-भिन्न होती है। कुछ प्राणी कुछ क्षण या कुछ दिन जीवित रहते हैं तो दूसरे कुछ महीने और कुछ वर्ष। ऐसे भी प्राणी संसार में हैं जो सैकड़ों वर्षों तक जीवित रहते हैं। प्रत्येक वर्ग के व्यक्तियों के जीवन में भी भेद पाया जाता है। यह आवश्यक नहीं कि कोई प्राणी किसी वर्ग विशेष में जन्म ले लेता है तो वह उस वर्ग की अधिकतम आयु तक जीवित रहे। इस कम या अधिक जीवन अवधि का कारण भी कर्म है। जिसका कर्म जितने दिन के भोग के लिए रहता है वह प्राणी उतने दिन तक जीवित रह पाता है। कर्म का तीसरा परिणाम फल भोग है। भोग दुःख और सुख के अनुभव को कहा जाता है। प्राणियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को जन्म तथा जीवन इस भोग के लिए ही प्राप्त होता है। जिस प्राणी का कर्म जिस प्रकार के भोग की सामग्री का संग्रह करने में समर्थ होता है उस प्राणी को उसी प्रकार का फल भोगना पड़ता है। जीवन और भोग भी परस्पर सम्बद्ध हैं। जीवन भोग के लिए प्राप्त होता है और भोग जीवन में ही सम्भव है। भोग समाप्त होते ही जीवन समाप्त हो जाता है। किन्तु जीवन की समाप्ति हो जाने से कर्म फल से छुटकारा नहीं मिल जाता। जीवन के न रहने पर भी कर्म के आशय बने रहते हैं। आशय का तात्पर्य है कर्मों के वासनात्मक संस्कार। जन्म, जीवन और भोग कर्मों के दृष्ट या बाह्य विपाक हैं किन्तु आशय कर्मों के अन्तः विपाक हैं। ये आशय ही जन्म, जीवन तथा भोग की भूमिका उत्पन्न करते हैं। एक जन्म के जीवन और भोग के समाप्त होते ही दूसरे जन्म के जीवन और भोग की भूमिका आशय में तैयार रहती है।[1] अतः मृत्यु एक जीवन की समाप्ति है जीवन की समाप्ति नहीं। इसी बात को स्पष्ट करते हुए गीता में कहा गया है कि जन्म लेने वाले की मृत्यु निश्चित है और मृत्यु प्राप्त व्यक्ति का पुनर्जन्म भी निश्चित है।[2]

जन्म-मृत्यु तथा कर्म-फल भोग की शृंखला का नाम ही संसार या बन्धन है। इससे छुटकारा प्राप्त करने के लिए विभिन्न दर्शनों में उपाय बतलाये गये हैं। अधिकांश दर्शन कर्म सन्यास का समर्थन करते हैं किन्तु धर्मशास्त्रों तथा गीता में कर्म करते हुए कर्म के बन्धन से छुटकारा दिलाने वाले मार्ग का विशेष समर्थन है। मनु ने उसे निवृत्त कर्म कहा है और गीता में उसे निष्काम कर्म या कर्मयोग कहा गया है।

निष्काम कर्म

गीता के अनुसार निष्काम कर्म वह है जो फल की आशा को त्याग कर किया जाता है। सुख-दुःख, जय-पराजय, हानि-लाभ का विचार या आशा किये बिना निष्काम बुद्धि से सद्कार्य में लगे रहना ही निष्काम कर्मयोग है। निष्काम कर्मयोग मोक्ष का सरलतम मार्ग है। एक बार किया गया कर्म कभी समाप्त नहीं होता उसकी प्रतिक्रिया चलती रहती है। अपने समस्त कर्मों को ईश्वर को समर्पित करके स्वयं को निमित्त मात्र मानना

१— योगसूत्र, व्यास भाष्य २. १३.

२— जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च। गीता.२.२७.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और कर्म के परिणाम पर अपना अधिकार न मानते हुए मोह और अहंकार से परे रहकर अपने धर्म के अनुसार बरतना निष्काम कर्मयोग है। गीता में विवेचन है कि संसार के चाल-ढाल परखने से दिखाई पड़ता है कि आत्मज्ञानी पुरुषों के जीवन बिताने के अनादिकाल से दो मार्ग चले आ रहे हैं[1]। पूर्ण आत्मज्ञान प्राप्त करने पर जहाँ शुक सरीखे पुरुष संसार छोड़कर आनन्द से भिक्षा मांगते फिरते हैं, वहाँ जनक सरीखे दूसरे आत्मज्ञानी ज्ञान के पश्चात् भी स्वधर्मानुसार लोगों के कल्याणार्थ संसार के सैकड़ों कर्मों में अपना समय लगाया करते हैं। पहले मार्ग को सांख्य या सांख्यनिष्ठा कहते हैं और दूसरे को कर्मयोग या योगनिष्ठा कहते हैं। यद्यपि दोनों निष्ठाएँ प्रचलित हैं पर कर्मयोग ही श्रेष्ठ है ऐसा माना गया है। कर्मयोग या निष्काम कर्मयोग के अनुष्ठान के लिए आत्मा के स्वरूप का ज्ञान होना आवश्यक है। जब यह ज्ञान बुद्धि में प्रतिष्ठित हो जाता है कि आत्मा का न तो कभी जन्म होता है और न कभी मृत्यु। वह अज नित्य, शाश्वत और पुरातन है एवं शरीर के विनाश होने पर भी उसका विनाश नहीं होता। जिस प्रकार मनुष्य अपने पुराने वस्त्रों को छोड़कर नये वस्त्रों को धारण करता है, उसी प्रकार देही शरीर का स्वामी आत्मा पुराने शरीर को त्यागकर दूसरा नया शरीर धारण करता है[2]। इसलिए तब यह आवश्यक है कि जन्म और मृत्यु के विषय में व्यर्थ का शोक न कर मनुष्य अपना कर्म करता रहे। इस कर्मयोग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें एक बार आरम्भ किये हुए कर्म का नाश भी नहीं होता अर्थात् कर्मयोग मार्ग में यदि एक जन्म में सिद्धि न मिले तो किया हुआ कर्म व्यर्थ न जाकर अगले जन्म में उपयोगी होता है और प्रत्येक जन्म में इसकी वृद्धि होती रहती है एवं अन्त में इससे कभी न कभी सच्ची सद्गति अवश्य मिलती है[3]।

१—श्री बाल गंगाधर तिलक, गीता रहस्य, ३.३

२— श्री बाल गंगाधर तिलक, गीता रहस्य,

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायंभूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ २.२०–२२

३—श्री बाल गंगाधर तिलक, गीता रहस्य, ६. ४०–४६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्मवाद या कर्म का सिद्धान्त

भारतीय दर्शन, संस्कृति और सामाजिक जीवन में यदि कोई सिद्धान्त सर्वमान्य रूप से स्वीकृत है तो वह है कर्मवाद या कर्म का सिद्धान्त। भारतीय विचारधारा में अनेक प्रकार की दृष्टियां जगत्, ईश्वर एवं आत्मा के सम्बन्ध में उपलब्ध होता है किन्तु सभी के मूल में कर्मवाद का सिद्धान्त स्वीकृत है। इसलिए कर्मवाद को समझे बिना भारतीय दर्शन, भारतीय संस्कृति और भारतीय समाज को भलीभांति नहीं समझा जा सकता।

कर्मवाद एक व्यापक सिद्धान्त है उसकी यह मान्यता है कि समस्तविश्व, ब्रह्माण्ड, व्यक्ति और समाज एक व्यापक शाश्वत एवं अनुलंघ्य नियम में बँधे हुए हैं। यह अनुलंघ्य नियम है कर्म का नियम। इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति जो कुछ भी करता है चाहे वह शुभ करता है या अशुभ, उचित करता है या अनुचित, सबका फल अवश्य होता है। और वह फल उस कर्त्ता को भोगना पड़ता है। इतना ही नहीं इसके अन्तर्गत यह भी स्पष्ट है कि कोई भी कर्त्ता अपने किये हुए कर्मों के फल से न वंचित रह सकता है और न छुटकारा पा सकता है[1]। इसके साथ यह भी मान्यता है कि व्यक्ति जो कुछ भी दुःख या सुख भोगता है वह किसी अन्य का किया हुआ नहीं होता अपितु उसके अपने कर्मों के ही फल या परिणाम होता है।

इस कर्मवाद के विश्लेषण करने पर इसके अन्दर मुख्य तीन पहलू आते हैं कर्त्ता, क्रिया और फल। अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि कर्त्ता जब कोई कर्म या क्रिया करता है तो उसकी प्रतिक्रिया अन्य वस्तु या व्यक्ति पर तत्काल ही पड़ जाती है और इसके बाद वह कर्म समाप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में कर्त्ता को भविष्य में होने वाले फल के साथ उस कर्म के सम्बन्ध की योजना कैसे सम्भव है? क्योंकि यह साधारण-सा नियम है कि कारण के रहने पर ही कार्य होता है और कार्य की उत्पत्ति के पहले कारण के नष्ट हो जाने पर कार्य का होना सम्भव नहीं है। यदि अपनी तात्कालिक प्रति-

---

१ — अवश्यमेव भोगतव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।
येनैव यद्यथा पूर्वं कृतं कर्म शुभाशुभम्।
स एव तत्तथा भुंक्ते नित्यं विहितमात्मना ॥ इतिहाससमुच्चय : २.५२.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रिया से अतिरिक्त किसी अन्य फल का कारण भी उक्त क्रिया को माना जाय तो उस फल तक उसको स्थायी मानना होगा। अन्यथा उस फल का वह कारण कैसे माना जा सकेगा ? किन्तु यह भी अनुभव सिद्ध है कि कर्म क्रिया रूप होने के कारण तत्काल ही अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर नष्ट हो जाता है। इस विरोध को बहुत गहराई से भारतीय विचारधारा में समझा गया है और इसको दूर करने के लिए दार्शनिक दृष्टि से इस पर पर्याप्त चिन्तन भी हुआ है।

कर्म और कर्मफल के बीच कार्य कारण सम्बन्ध को लेकर अनेक प्रकार की स्थापनाएँ भारतीय दर्शन में उपलब्ध होती है किन्तु यहाँ हम केवल न्याय दर्शन और मीमांसा दर्शन के दृष्टिकोण का संक्षिप्त विवरण दे रहे हैं। न्याय दर्शन का कहना है कि जब कोई कर्त्ता कोई कर्म या क्रिया करता है तो उसके दो प्रकार की प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। एक प्रतिक्रिया तो दृष्ट है जिसे सामान्यतया लोग प्रतिक्रिया कहते हैं और दूसरी प्रतिक्रिया अदृश्य है जो बाहर न उत्पन्न होकर उस कर्त्ता में उत्पन्न होती है। इसे ही अदृष्ट या पुण्य-पाप कहा जाता है। यह कर्त्ता की आत्मा में उत्पन्न होता है और तबतक के लिए विद्यमान रहता है जबतक उसका फल उस कर्त्ता को प्राप्त न हो जाय। अत: कर्म और कर्मफल के बीच कार्य कारण सम्बन्ध मानने में कोई बाधा नहीं है। क्योंकि कर्म अदृष्ट द्वारा फल का जनक होता है और आत्मा के नित्य होने से अदृष्ट आत्मा में चिरस्थायी रहता है। जब वह अदृष्ट फलोन्मुख होता है उसका फल उस कर्त्ता को प्राप्त हो जाता है और फल प्राप्त होने के बाद वह अदृष्ट समाप्त हो जाता है।

इस अदृष्ट की मान्यता के साथ नैयायिकों ने ईश्वर की मान्यता को भी जोड़ दिया है। उनका कहना है कि अदृष्ट स्वयं में एक गुण विशेष मात्र है वह फल की व्यवस्था अपने आप करने में समर्थ नहीं है। इसीलिए एक सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् चेतन तत्त्व की आवश्यकता है जो समस्त प्राणियों के अदृष्ट को समझकर उसके अनुसार फल का विधान कर सके और उन कर्मो के करने वाले प्राणियों को फल प्रदान करने की परिस्थिति तैयार करे तथा उन्हें अपने कर्मों के फल भोगने के लिए बाध्य करे।

इसके विपरीत मीमांसकों का कहना है कि कर्म एक शाश्वत नियम 'चाहिए' या विधि वाक्य से प्रेरित होकर किये जाते हैं। इन कर्मो से एक अपूर्व उत्पन्न होता है वह अपूर्व कर्त्ता में उत्पन्न न होकर उस कर्म से होने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाले फल में उत्पन्न होता है। जिस प्रकार खेत जोतने से, दधि मथने से या चावल पकाने से उर्वरक शक्ति खेत में, मक्खन दधि में और विक्रांत चावल में उत्पन्न होती है, उसी प्रकार समस्त कर्मों का फल उन-उन वस्तुओं में होता है जो उस कर्म के फल होते हैं। कर्म एक शाश्वत नियम होने के कारण अपना अपूर्व उन फलों में उत्पन्न कर देता है। इसके लिए ईश्वर की मान्यता आवश्यक नहीं है। अवसर आने पर वे फल स्वयं ही कर्त्ता को अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं और कर्त्ता को वह फल भोगना पड़ता है।

कर्मवाद के सिद्धान्त के अन्तर्गत यह भी स्पष्ट स्वीकार किया गया है कि यह आवश्यक नहीं कि व्यक्ति जो कुछ कर्म अपने इस जीवन में करता है उन सबका फल उसको उसी जीवन में प्राप्त हो जाय। और जो कुछ भी वह फल सुख या दुःख रूप में इस जीवन में भोगता है उन सब भोगों का कारण कहलाने वाला कर्म केवल इसी जन्म में हो। कर्मवाद का सिद्धान्त अनिवार्य रूप से पूर्वजन्म और उत्तरजन्म या जन्म-मरण के चक्र की स्थापना करता है। समस्त भोगों की व्याख्या इस आधार पर की जाती है कि मनुष्य या प्राणी अपने जीवन में जो सुख या दुःख भोगता है उन सबका कारण इस जन्म के हो कर्म नहीं होते अपितु उसके पूर्व जन्म के कर्म भी होते हैं इसलिए कर्मवाद के सिद्धान्त पर यह आरोप नहीं बनता कि जन्म के पूर्व व्यक्ति की स्थिति न होने के कारण उसका कोई कर्म नहीं होता और तब कोई जन्म से अन्धा, लँगड़ा, रोगी कैसे हो जाता है और कोई व्यक्ति जन्म से सम्पन्न या दरिद्र घर में कैसे उत्पन्न हो जाता है? क्योंकि कर्मवाद केवल इसी जन्म के कर्म पर आधारित सिद्धान्त नहीं है वह इस जन्म से पूर्व जन्म को भी स्वीकार करता है। कर्मवाद के आधार पर उक्त प्रश्नों के उत्तर सरलता से दिये जा सकते हैं कि जन्म से सुख-दुःख प्राप्त करने वाला व्यक्ति अपने पूर्व जन्म के कर्मों का फल प्राप्त करता है। उसी प्रकार यह अनुभव विरोध कि जो व्यक्ति अपने जीवन में अच्छा कर्म करता है, दुःखी रहता है और जो बुरा कर्म करता है वह सुखी रहता है, कर्मवाद के सिद्धान्त में बाधक नहीं बन पाता। क्योंकि कर्मवाद के आधार पर व्याख्या करने वाले यह कहते हैं कि इस समय प्राप्त होने वाला सुख-दुःख पिछले जन्म के किए हुए कर्मों के पाप-पुण्य के फल हैं और इस जन्म में किये जाने वाले शुभ और अशुभ कर्म जिनका फल इस जन्म में नहीं मिल पाता अपना फल उत्तर जन्म में देते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्म सिद्धान्त की कुछ आधारभूत मान्यताएं हैं। इन्हीं आधारभूत मान्यताओं पर कर्मवाद के सिद्धान्त को भलीभाँति समझा जा सकता है। इन आधारभूत मान्यताओं का यहाँ संक्षेप में वर्णन करना विषय की स्पष्टता के लिए आवश्यक प्रतीत प्रोता है। ये विशेषताएं निम्नलिखित हैं—

(१) कर्म केवल भौतिक क्रिया ही नहीं है अपितु इसके अन्तर्गत मानसिक, बौद्धिक, भावात्मक और आध्यात्मिक सभी क्रियाओं का समावेश है। कर्म का सम्बन्ध केवल स्थूल शरीर से नहीं है। अपितु सूक्ष्म शरीर से भी है। स्थूल पंच भौतिक शरीर मृत्यु के उपरान्त नष्ट हो जाता है किन्तु सूक्ष्म शरीर कर्मो के समस्त संस्कारों के साथ मृत्यु के उपरान्त भी रहता है, जिसके साथ आत्मा एक योनि से दूसरे योनि में जाकर जन्म ग्रहण करता है।

(२) कर्मवाद के अनुसार कर्मों के संस्कार धर्म अथवा अधर्म, पुण्य अथवा पाप, पूर्ण सुरक्षित रहते हैं। न तो किये हुए कर्म का नाश सम्भव है और न अकृत कर्म का अभ्युपगम ही सम्भव है। इसे ही कृतप्रणाश तथा अकृताभ्युपगम कहा जाता है। अर्थात् जब कोई कर्त्ता कर्म करता है तो वह कर्म अपने संस्कार रूप में तब तक बना रहता है जब तक उसका फल उस कर्त्ता को प्राप्त न हो जाय। दूसरी ओर कर्त्ता को कोई भी ऐसा फल नहीं मिलता जो उसके पूर्व कर्म का परिणाम या फल न हो।

(३) कर्मवाद के अनुसार कर्मचक्र अनादि और अनन्त है। इसे चक्र कहने का तात्पर्य यह है कि यह एक वृत्त के रूप में है जिसमें आदि और अन्त बतलाना या खोजना सम्भव नहीं है। प्राणी अपने पूर्व कर्मो के अनुसार जन्म लेता है, पुनः कर्म करता है और पुनः जन्म लेता है। कर्म, जन्म और भोग का यह चक्र निरन्तर चलता रहता है। इसी को कर्म विपाक भी कहा जाता है। इसी आधार पर यह कहा जाता है कि कोई सृष्टि आदि सृष्टि नहीं और कोई प्रलय अन्तिम प्रलय नहीं। प्रत्येक सृष्टि अपने आप में तो नवीन है किन्तु उसका आधार उसके पूर्व की सृष्टि है। जब ब्रह्मा सृष्टि करना प्रारम्भ करते हैं तो उस सृष्टि में उस सृष्टि से पूर्व वाली सृष्टि के प्राणियों के उन कर्मों को ध्यान में रखते हैं जिनका फल अभी तक उन कर्मों के कर्त्ताओं को प्राप्त नहीं हुआ रहता है। अतः नवीन सृष्टि के प्राणियों की योनि का निर्धारण उनको प्राप्त होने वाले फल की व्यवस्था आदि उनके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्व जन्म के कर्म के आधार पर किया जाता है[१]।

(४) कर्मवाद के अनुसार कर्म का परिणाम संस्कार के रूप में कर्त्ता के चरित्र प्रवृत्ति, विचार और भावनाओं पर पड़ता है। यह संस्कार उसके व्यक्तित्व का एक अंग बन जाता है। जीवन पर्यन्त तो यह उसके साथ रहता ही है, मरने के बाद दूसरे जीवन में भी यह उसके साथ जाता है। आज के कर्म का फल कल भोगना पड़ता है और कल के कर्मफल का भोग परसों। इस प्रकार कर्मफल का यह क्रम सदैव चलता रहता है।

(५) कुछ विचारकों का मत है कि कर्मवाद के सिद्धान्तों के अनुसार आत्मा की अमरता को स्वीकार करना अनिवार्य है। क्योंकि जब पूर्व जन्म के कर्मों का फल इस जन्म में मिलता है और इस जन्म के कर्मों का फल अगले जन्म में मिलता है तो फल पाने वाले आत्मा का अस्तित्व तीन जन्मों तक अवश्य ही स्वीकार करना होगा। इस प्रकार अनेक पूर्व जन्म और अनेक उत्तर जन्म की परम्परा स्वीकार करने में आत्मा को निर्विवाद रूप से नित्य एवं अविनाशी मानना पड़ेगा। किन्तु भारतीय दर्शन के सम्यक् पर्यालोचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्मवाद से अनिवार्य रूप में पुनर्जन्म तो सिद्ध हो सकता है। किन्तु कर्मवाद के आधार पर आत्मा की अमरता अनिवार्य रूप से सिद्ध नहीं हो पाती। हम देखते हैं कि बौद्ध दर्शन में भी कर्मवाद का सिद्धान्त मान्य है और इसके आधार पर पुनर्जन्म को वहाँ भी स्वीकार किया है किन्तु बौद्ध लोग आत्मा की अमरता या नित्यता को स्वीकार नहीं करते। इसलिए उन्हें अनात्मवादी कहा जाता है। वे क्षणिक चेतना के प्रवाह को स्वीकार कर कर्मवाद और पुनर्जन्म की व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते हैं।

(६) कर्मवाद का सिद्धान्त सामाजिक जीवन और व्यक्तिगत जीवन में विद्यमान अपरिहार्य विषमता और विसंगतियों में रहने वाले मानव को अपने जीवन से संतुष्ट रहने के लिए एक दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है। जीवन की परिस्थितियाँ समान नहीं हैं। कोई धनी है, कोई गरीब, कोई

१—येषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रतिपेथिरे
तान्येव प्रतिपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः।। महाभारत, शंतिपर्व, २३१. ४८. ४९
यं तु कर्मणि यस्मिन्स न्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः।
स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानः पुनः पुनः ।। मनु, १. २८ ।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुखी, कोई दुःखी। ऐसी स्थिति में मनुष्य में निराशा और हताशा का होना स्वाभाविक है। यदि उसके पास इन विसंगतियों को सुलझाने का कोई ठोस आधार न हो। कर्म का सिद्धान्त एक ठोस दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है जिसके आधार पर यह विश्वास किया जा सकता है कि मनुष्य के वर्तमान जन्म में जो परिस्थितियाँ हैं वह उसके पूर्वजन्मों के कर्मों के फल के रूप में प्राप्त हुई है। उसने जिस वर्ण जिस व्यवस्था जिस परिवेश और परिवार में जन्म ग्रहण किया है वे सब उसके प्रारब्ध से ही प्राप्त हुए हैं।

(७) कर्मवाद का सिद्धान्त इस आस्था को भी दृढ़ करता है कि मनुष्य अपने कर्मों के फल का भोग या तो स्वर्ग या नरक के रूप में मृत्यु के पश्चात् प्राप्त करता है या पुनर्जन्म में सुख और दुःख के रूप में प्राप्त करता है।

(८) कुछ चिन्तकों का यह मत है कि कर्मवाद अनिवार्य रूप से नियतिवाद या भाग्यवाद का समर्थन करता है क्योंकि कर्मवाद के 'अनुसार मानव जीवन की सारी विषमताओं की व्याख्या पुनर्जन्म के आधार पर हो जाती है।

अतः यह कहा जा सकता है कि मानव का वर्तमान जीवन पूर्व कर्मों से पूर्णरूप से नियमित और नियन्त्रित है। ऐसी स्थिति में उसे कुछ भी करने की स्वतन्त्रता नहीं है वह केवल वही कर सकता है जो उसके पूर्व संस्कार करने के लिए प्रेरित करते हैं। किन्तु गम्भीरता पूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्मवाद अनिवार्य रूप से भाग्यवाद या नियतिवाद नहीं है। कुछ अंश तक इसमें नियतिवाद की झलक अवश्य मिलती है किन्तु यह नियतिवाद या भाग्यवाद का पूर्ण रूप से समर्थक नहीं है। कर्मवाद का सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि व्यक्ति को जन्म से प्राप्त होने वाले परिवेश, शारीरिक और मानसिक क्षमताएँ उसके प्रारब्ध के कारण हैं इसमें उसका कोई स्वतन्त्र अधिकार नहीं है कि वह इसे बदल सके। जन्म स्थान माता-पिता, परिवार, परिवेश आदि ऐसे तथ्य हैं जिसमें उसे चुनाव या परिवर्तन की स्वतन्त्रता नहीं है फिर भी उसे इनके उपयोग करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है। उसके संकल्प में इतनी शक्ति और क्षमता है कि वह अपने पुराने संस्कारों को नये कर्मों के द्वारा बदल सकता है, नये संस्कार अर्जित कर सकता है और अपने भविष्य जीवन को नयी दिशा दे सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कर्मवाद पुरुषार्थवाद का समर्थन करता है नियतिवाद या भाग्यवाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का नहीं। किसी भी व्यक्ति को जो कुछ प्राप्त होता है वह उसके कर्मों के फल हैं किन्तु जिन कर्मों का अभी फल नहीं हुआ है उन कर्मों के संस्कार को नये कर्मों के द्वारा दृढ़ संकल्प, संयम, गुरुपदेश आदि से बदला जा सकता है।

कर्मवाद के सम्बन्ध में मनु का दृष्टिकोण

ऊपर यह स्पष्ट किया जा चुका है कि मनु समस्त कर्मों को मन, वाणी और शरीर की उपज मानते हैं। कर्म के अच्छे या बुरे प्रभाव उत्पन्न होते हैं जिसके अनुसार प्राणी को दूसरे जन्म में उत्तम, मध्यम या अधम गति प्राप्त होती है। मन, वाणी और शरीर मनुष्य के समस्त कर्मों के साधन हैं। इन्हीं से वह पुण्य कर्म करता है और स्वर्ग, देव आदि योनियों में जाकर सुखभोग प्राप्त करता है। इन्हीं के द्वारा वह पाप कर्म भी करता है जिससे उसको नरक या दुःख भोगना पड़ता है तथा निम्न योनियों में जन्म ग्रहण करना पड़ता है। मनु ने शरीर, मन और वाणी से होने वाले पाप कर्मों की गणना तथा उनसे होने वाले फलों का वर्णन बड़े विस्तार के साथ किया है। मन से होने वाले पापों में, अन्याय से दूसरे की चीजों को लेने की इच्छा, मन से दूसरों का बुरा चाहना, परलोक में अविश्वास करना आदि अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। वाणी से होने वाले पापों में मनु ने कठोर और असत्य भाषण सब प्रकार की चुगली तथा अनावश्यक बकवाद आदि को अधिक महत्त्व दिया है। शारीरिक पापों में :-अन्याय से दूसरों के धन का अपहरण, शास्त्र के विधान से अतिरिक्त हिंसा, परस्त्री के साथ अनैतिक सम्बन्ध स्थापित करना, आदि को प्रमुख माना गया है। मनु का कहना है कि शरीर के कर्म दोषों या पापकर्मों से मनुष्य वृक्ष आदि योनि, वाणी के कर्मदोष से पक्षी और मृग की योनि तथा मन आदि पाप कर्मों के दोष से चाण्डाल आदि कुल में जन्म लेता है। व्यक्ति, शुभ कर्मों से देवत्व प्राप्त करता है, मिश्रित कर्मों से मनुष्यत्व प्राप्त करता है और अशुभ कर्मों से नीच योनियों में जन्म लेता है[१]। इस प्रकार हम देखते हैं कि मनु ने शुभ और अशुभ कर्मों की गणना बड़े विस्तार के साथ की है तथा उनसे प्राप्त होने वाले शुभ और अशुभ फल योनियों का वर्णन भी विस्तार पूर्वक किया है। जिसका सारांश केवल इतना

१— शुभैः प्रयोगैर्देवत्वं व्यामिश्रैर्मानुषो भवेत्।
अशुभैः केवलैश्चैव तिर्यग्योनिषु जायते ॥ मनु, १२. (२) ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि कर्मवाद का सिद्धान्त अटल और अनिवार्य है कर्म अपना फल अवश्य देते हैं। शुभ कर्मों का शुभ फल होता है और अशुभ कर्मों का अशुभ फल होता है।

पुनर्जन्म

पुनर्जन्म का अर्थ है "नया जीवन"। जहाँ जीवन नहीं हैं वहाँ निर्वाण मुक्ति या मोक्ष है। मोक्ष में पुनर्जन्म का कारण नहीं है। कार्य का निर्माण कारण पर आधारित है। पुनर्जन्म का कारण है कर्म। कर्म को माया, प्रकृति बन्धन, अविद्या, अज्ञान आदि नाम से अभिहित किया गया है। अज्ञान की गाँठ खुलने का नाम मोक्ष है। लिंग और सूक्ष्म शरीर की वियोजित अवस्था मोक्ष है। जहाँ नित्य सुख है, वहाँ मोक्ष है। इसी प्रकार मोक्ष की व्याख्या विविध प्रकार से की गयी है जिनसे यह ध्वनित होता है कि मुक्तात्मा का पुनर्जन्म नहीं होता। पुराणों तथा गीता में अनेक स्थलों पर "पुनर्जन्म न विद्यते" आदि के द्वारा यह संकेत किया गया है कि कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनका पुनर्जन्म नहीं होता है। पुनर्जन्म का प्रवाह अविच्छिन्न प्रवाह है। उसे रोकना है तो उसके कारण कर्म प्रवाह को रोकना होगा।

कर्म न आत्मा का गुण है न विशेषता, वह एक विजातीय तत्त्व है। शुद्ध आत्मा स्वरूपतः विमुक्त है इसलिए शुद्ध आत्मा में कर्म का आकर्षण नहीं होता। जिस आत्मा के साथ कर्म का सम्पर्क है, वही आत्मा कर्म का आकर्षण करता है। कर्म ग्रहण के तीन केन्द्र हैं—मन, वाणी और शरीर। इन तीनों की जो शुभात्मक अवस्था है, वह शुभ कर्म को ग्रहण करती है और जो अशुभात्मक प्रवृत्ति है वह अशुभ कर्म को। कर्म दोनों ही हेय है। आत्मा का दोनों से विमुक्त होना निर्वाण है। यह आत्मा की पूर्ण शुद्ध-दशा है। यह कर्म निरोध की प्रक्रिया है। कर्म के निरोध की प्रक्रिया बतलाते हुए कहा गया है कि पहले अशुभ का निरोध होता है पुनः सत्त्व का प्रवर्तन किया जाता है। अशुभ निरोध एवं सत्व के प्रवर्तन के अनन्तर शुभ निरोध का अभ्यास करना पड़ता है। जब शुभ और अशुभ कर्म पूर्ण रूप से और सदा के लिए समाप्त हो जाते हैं तब व्यक्ति को मुक्ति या मोक्ष प्राप्त होता है। शुभ-अशुभ दोनों के रहने अथवा दोनों में से किसी भी एक के रहने पर पुनर्जन्म अपरिहार्य है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुनर्जन्म और कर्मवाद

भारतीय धर्मशास्त्रों में कर्मवाद के सिद्धान्त के आधार पर पुनर्जन्म की मान्यता को स्वीकार किया गया है। इसके आधार पर यह माना जाता है कि आवागमन का चक्र अनादिकाल से प्रवर्तमान है। संसार में रहते हुए प्रत्येक व्यक्ति शुभ अथवा अशुभ कर्मों के करने में प्रवृत्त रहता ही है और जबतक कर्म करने में लगा हुआ है, तबतक कर्म फल अवश्य ही बन्धनकारक होकर पुर्नजन्म के हेतु होंगे। फिर ऐसी कौन सी स्थिति है, जिसमें कर्मफल के बन्धन अथवा आवागमन के चक्र से छुट्टी मिल सकती है। मनुष्य में प्रत्येक कर्म में प्रवृत्त होने से पूर्व कर्म करने की इच्छा उठती है। उसकी पूर्ति करने के लिए मन में संकल्प होता है, जो मनुष्य को कर्म करने में प्रवृत्त कराता है।

जब तक किसी वृक्ष को जड़ से न उखाड़ते हुए उसकी टहनियाँ, पत्ते, तना आदि काटते रहेंगे, तब तक उसका नष्ट होना संभव नहीं है। वृक्ष को नष्ट करने के लिए उसका समूल उच्छेदन करना ही होगा। यही बात कर्म-वाद तथा उसके परिणाम जन्म-मरण एवं पुनर्जन्म आदि के सम्बन्ध में भी लागू होती है। इससे यह स्पष्ट है कि कर्म पुनर्जन्म का कारग है और पुनर्जन्म का सिद्धांत कर्मवाद से अनिवार्यरूप से निकलता है। जबतक कर्म रहेगा प्राणी को उसके शुभ अशुभ फल को माँगने के लिए जन्म ग्रहण अवश्य करना पड़ेगा।

कर्मवाद और पुनर्जन्म का सिद्धान्त भारतीय दर्शन, जीवन, संस्कृति तथा समस्त शास्त्रों का एक आधारभूत सर्वमान्य सिद्धान्त है। अतः धर्म-शास्त्रों में इसकी मान्यता में कोई विशेष बात नहीं। किन्तु हम यह देखते हैं कि भारतीय चिन्तन धारा में कर्म और पुनर्जन्म के सम्बन्ध में जो विवेचन हुए है उसे दो वर्गों में रखा जा सकता है, एक को हम दर्शनशास्त्रीय विवेचन या तार्किक विवेचन कह सकते है जिसमें विभिन्न तर्कोंके द्वारा कर्मवाद और पुनर्जन्म की युक्ति-युक्त स्थापना करने का प्रयास किया गया है और दूसरे को धर्मशास्त्रीय या विश्वासात्मक विवेचन कहा जा सकता है। जिसमें शास्त्रीय मान्यता तथा विश्वास के आधार पर विभिन्न कर्मों के फल को विभिन्न योनियों में जन्म के रूप में प्रतिपादित किया जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्मवाद और पुनर्जन्म की दर्शन शास्त्रीय व्याख्या विभिन्न तत्त्व शास्त्रीय दृष्टिकोण के आधार पर की गई है। कहने का तात्पर्य यह है कि विभिन्न दर्शनशास्त्रों ने अपने-अपने तत्त्वशास्त्र की तत्त्व सम्बन्धी मान्यता के आधार पर आधारित तर्क युक्तियों से कर्मवाद और पुनर्जन्म की स्थापना करने का प्रयास किया है। बौद्ध दार्शनिक अपने क्षणभंगवाद, अनात्मवाद और प्रतीत्य समुत्पाद आदि तत्त्व-शास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर कर्मवाद और पुनर्जन्म की व्याख्या करते हैं। जैन दार्शनिक जीव और अजीव तत्त्वों में आत्यन्तिक भेद स्वीकार कर कर्म को पुद्गलिक मानते हुए उससे जीव के सम्बन्ध की, आश्रव भावबन्ध द्रव्यबन्ध, सम्वर, निर्जर, मोक्ष आदि विविध अवस्थाओं के सन्दर्भ में कर्मवाद की तार्किक विवेचना प्रस्तुत करते हैं। आस्तिक दर्शन भी विभिन्न तत्त्व शास्त्रीय मान्यता के आधार पर कर्मवाद और पुनर्जन्म की व्याख्या करते हैं न्याय वैशेषिक कर्मवाद और पुनर्जन्म की व्याख्या में अदृष्ट के महत्त्व को स्वीकार कर अनिवार्य रूप से ईश्वर की मान्यता के आधार पर कर्मवाद और पुनर्जन्म को एक तार्किक आधार देते हैं। इनके विपरीत पूर्वमीमांसा सृष्टि की अनादिता स्वीकार कर और वेदों को नित्य आदेश मानकर बिना ईश्वर को माने ही अपूर्व के आधार पर कर्मवाद और पुनर्जन्म की स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। सांख्य और योग दर्शन अत्यन्त पृथक् स्वरूपवाले प्रकृति और पुरुष के संयोग से वासना या संस्कार के आधार पर प्रवृत्त होने वाले कर्म की मान्यता से कर्मवाद और पुनर्जन्म को स्पष्ट करना चाहते हैं। अद्वैत दार्शनिक (शंकर आदि) मायावाद के आधार पर परमार्थिक न होते हुए भी व्यवहारिक जगत् के लिए कर्मवाद और पुनर्जन्म की मान्यता स्वीकार करते हैं। इन दर्शनों में अपनी स्थापना के लिए तर्क और युक्तियों को विशेष महत्त्व दिया गया है। अतः इन सबको यहां कर्मवाद और पुनर्जन्म के दर्शनशास्त्रीय विवेचन के रूप में स्वीकार किया गया है।

धर्मशास्त्रों में कर्मवाद और पुनर्जन्म का जो विवेचन हुआ है वह उक्त दर्शन शास्त्रीय विवेचन से सर्वथा भिन्न है। यहाँ अपने पक्ष की स्थापना के लिए एवं युक्ति की अपेक्षा आस्था, विश्वास, मान्यता, परम्परा, शास्त्र प्रमाण आदि पर विशेष बल दिया गया है। निरूपण में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्लेषण की अपेक्षा वर्णन की प्रमुखता है। यहाँ कर्म और पुनर्जन्म के तार्किक आधार की खोज के बदले आस्था के आधार पर परलोक और पुनर्जन्म का विस्तार से वर्णन किया गया है। यही कारण है कि धर्मशास्त्रों के समाज-दर्शन में एक ओर विभिन्न शुभ-अशुभ कर्मो की गणना की गई है और दूसरी ओर उनसे प्राप्त होने वाले विभिन्न उच्च, मध्यम और निम्न योनियों का सविस्तार निरूपण किया गया है। कर्मों की शुभता और अशुभता स्थापना में या इनसे प्राप्त होने वाले अनिवार्य योनियों में किसी युक्ति या तर्क को खोज नहीं की गई है अपितु शास्त्रीय मान्यता के आधार पर कर्मों का शुभत्व और अशुभत्व प्रतिपादित हुआ है और विश्वास के आधार पर ही उनसे प्राप्त होनेवाली योनियों का निरूपण हुआ है। इसलिए यदि यह प्रश्न पूछा जाय कि किसी शुभ कर्म का या किसी अशुभ कर्म का फल किसी विशेष योनि में उत्पत्ति क्यों मानी गई है? उसी प्रकार के फल देने वाली दूसरी योनि में उत्पत्ति क्यों नहीं मानी गई है? तो इसका कोई बहुत प्रमाणिक उत्तर धर्मशास्त्रों के पास नहीं है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि धर्मशास्त्रों के समाज-दर्शन में आस्तिक दर्शनों की तत्त्वशास्त्रीय मान्यता को आधार में रखते हुए भी कर्मवाद और पुनर्जन्म का निरूपण विशुद्ध रूप से आस्था और विश्वास के आधार पर ही किया गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तृतीय-अध्याय

पुरुषार्थ

विश्व और व्यक्ति का लक्ष्य

भारतीय मनीषियों ने सृष्टि प्रक्रिया, विश्व एवं जीवन सबको सोद्देश्य, सप्रयोजन देखने का प्रयत्न किया है। उनके मत में यह संसार न कोई आकस्मिक घटना है न निरुद्देश्य संघटन, है अपितु यह एक सुविवेचित, सुविचारित सोद्देश्य रचना है। जिसे सोच समझकर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वर ने बनाया है। जिस प्रकार सृष्टि का प्रारम्भ पुराने कर्मों की प्रेरणा को लेकर होता है, उसी प्रकार सृष्टि का प्रयोजन भोग और पुरुषार्थ की सिद्धि है। विश्व की सोद्देश्यता की व्याख्या में पुरुषार्थ की अवधारणा बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। जहाँ अन्य प्राणियों का जीवन पूर्व कर्मों के आधार पर भोग के लिए है वहीं मानव इस संसार में पुरुषार्थ का साधक बनकर आया है। पुरुषार्थ जीवन के यथार्थ और आदर्श दोनों लक्ष्यों को अपनी अवधारणा में सम्मिलित करता है।

धर्मशास्त्रों के समाज-दर्शन की सबसे महत्त्वपूर्ण अवधारणा पुरुषार्थ की अवधारणा है। उसे सामाजिक संरचना, सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक संस्था एवं समाज के समस्त अंगों के आधार के रूप में देखा जा सकता है। यही कारण है कि धर्मशास्त्रों में पुरुषार्थ के विविध पक्षों का उनके परस्पर सम्बन्धों का, उनके प्रकार, उनके आधार पर बने हुए सामाजिक संगठनों के साथ उनके सम्बन्ध आदि का व्यापक विवेचन किया गया है।

पुरुषार्थ का अर्थ

'पुरुषार्थ' शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है - पुरुष एवं अर्थ। यहां 'अर्थ' शब्द प्रयोजन, लक्ष्य, साध्य, उपेय तथा उपाय या साधन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का निर्देश करता है परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में 'पुरुष' शब्द के तीन अर्थ विशेष विचारणीय हैं। प्रथम अर्थ में पुरुष शब्द से पुरुषसूक्त में वर्णित पुरुष या वेदान्त की आत्मा को लिया जा सकता है, जो अपनी विभुता और व्यापकता में सबको समाविष्ट किये रहता है। जो विशुद्ध चिन्मय तत्त्व है, जो परमतत्त्व है, जो महान है, पूर्णकाम तथा आप्तकाम है। पुरुष शब्द से यह अर्थ लेने पर अर्थ शब्द से सांकेतिक लक्ष्य, प्रयोजन, उद्देश्य, साधन, प्रयत्न आदि के साथ इस परमतत्त्व के सम्बन्ध की संगति नहीं बन पाती क्योंकि ऐसा सम्बन्ध मानने पर परमतत्त्व की महत्ता, आप्तकामता, आत्मपूर्णता की मान्यता के साथ विरोध उपस्थित हो जाता है। द्वितीय अर्थ में सांख्य-दर्शन के परिप्रेक्ष्य में पुरुष का अर्थ चेतन या जीव या प्राणि-मात्र माना जा सकता है। सांख्य-दर्शन इसी पुरुष के प्रयोजन (भोग तथा अपवर्ग) के लिए अचेतन प्रकृति की समस्त क्रियाओं उसके विकास, उसकी सृष्टि रचना की सार्थकता आदि को सिद्ध करता है। जीव मात्र के लिए मांग की संगति मान लेने पर भी पुरुषार्थ के साथ जीवमात्र का सम्बन्ध युक्तिसंगत नहीं लगता क्योंकि भोग और पुरुषार्थ में विरोध परिलक्षित होता है। भोग कर्मफल के रूप में सहज प्रवृत्तिजन्य होता है। इसमें भोक्ता की परवशता तथा बाध्यता होती है। पुरुषार्थ साधन सापेक्ष है। इसकी प्राप्ति पुरुष-प्रयत्न से सम्भव है। इसमें संकल्प स्वातंत्र्य की अपेक्षा है। अतः पुरुषार्थ साधकता केवल मानव मात्र में ही है मानवेतर जीवों में नहीं। पुरुष शब्द का तृतीय अर्थ मानव मात्र ही अधिक उपयुक्त लगता है।

पुरुषार्थ के अन्तर्गत धर्म, अर्थ और काम अपनी विशेष भूमिका का निर्वाह करते हैं। पुरुषार्थ के अन्तर्गत धर्म वह व्यावर्तक गुण माना जाता है जिसके कारण मनुष्य अन्य प्राणियों से भिन्न होता है। धर्म-शास्त्रकारों ने यह स्पष्ट कहा है कि धर्म ही मानव की विशेषता है उससे हीन मानव पशु के सामान है।[1]

पुरुषार्थ और त्रिवर्ग

पुरुष के करने योग्य क्रियाओं को, उसके क्रिया क्षेत्र को चार वर्णों में विभक्त किया गया है। क्रिया के ये विभाग करणीय होने से

१—'धर्म की पुरुषार्थता' दार्शनिक त्रैमासिक वर्ष २२, जुलाई १९७६, अंक ३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरुषार्थ कहे गये हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार पुरुषार्थ हैं[१]। परन्तु मोक्ष को क्रिया न मानकर उद्देश्य मानना ही समीचीन लगता है। मोक्ष को छोड़कर विशेष रूप से क्रिया होने के कारण शेष तीनों (धर्म, अर्थ और काम) समान महत्त्व वाले हैं। यही कारण है कि इन तीन पुरुषार्थों को मिलाकर 'त्रिवर्ग' कहा गया है। मोक्ष जीवन का परम लक्ष्य माना गया है। मोक्ष क्रिया के वश में बिल्कुल नहीं है। अभ्यास, साधना और तप से सिद्धि प्राप्त होती है, इन समस्त सिद्धियों का परिणाम या फल मोक्ष होता है। कहीं-कहीं यह भी माना गया है कि भगवत्कृपा मोक्ष-फल के लिए अनिवार्य है। सम्भवतः इसी दृष्टि से विचारकों ने मोक्ष को त्रिवर्ग कहे जाने वाले तीन पुरुषार्थों से अलग रखा है।

यदि त्रिवर्ग में ही देखें तो ऐसा प्रतीत होता है कि सबसे अधिक प्रधानता धर्म को दी गयी है। वैसे कुछ विचारक धर्म और अर्थ को मुख्य रूप से मानते हैं और कुछ काम और अर्थ को। जो धर्म को प्रधानता देते हैं उनका कहना है कि धर्म से कल्याण निश्चित है किन्तु लौकिकता एवं ऐहिकता की दृष्टि से तीनों का समान महत्त्व है। इसलिए तीनों कल्याणकारी या श्रेय माने जाते हैं[२]। इन तीनों के परस्पर सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए विष्णु पुराण में कहा गया है कि अर्थ को धर्म के नियमन और नियन्त्रण में रहना अर्थ को किसी भी दशा में धर्म का विरोधी नहीं होना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि अर्थ की पुरुषार्थता एवं जीवनोपयोगिता अवश्य है फिर भी इसे निरपेक्ष, स्वतन्त्र और निरंकुश रूप में पुरुषार्थ नहीं माना जा सकता है। इसके अर्जन के साधनों पर, संचय की प्रक्रिया पर तथा व्यय के आधारों पर धर्म का अनुमोदन तथा इसका नियमन एवं नियन्त्रण आवश्यक है। उसी प्रकार 'काम' के महत्त्व को मानते हुए भी इसको स्वतंत्र एवं निरपेक्ष रूप से पुरुषार्थ का स्थान नहीं मिलना चाहिए। इसे अर्थ और धर्म दोनों से नियन्त्रित होना चाहिए। अर्थात् उसी काम को पुरुषार्थ का स्थान मिल सकता है जिसकी

१—धर्मार्थ काम मोक्षाश्च पुरुषार्था उदाहृताः। विष्णु पुराण १. १८, २१,

२—धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थो धर्म एव च।
अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः॥ मनु २.२२४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वीकृति धर्म से प्राप्त हुई हो अथवा जो धर्म के विरुद्ध न हो। साथ ही साथ काम के संदर्भ में यह भी देखना चाहिए कि इसमें अनावश्यक, अनियमित एवं अमर्यादित रूप से अर्थ का व्यय तो नहीं हो रहा है।[१] पुरुषार्थों के सापेक्ष महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि अर्थ और काम की अपेक्षा धर्म का अधिक महत्त्व है। इसलिए यदि अर्थ और काम धर्म के विरुद्ध हों तो उनका परित्याग कर देना चाहिए। इस प्रकार त्रिवर्ग में धर्म को विशेष महत्त्व दिया गया है किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि धर्म निरपेक्ष और स्वतंत्र है। इसपर भी मोक्ष और लोक कल्याण का अंकुश है। अर्थात् यदि धर्म मोक्ष का विरोधी हो जाता है या लोक कल्याण के विपरीत होने लगता है तो वह धर्म भी पुरुषार्थ नहीं रह जाता। इसलिए ऐसे धर्म को परित्याग करने का निर्देश दिया गया है।[२]

धर्म का अर्थ (भारतीय दृष्टिकोण)

धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है जिसका तात्पर्य है धारण करना, आलम्बन देना, पालन करना[३]। अन्यत्र धर्म शब्द का प्रयोग धार्मिक क्रिया एवम् संस्कार से अर्जित गुण के अर्थ में हुआ है[४]। पुनः धर्म शब्द का समस्त धार्मिक कर्त्तव्यों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[५]। उपनिषद् में धर्म शब्द का प्रयोग ऐसे संदर्भो में हुआ है जैसे 'सत्यंवद धर्मंचर'[६]। गीता में धर्म शब्द का प्रयोग एक विशेष प्रसंग में भी हुआ है जैसे स्वधर्मेनिधनश्रेयः[७] धर्मशास्त्र

१—प्रवुद्धश्चचिन्तयेद्धर्ममर्थं चाप्यविरोधिनम्।
अपीडया तयोः काममुभयोरपि चिन्तयेत्।। विष्णुपुराण ३. ११. ५–६

२—परित्यजेदर्थकामौ धर्मपीडाकरौं नृप।
धर्ममप्यसुखोदर्कं लोकविद्विष्टमेव च।। विष्णु पुराण ३.११. ५–७
धर्मो राजन्गुण श्रेष्ठो मध्यमोह्यर्थ उच्यते।
कामो यवीयानिति च प्रवदन्ति मनीषिणः।। महाभारत, शांति पर्व १६१. ८

३—पी० वी० काणेः धर्मशास्त्र का इतिहास, खण्ड १. पृ० ३

४—अथर्व वेदः ९.९.१७

५—ऐतरेय ब्राह्मण ७.१७

६—तैत्तिरीयोपनिषद् ११.११

७—गीता ३.३५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य में धर्म शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मनु ने तीन प्रकार से धर्म को परिभाषित करने का प्रयत्न किया है, (क) परम आचार धर्म है,[१] (ख) धृति, क्षमा आदि धर्म के दस लक्षण है,[२] (ग) वेद, स्मृति, सदाचार तथा अपनी आत्मा को प्रिय लगना ये धर्म के चार साक्षात् लक्षण हैं[३]। प्रस्तुत परिभाषा में आचार या कर्त्तव्य को धर्म कहा गया है। किन्तु किसी प्रकार के कर्त्तव्य या आचार (जो यथेच्छ भी हो सकते हैं) में धर्म लक्षण की अतिव्याप्ति निवारण हेतु मनु ने आचार में परम विशेषण लगाया है, जिससे सभी आचार को धर्म न कहकर परम आचार को ही धर्म कहा जायेगा। धर्म की दूसरी परिभाषा के अनुसार धर्म दस कर्त्तव्यों को मानना एवं उनका आचरण करना है। मनु का अभिप्राय है कि धृति, क्षमा, दम इत्यादि या इनके समान अन्य कर्त्तव्य आचार हैं जिन्हें धर्म कहा जाता है। मनु का तृतीय लक्षण स्रोत निर्देशक या प्रमाण-प्रदर्शक लक्षण कहा जा सकता है जो धर्म के स्रोतों या प्रमाणों को उपस्थित करता है जिसमें वेद, स्मृति, सदाचार और आत्मा को प्रिय लगना इन चार को प्रस्तुत किया गया है। धर्म के निर्णायक के रूप में क्या ये चारों परस्पर निरपेक्ष एवं स्वतन्त्र हैं? क्या सभी द्वारा प्रमाणित होने पर ही कोई कर्त्तव्य धर्म हो सकता है? या चारों एक दूसरे के पूरक हैं। प्रथम पक्ष से यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि चारों पूर्ण निरपेक्ष हैं तो इनमें सबसे अधिक महत्त्व का कौन है? या सभी समान महत्त्व के हैं? यदि महत्त्व की दृष्टि से एक दूसरे में न्यूनता स्वीकार कर ली जाती है तो इन्हें समान महत्त्व का कहना संगत नहीं लगता और यदि समान महत्त्व पर विशेष बल दिया जाता है तो परस्पर विरोध की स्थिति में निर्धारण का क्या आधार हो सकता है? आदि प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु यहाँ इन पर विस्तार पूर्वक विचार करना सम्भव नहीं है। इस सम्बन्ध में हम यहाँ केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि उक्त चारों प्रमाणों को कहीं-कहीं स्वतन्त्र और निरपेक्ष माना गया है और कहीं-कहीं एक दूसरे का पूरक

१—आचारः परमो धर्मः। मनु १.१०८

२—धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ मनु ६.९२

३—वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥ मनु २.१२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

या सहायक। यह मान्यता कि वेद सर्वज्ञ ईश्वर के निःश्वास है, नित्य है, इसमें किसी प्रकार की त्रुटि का होना सम्भव नहीं है, धर्म के सम्बन्ध में वेद की प्रामाणिकता को उच्चतर स्थान प्रदान करती है वेद के अनुगमन करने के कारण स्मृतियों को धर्म के प्रमाण के सम्बन्ध में द्वितीय स्थान दिया जाता है। सदाचार वेदनिष्ठ और वेद के अनुशीलन से परिपक्व चरित्र वाले महापुरुषों का व्यवहार होने के कारण धर्म में प्रमाण बनता है अतः इसको तृतीय स्थान दिया गया है। आत्मा ईश्वर का ही अंश है, सद् असद् का विवेक रखने वाला है अतः उसका निर्णय भी धर्म के लिए प्रमाण स्वरूप माना गया है। दूसरी मान्यता के आधार पर यह कहा जाता है कि वेद धर्म के समस्त अंगों के लिए एक मात्र प्रमाण है किन्तु काल क्रम में वेद के अनेक शाखाओं के लुप्त हो जाने के कारण वेद के आधार पर ऋषियों द्वारा प्रणीत स्मृतियां उन अंगों के लिए प्रमाण हैं जिनके सम्बन्ध में वेद में कोई चर्चा उपलब्ध नहीं है। स्मृतियों से भी जहाँ काम नहीं चल पाता उसके लिए सदाचार को प्रमाण मानना पड़ता है। जिस कार्य की धर्मता के निर्णय में उक्त तीनों आधार मौन हैं वहाँ आत्म-तुष्टि को धर्म का प्रमाण माना जाता है।

कणाद के अनुसार धर्म वह साधन है जिसके द्वारा संसार का परित्याग न करते हुए आध्यात्मिक वास्तविकता का बोध कराया जाता है। पुरुषार्थ की अवधारणा के अन्तर्गत धर्म अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों का समन्वय करता है[1] अभ्युदय तथा निःश्रेयस दोनों को एक धर्म का साध्य या लक्ष्य माना गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि अभ्युदय तथा निःश्रेयस कठोपनिषद के प्रेय तथा श्रेय के समान परस्पर विरोधी नहीं है जिसमें एक को चयन करना दूसरे से वंचित होने के लिए पर्याप्त हो जाता है तथा श्रेय की तुलना में प्रेय को चयन करने वाला लक्ष्य भ्रष्ट हो जाता है।[2] महाभारत शान्तिपर्व में धर्म के विधि और निषेध दोनों पक्षों को ध्यान में रखकर धर्म का निरूपण किया गया है। अपने विधि पक्ष में धर्म शारीरिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक उन्नति का साधन है। अपने निषेध पक्ष में धर्म वह है जो किसी को क्लेश न पहुँचाए।[3]

१—यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।
तस्य निःश्वसितोवेदः। कणादः वैशेषिक सूत्र १.१

२—कठोपनिषदः २.१

३—महाभारत शान्तिपर्वः १०६.५८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्म के कारण मानव की विशिष्टता का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि आहार, निद्रा, भय, मैथुन मनुष्यों और पशुओं के लिये एक ही समान स्वाभाविक है। मनुष्यों और पशुओं में भेद है तो केवल धर्म का (अर्थात् इन स्वाभाविक वृत्तियों को मर्यादित करने का) जिस मनुष्य में यह धर्म नहीं है वह पशु के सामान ही है[४]। धर्म के उक्त निरूपण से यह स्पष्ट होता है कि यह मानव के नैतिक कर्त्तव्यों एवं दायित्वों की समष्टि है।

पी॰ वी॰ काणे ने भी उक्त, मत का समर्थन किया है, उनका कहना है कि, धर्म से अभिप्राय किसी विशेष ईश्वरीय मत से नहीं, बल्कि जीवन के एक तरीके या आचरण की एक संहिता (कोड) से है जो स्वयं व्यक्ति के रूप में तथा समाज के एक सदस्य के रूप में एक व्यक्ति के क्रिया-कलाप को नियमित या नियन्त्रित करती है और जिसका उद्देश्य व्यक्ति में क्रमवद्ध विकास करना तथा उसे इस योग्य बनाना है कि मानव जीवन अपने अस्तित्व के अन्तिम लक्ष्य तक पहुँच सके।

धर्म शब्द के उपयोग या व्यवहार के आधार पर उसके अर्थ की व्याख्या करते हुए तिलक का कहना है कि नित्य व्यवहार में धर्म शब्द "पारलौकिक सुख का मार्ग" के अर्थ में प्रयुक्त होता है और इसी अर्थ में हम किसी से यह प्रश्न पूछते हैं कि तुम्हारा धर्म कौन सा है, हमारे यह पूछने का आशय यह होता है कि वह व्यक्ति जिसके धर्म के बारे में हम पूछ रहे हैं अपने पारलौकिक कल्याण के लिए किस मार्ग-वैदिक, बौद्ध, जैन, इसाई, इस्लाम या पारसी से चलता है और वह व्यक्ति हमारे प्रश्न के अनुसार ही उत्तर देता है। परन्तु धर्म शब्द का इतना ही संकुचित अर्थ नहीं है, इसके सिवा राजधर्म, प्रजाधर्म, देश धर्म, जातिधर्म, कुलधर्म, मित्रधर्म इत्यादि सांसारिक नीतिबन्धनों को भी धर्म कहते हैं।

धर्म शब्द के इन दो अर्थों को यदि पृथक् करके दिखलाना हो तो पारलौकिक धर्म को मोक्ष धर्म अथवा सिर्फ मोक्ष और व्यवहारिक धर्म अथवा केवल नीति को केवल धर्म कहा करते हैं।

४—आहार निद्रा भय मैथुनञ्च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिकोविशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः
॥ म॰शा॰२९४,२९ ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तिलक का कहना है कि महाभारत में अनेक स्थलों पर धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है जिस स्थान में यह कहा गया है कि किसी को कोई काम करना धर्म संगत है उस स्थान में धर्म शब्द से कर्त्तव्यशास्त्र अथवा तत्कालीन समाज व्यवस्था शास्त्र ही का अर्थ पाया जाता है तथा जिस स्थान में पारलौकिक कल्याण के मार्ग बतलाने का प्रसंग आया है उस स्थान पर मोक्ष के लिए धर्म शब्द का प्रयोग किया गया है[1]।

धर्म का अर्थ (पाश्चात्य दृष्टिकोंण)[2]

परम्परा के भेद से अवधारणा में नितान्त भेद को अनिवार्य और अपरिहार्य स्वीकार करना सर्वत्र प्रामाणिक नहीं होता। धर्म के सम्बन्ध में भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोंण में भी कुछ ऐसे ही तथ्य प्राप्त होते हैं। दोनों परम्पराएं नितान्त भिन्न हैं। भारतीय परम्परा में धर्म को एक पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार किया गया है और इसी आधार पर इसकी व्याख्या और विवेचना हुई है। पाश्चात्य दृष्टिकोंण में धर्म को पुरुषार्थ मानने की कोई स्पष्ट परम्परा नहीं है फिर भी धर्म के निरूपण में दोनों मतों में अनेक स्थलों पर समता दीख पड़ती है। इस स्थापना को स्पष्ट करने के लिए यहां धर्म के सम्बन्ध में पाश्चात्य दृष्टि का संक्षिप्त विवरण देना आवश्यक सा लगता है।

धर्म के स्वरूप का विवेचन करने तथा धर्म को परिभाषित करने में पाश्चात्य चिन्तन धारा का एक महत्त्वपूर्ण प्रयत्न है किन्तु यहाँ उस विषय पर विस्तार के साथ विवेचन न तो सम्भव है और न तो आवश्यक। यहाँ पाश्चात्य दृष्टिकोण के उन परिभाषाओं का वर्गीकरण किया गया है जो साक्षात् या परम्परा या धर्मशास्त्र के दृष्टिकोंण का अनुगमन या समर्थन करती है।

धर्म के सम्बन्ध में पाश्चात्य दृष्टिकोंण को स्पष्ट करने के लिए पाश्चात्य चिन्तकों की परिभाषाओं को निम्नलिखित चार वर्गों में विचार की सुविधा के लिए रखा गया है। प्रथम वर्ग में उन परिभाषाओं को लिया गया है जो, मानव स्वभाव के किसी पक्ष विशेष (ज्ञानात्मक संवेगात्मक या भावात्मक, संकल्पात्मक आदि) में से किसी एक को अधिक महत्त्व

१— तिलक, गीता रहस्य, पृष्ठ ६७-६८

२— लक्ष्मीनिधि शर्मा, धर्म दर्शन पर आधारित पृष्ठ ६६-८०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देती हैं। इसको तीन उपवर्गों में विभक्त किया गया है। ज्ञानात्मक पक्ष पर अधिक बल देने वाली परिभाषाएं श्रद्धा, विश्वास या भावना पर अधिक बल देनेवाली परिभाषाएं तथा संकल्प पक्ष को बल देनेवाली परिभाषाएं। द्वितीय वर्ग में उन परिभाषाओं को रखा गया है जो धर्म को किसी गम्भीर दृष्टि या आदर्श से जोड़ती हैं। तृतीय वर्ग में वे परिभाषाएं रखी गई हैं जो मानवीय मूल्यों को प्रधानता प्रदान करती हैं। चतुर्थ वर्ग में उन परिभाषाओं का समावेश किया गया है जो व्यापक दृष्टि की परिचायिका हैं तथा उक्त तीनों पक्ष को किसी न किसी रूप से अपने में समाहित करती हैं।

ज्ञानात्मक पक्ष पर बल देने वाली परिभाषाओं के समर्थकों में हैगल, मैक्समूलर तथा हरबर्ट स्पेन्सर का नाम विशेष उल्लेखनीय है। हैगल के अनुसार "सीमित बुद्धि द्वारा अपने स्वरूप का असीमित अथवा पूर्ण बुद्धि के रूप में ज्ञान ही धर्म है"।[१] मैक्समूलर का कहना है कि "धर्म वह मानसिक शक्ति या प्रवृत्ति है जिसके द्वारा मानव अनन्त का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होता है"।[२] तथा स्पेन्सर के अनुसार "यह प्रत्यभिज्ञा कि सभी वस्तुएं एक ऐसी शक्ति की अभिव्यक्तियां हैं, जो हमारे ज्ञान से परे हैं, धर्म हैं"।[३] उक्त परिभाणाओं को देखने से यह स्पष्ट होता है कि इनमें ज्ञान और धर्म में किसी न किसी प्रकार का अभेद या तादात्म्य स्वीकृत है।

धर्म की परिभाषा में श्रद्धा, विश्वास आदि पर विशेष बल देने वाले चिंतकों में मार्टिन्यू, ई० वी० टायलर, आदि के नाम लिए जा सकते हैं। मार्टिन्यू के अनुसार "धर्म शाश्वत ईश्वर में विश्वास है"।[४] ई० वी० टायलर का विचार है कि "आध्यात्मिक सत्ताओं में विश्वास ही धर्म है।"[५] इन परिभाषाओं में ईश्वर पर विश्वास, आस्था, संवेग, भावना आदि को विशेष महत्त्व दिया गया है।

1— "Religion is the knowledge prossessed by the finite mind of its nature as absolute mind."
2— "A mental faculty or disposition which enables man to apprehend the infinite."
3— "Religion is the recognition that all things are manifestations of a power which transcends our knowledge."
4— Religion is a belief in an Everlasting."
5— "A belief in spiritual beings."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्म की परिभाषाओं में संकल्प पक्ष को महत्त्व देने वाले चिंतकों में कान्ट तथा फ्लाइडरेर का नाम विशेष उल्लेखनीय है । कान्ट के अनुसार "यह स्वीकृति कि हमारे सभी कर्त्तव्य दैवी आदेश हैं, धर्म हैं ।" [१] फलाइडरेर का कहना है कि "ईश्वर के विचार के अनुरूप संकल्प की दिशा ही धर्म है ।" [२] इन परिभाषाओं में संकल्प या कर्त्तव्य के साथ धर्म के तादात्म्य की स्थापना का प्रयत्न किया गया है ।

धर्म की परिभाषाओं में धर्म को आदर्श या उच्चतर दृष्टिकोंण से सम्बन्ध को महत्त्व देने वाले चिंतकों में वर्जिलस फर्म और जाँन केयर्ड आदि के नाम का उल्लेख किया जा सकता है । वर्जिलस फर्म के अनुसार "धार्मिक होने का अर्थ स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप से स्वीकृत गम्भीर तथा दूरस्थ लक्ष्य के साथ सजीव सामञ्जस्य स्थापित करना है ।" [३] जाँन केयर्ड का मत है कि "धर्म आत्मा का ऐसे क्षेत्र में उत्थान है जहां आशा निश्चितता में, संघर्ष विजय में, सतत् चेष्टा शांति व विश्राम में परिवर्तित हो जाती है ।" [४] इन परिभाषाओं में धर्म का सम्बन्ध उच्चतर आदर्श एवं लक्ष्य तथा वैश्व दृष्टिकोंण आदि से जोड़ा गया है ।

धर्म की परिभाषाओं में मानवीय मूल्यों को प्रधानता प्रदान करने वाले चिंतकों में हैरल्ड हाफडिगं. डब्लू, के० राइट, डब्लू ०ई ०हाकिंग तथा ब्रैडले का नाम विशेष उल्लेखनीय है । हैरल्ड हाफडिगं के अनुसार "मूल्यों की सुरक्षा में विश्वास ही धर्म का सार है ।" [५] डब्लू० के० राइट

1— "The recognition of all our duties as divine commandments"

2— "The disection of the will which corresponds to the idea of the deity."

3— "To be religious is to effect in some way or in some measurs a vital adjustment to whatever is reacted to or regarded implicitly or explicitly as worthy of serious and ulterion concern."

4— "Religion is the elevation of the spirit into a region where hope passees into certitude, struggle in to conquest, interminable effort and endeavour into peace and rest."

5— "The essence of religion is faith in the conservation of values."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का कहना है कि "धर्म वह प्रयास है जिसमें समाज से मान्यता प्राप्त मूल्यों का कुछ विशिष्ट क्रियाओं द्वारा इस विश्वास के साथ संरक्षण किया जाता है कि ये क्रियाएं किसी मानवेतर शक्ति का आह्वान करती है, जिनपर निर्भर रहा जा सकता है।"[1] डब्लू० ई० हाकिंग के अनुसार धर्म उन सभी वस्तुओं की एक ही अनुभूति में वर्तमान उपलब्धि है जो प्राकृतिक प्रक्रिया में अनन्त प्रगति के अन्त में प्राप्त होती है, धर्म प्रत्याशित उपलब्धि है।"[2] ब्रैडले के मतानुसार हमारी सत्ता के प्रत्येक पहलू के द्वारा शुभ की सम्पूर्ण यथार्थता को अभिव्यक्त करने की चेष्टा ही धर्म है।"[3] इन परिभाषाओं में मानव मूल्यों की रक्षा, इन मूल्यों में विश्वास, शुभ की सम्पूर्णता की अभिव्यक्ति आदि को धर्म के सार के रूप में स्वीकार किया गया है।

धर्म की परिभाषा में उक्त पक्षों में से अधिकांश को धर्म के अन्तर्गत मानने वाले चिन्तकों में पेटर्सन, ब्राइट मैन तथा गैलवे का नाम विशेष महत्त्व का है। पेटर्सन के अनुसार, "हमारी सर्वोच्च प्रकृति तथा सम्पूर्ण वातावरण के मध्य सामञ्जस्य में विश्वास तथा इस विश्वास से उत्पन्न सवेग एवं विश्वास तथा संवेगों से अनुप्रेरित आचरण ही धर्म है।"[4] ब्राइट मेन का मत है कि, धर्म उन अनुभूतियों में अभिरुचि है जिन्हें परम मूल्यवान माना जाता है, यह उस शक्ति या प्रयोजन के प्रति भक्ति है जिसे मूल्यों की सृष्टि, वृद्धि एवं सुरक्षा करनेवालो माना जाता है तथा इसमें इस अभिरुचि एवं भक्ति की अभिव्यक्ति प्रतीकात्मक संस्कार तथा

1— "Religion is the endeavour to secure the conservation of socially recognised values through specific actions that are believed to evoke some agency different from the ordinary ego of the individual, or from other merely human beings, and that imply a feeling of dependence upon this agency."

2— "Religion is the present attainment in a single experience of those objects which in the course of nature are reached only at the end of infinite progression. Religion is anticipated attainment."

3— "Religion is rather an attempt to express the complete reality of goodness through every aspect of our being."

4— "The belief in a hasmony between what is judged to be the highest part of our own natures and the total environment, together with the emotion to which the belief gives rise and these emotions."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्य व्यक्तिगत और सामाजिक आचरण के द्वारा होती है ।[१] गैलवे के अनुसार, धर्म मानव द्वारा पराशक्ति में आस्था है, जिसके द्वारा वह अपनी भावनात्मक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि एवं जीवन में स्थिरता प्राप्त करने की चेष्टा करता है तथा जिसे वह पूजा और सेवा के कार्यों द्वारा अभिव्यक्त करता है ।[२] इन परिभाषाओं में अधिकांश पहलुओं जैसे आदर्श, मूल्य कर्त्तव्य दायित्त्व, विश्वास आदि को धर्म के स्वरुप के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है ।

परिभाषाओं के उक्त वर्गीकरण और विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इनमें से अधिकांश परिभाषाओं में धर्म के स्वरूप में संकल्प, लक्ष्य, आदर्श, मूल्य आचरण आदि का समावेश हुआ है। धर्म की परिभाषा में इन पहलुओं का समावेश धर्म के सम्बन्ध में पाश्चात्य दृष्टिकोंण को धर्मशास्त्रों के दृष्टिकोंण केअधिक सन्निकट ला देता है।

धर्म शब्द के अनेक अर्थ

भारतीय चिन्तन परम्परा और लोक जीवन में धर्म शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया गया है। इसलिए प्रसंग के आधार पर ही इसके अर्थ का निर्धारण किया जाता है। "धर्म" शब्द का एक प्रचलित अर्थ उपासना पद्धति (रिलीजन) है। जब हम कहते हैं कि हिन्दू धर्म में सहिष्णुता पर अधिक बल दिया जाता है, तथा इसाई धर्म में सेवा पर, तब धर्म शब्द का इसी उपासना पद्धति के अर्थ में हम प्रयोग करते हैं । जब हम यह कहते हैं कि पत्नी का धर्म पति की सेवा करना है अथवा राजा का धर्म प्रजा का पालन करना है तब धर्म शब्द का तात्पर्य कर्त्तव्य, करणीय कर्म अथवा दायित्व होता है। जब यह कहते हैं कि सर्प का धर्म काटना

1— "Religion is the concern about experiences as of supreme value, devoting towards a power or purpose believed to originate, increase and conseave these values and some suitable expression of this concern and devotione, whether through symbolic rites or through other individual and social conduct."

2— "Religion is man's faith in a power beyond himself whereby he seeks to satisfy emotional needs and gain stability of life, and which he expression in acts of worship and service."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है अथवा साधु का धर्म क्षमा करना है तो यहाँ धर्म शब्द से तात्पर्य होता है "स्वभाव" अथवा "सहजवृत्ति" जो अपने से हो जाती है, जिसके लिये हमें प्रयत्न नहीं करना पड़ता है और न अपने मन पर दबाव ही डालना पड़ता है। जैसे धारा बहने की दिशा में तैरना सरल है वैसे ही अपनी स्वाभाविक वृत्ति की दिशा में व्यवहार करना सरल है। इस प्रकार यहाँ धर्म शब्द का तात्पर्य होता है "हमारे व्यवहार की स्वाभाविक दिशा," हमारे आचरण की मौलिक प्रवृत्ति। जब हम यह कहते हैं कि अग्नि का धर्म जलाना है और वायु का धर्म सुखाना है तो यहाँ धर्म से हमारा तात्पर्य होता है मूल या प्रधान गुण। किसी भी वस्तु के अनेक गुण और लक्षण हो सकते हैं। इनमें कुछ गुण तो मौलिक अथवा मुख्य होते हैं और कुछ इन मूल गुणों से उत्पन्न गौण गुण होते हैं। मूल लक्षणों को एसेन्सियल क्वालिटी और गौण लक्षणों को सेकेण्ड्री क्वालिटी डेराइव्ड क्वालिटी कहा जाता है। एक ही वस्तु में गौण गुण भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न हो सकते हैं पर मूल गुण तो वही रहता है। मूल गुण में परिवर्तन नहीं होता जैसे अग्नि का वर्ण तो भिन्न-भिन्न हो सकता है, उसकी लौ लाल, पीली, नीली हो सकती है पर यह सभी लौ है तो अग्नि ही, अतः इन सब में जलाने का मूल गुण विद्यमान है। जब यह कहा जाता है कि भक्ष्या-भक्ष्य का विचार न रखने से मनुष्य अपने धर्म से गिर जाता है, तब धर्म शब्द का अर्थ निकलता है "पवित्रतो"। इन अर्थों के अतिरिक्त और भी अनेक अर्थों में इस शब्द का प्रयोग होता है और इसका अर्थ निर्धारण इसके प्रयोग के प्रसग या प्रयोग करनेवाले शास्त्र की परिभाषा के आधार पर किया जाता है। जहाँतक धर्मशास्त्रों का प्रश्न है वहाँ धर्म शब्द का प्रयोग विशेष कर कर्त्तव्य, आचरण, आदर्श-कर्त्तव्य, मर्यादित-कर्त्तव्य आदि के अर्थ में हुआ है।

धर्मशास्त्रों में धर्म के वर्गीकरण से यह स्पष्ट होता है कि धर्म के तीन भेद समान्यतः मान्य है—सामान्य धर्म, विशिष्ट धर्म, और आपद्धर्म।

सामान्य धर्म

सामान्य धर्म का अर्थ धर्म के उस रूप से है जो सभी के द्वारा अनुसरणीय है। व्यक्ति चाहे निम्न वर्ण का हो या उच्च वर्ण का, आयु मे छोटा हो या बड़ा, धनी हो या निर्धन, स्त्री हो या पुरुष, राजा हो चाहे प्रजा, सामान्य धर्म का पालन करना सभी का कर्त्तव्य है। यह धर्म किसी एक परिवार, समूह अथवा देश का ही नहीं है बल्कि यह सम्पूर्ण मानव जाति का धर्म है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामान्य धर्म का सम्बन्ध नैतिक नियमों से है और नैतिक नियम मानव मात्र के लिए समान होते हैं। इसलिए सामान्य धर्म को "मानव धर्म" भी कहा जा सकता है। सामान्य धर्म प्रत्येक रूप में उपयोगी है। इसका पालन जब किसी उच्चादर्श को लेकर किया जाता है तब इससे लौकिक कल्याण में वृद्धि होती है और जब निष्काम रूप से पालन किया जाता है तो इससे मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति होती है। सामान्य धर्म इस सत्य पर बल देता है कि सभी उपासना पद्धतियों का लक्ष्य एक ही है। इनका उद्देश्य मानव मात्र में सद्गुणों का सर्वतोन्मुखी विकास करना है।

पुराणों तथा स्मृतिग्रन्थों में सामान्य धर्म के अन्तर्गत अनेक सद्गुणों की गणना की गयी है। जैसे–श्रीमद्भागवत में देवर्षि नारद ने प्रह्लाद को उपदेश देते हुए सामान्य धर्म के निम्नलिखित तीस भेद बतलाए हैं, सत्य, दया, तपस्या, पवित्रता, कष्ट सहने को क्षमता, उचित और अनुचित का विचार, मन का संयम, इन्द्रियों का संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, सन्तोष, सभी के लिए समान दृष्टि, सेवा, धैर्य, सांसारिक भोगों का त्याग, लौकिक सुखों के प्रति उदासीनता, मौन, आत्मचिन्तन, सभी प्राणियों में अपने आराध्य को देखना तथा उन्हें अन्न देना, महापुरुषों का संग, ईश्वर का गुणगान, ईश्वर चिन्तन, ईश्वर सेवा, पूजा तथा यज्ञों का निर्वाह, ईश्वर के प्रति दासभाव, ईश्वर बन्दना, (सखा-भाव) ईश्वर को आत्म समर्पण ।[1] मनुस्मृति में दस गुणों या कर्त्तव्यों को सामान्य धर्म कहा गया है वे है–धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धो, विद्या, सत्य और अक्रोध ।[2] याज्ञवल्क्य के अनुसार सामान्य धर्म में, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, दान, दम, दया और शान्ति की गणना की गयी है ।[3] यहाँ मनु द्वारा वर्णित दस सामान्य धर्मों का एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है।

धृति

धृति शब्द का अर्थ धैर्य या स्थिरता है। गीता में इसे तीन प्रकार का माना गया है। सात्त्विकी धृति, राजसी धृति, और तामसी धृति। सात्त्विकीधृति उसे कहा गया है जो इधर-उधर डिगने

१—श्रीमद्भागवतपुराण ७.११.७-१२

२—मनुस्मृति ६. ९२

३—अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः। दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्म साधनम् ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति, [आचाराध्याय गृहस्थधर्म प्रकरण, १२२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाली न हो तथा मन, प्राण और इन्द्रियों को अच्छे प्रकार से धारण करती हो। राजसीधृति वह है जिसके द्वारा प्रसंगानुसार फल की इच्छा रखने वाला व्यक्ति अपने धर्म, अर्थ और काम को सिद्ध करता है। तामसीधृति उसे कहा गया है जिससे मनुष्य दुर्बुद्धि होकर निद्रा, भय, शोक, विषाद और मद को नहीं छोड़ पाता है।[१] "धृति" शब्द की व्याख्या में तिलक का कहना है कि यह मन का दृढ़ निश्चय है। यद्यपि निर्णय करना बुद्धि का काम है परन्तु योग्य निर्णय के लिए बुद्धि को सदैव स्थिर रहने की जरूरत है। बुद्धि के निर्णय को ऐसा स्थिर या दृढ़ रखना मन का धर्म है। अतएव कहना चाहिए कि धृति या मानसिक धैर्य का गुण मन और बुद्धि दोनों की सहायता से उत्पन्न होता है।[२] धृति रखने वाला व्यक्ति, धीर कहलाता है। "धीर" की व्याख्या करते हुए महाकवि कालिदास ने कहा है कि विकार की परिस्थितियों के रहते हुए भी जिसका मन या चित विकृत अथवा विचलित नहीं होता वह धीर है।[३]

क्षमा

क्षमा का तात्पर्य सबल होते हुये भी उदार कार्य करना है जो व्यक्ति निर्बलता अथवा कायरता के कारण अन्याय को सहन कर लेता है उसे क्षमावान् नहीं कहा जा सकता। महाभारत में कहा गया है कि क्षमा सदैव श्रेयस्कर नहीं होता। गम्भीर दोषों के लिए तो दण्ड देना ही हितकर है।[४] व्यक्ति में क्षमा की भावना हो तो वह महान् है, विशेषकर वीर पुरुष में क्षमा का होना प्रशंसनीय बात है।[५]

दम

वाह्य इन्द्रियों का संयम दम कहलाता है।[६] किन्तु इसके साथ-साथ अन्तः करण का भी संयम आवश्यक है क्योंकि यदि वाह्य इन्द्रियों को रोककर उन इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन मन या अन्तः करण से किया

१—गीता १८.३३-३५

२—तिलक गीता रहस्य, १८.३३

३—कालीदास, विकार हेतावपि न विक्रयन्ते चेतांसि येषां हित एव धीराः।

४—महाभारत, वनपर्व २८ ६८

५—महाभारत, शांतिपर्व, १११.६८

६—गीता, शंकरभाष्य, १६.१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाय तो यह कार्य गीता की दृष्टि में मिथ्याचार कहा जायेगा।[१] इसलिए गीता का कहना है कि दम में अर्थात् वाह्य इन्द्रियों के संयम में प्रारम्भ मन से ही होना चाहिए। अर्थात् मन को नियन्त्रण में रखकर ही कर्मेन्द्रियों को उनके विषयों से अलग करना, उनपर नियमन रखना ही इन्द्रिय संयम है।[२]

अस्तेय

अस्तेय का सामान्यतः अर्थ होता है स्तेय या चोरी का त्याग। किन्तु अपने व्यापक अर्थ में अस्तेय उन सभी प्रकार के ग्रहण की ओर संकेत करता है जिनकी स्वीकृति धर्मशास्त्र में नहीं है।[३] साथ ही ऐसे वस्तुओं को जिन्हें ग्रहण करने का अधिकार नहीं है, प्राप्ति की इच्छा करना भी स्तेय है।[४] कहीं-कहीं मन, वचन और कर्म तीनों से परद्रव्य की कामना को स्तेय और उसके त्याग को अस्तेय कहा गया है।[५] योग कारिका-कार हरिहरानंदारण्य ने स्तेय को मानसिक और कायिक स्वीकार करते हुए दूसरे की धन को पाने की स्पृहा को मानसिक स्तेय और दूसरे के धन के अपहरण को कायिकस्तेय माना है। और इन दोनों के त्याग को ही अस्तेय के रूप में स्वीकार किया है।[६] स्तेय स्वयंकृत कारित तथा अनुमोदित भेद से तीन प्रकार का माना जाता है। पुनः लोभ, क्रोध, मोह पूर्वक स्तेय के सम्भव होने के कारण उक्त तीन भेद में से प्रत्येक के तीन-तीन भेद हो जाते हैं। इन नौ भेदों के मृदु मध्य और अधिमात्र भेद से पुनः तीन भेद होते हैं। इस प्रकार स्तेय सत्ताईस प्रकार का हो जाता है। इन सबका परित्याग अस्तेय कहलाता है।[७]

शौच

शौच का अर्थ है शुद्धि। यह दो प्रकार का है वाह्य और अभ्यान्तर मिट्टी, जल आदि के द्वारा शरीर को बाहर से प्रक्षालन कर शुद्ध रखना

१—गीता, ३.६ २—गीता, ३.७

३—व्यासभाष्य, स्तेयं अशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणम्। योगसूत्र, २.३०,

४—योगभास्वती, पृष्ठ २५०

५—कर्मणा मनसावाचा परद्रव्येषु निस्पृहा। अस्तेयमिति सा प्रोक्ता। योग याज्ञवल्क्य १.५१.१।२,

६—योगकारिका, २.६६

७—पतञ्जलि योगशास्त्र : एक अध्ययन, ११४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा मेध्य आहार आदि द्वारा शरीर के कण-कण को अशुद्धि से परे रखना वाह्य शौच कहा जाता है। मैत्री करुणामुदिता और उपेक्षा वृत्तियों द्वारा चित्त को निर्मल रखना आभ्यन्तर शौच कहा जाता है।[1] भावगणेश और नागोजि आदि के अनुसार शौच सर्व प्रथम शरीर और मानस भेद से दो प्रकार का है। शारीरिक शौच भी वाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का है। वाह्य शारीरिक शौच मिट्टी, जल आदि द्वारा सम्पन्न किया जाता है।[2] शौच के सम्बन्ध में मनु का कहना है कि ज्ञान, तप, अग्नि, आहार, मिट्टी, मन, जल, अनुलेपन, वायु, कर्म, सूर्य और समय, इनके द्वारा देह धारियों की शुद्धि होती है।[3] मनु ने अन्य समस्त शौचों से अर्थ की पवित्रता को विशेष महत्त्व दिया है।[4] उनका कहना है कि विद्वान् क्षमा से; धर्म विरुद्ध कार्य करने वाला, दान देने से; गुप्त पाप करने वाला जप से तथा श्रेष्ठ वेद ज्ञाता तपस्या से शुद्ध होता है। इसी प्रकार शरीर की शुद्धि जल से, मन की शुद्धि सत्य से तथा जीवात्मा की शुद्धि ब्रह्मविद्या तथा तपस्या से और बुद्धि की शुद्धि ज्ञान से मानी गई है।[5] शौच के संदर्भ में मनु ने विभिन्न द्रव्यों और वस्तुओं की शुद्धि की प्रक्रिया का विस्तार के साथ वर्णन किया है।[6]

इन्द्रिय निग्रह

इन्द्रिय निग्रह का अर्थ है इन्द्रियों का उनके विषयों से हटाना या अलग करना। पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के पाँच विषय हैं जिनमें इन्द्रियों की स्वाभाविक वृत्ति होती है। जैसे श्रवणेन्द्रिय का शब्द, स्पर्शेन्द्रिय का स्पर्श, चक्षु का रूप, रसेन्द्रिय का रस, घ्राणेन्द्रिय का गन्ध। इन विषयों में इन्द्रियां स्वभावतः प्रवृत्त होती हैं। गीता में कहा गया है कि अपने-अपने विषयों की ओर जाती हुई इन्द्रियों के पीछे-पीछे जिसका मन चलता है,

---

१—शौचं द्विविधं वाह्यमाभ्यन्तरञ्च । वाह्य मृज्जलादिभिः कायादिप्रक्षालनम् । आभ्यन्तरं मैत्र्यादिभिश्चितमलानां प्रक्षालनम् । भोगवृत्ति ९४,

२—पतञ्जलि योगशास्त्र : एक अध्ययन, पृष्ठ १२०

३—ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृन्मनो वार्युपाञ्जनम् । वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेः कर्तृणि देहिनाम् ॥ मनु ५.१०५,

४—मनु ५.१०६

५—अद्भिर्गात्राणि शुद्धयति मनः सत्येक शुद्धयति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्धयति ॥ मनु ५.१०९,

६—मनु ५.१११-१४६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसकी प्रज्ञा उसी प्रकार भ्रमित होती है जैसे जल में नौका वायु के झोंके से भ्रमित होती है। इसीलिए अपनी प्रज्ञा को प्रतिष्ठित करने के लिए सभी इन्द्रियों को उनके विषयों से अलग रखना नितान्त आवश्यक है।[१] गीता में यह भी स्पष्ट किया गया है कि बुद्धिमान् व्यक्ति जो योग साधना रत है, उसकी इन्द्रियां भी हठात् उसके मन को हरण कर लेती हैं और विषयों की ओर खींच ले जाती है।[२] इन्द्रियों को उनके विषयों की ओर आसक्त होने देने से जो हानि होती है उसका वर्णन करते हुए गीता में यह कहा गया है कि यदि व्यक्ति विषयों का चिन्तन करता है तो उस चिन्तन से उन विषयों में आसक्ति हो जाती है। आसक्ति होने से विषयों के प्रति काम या इच्छा उत्पन्न होता है, इच्छा को तृप्ति न होने से क्रोध उत्पन्न होता है और क्रोध से सम्मोह होता है तथा सम्मोह से स्मृति भ्रशं हो जाती है और स्मृति भ्रशं से बुद्धि का सर्वनाश हो जाता है और बुद्धि नाश से सर्वनाश हो जाता है।[३] इसलिए यह आवश्यक है कि सर्वनाश से अपनी रक्षा के लिए इन्द्रियों का निग्रह किया जाय। इन्द्रियों के अपने विषय के आकर्षण सामर्थ्‌य के कारण ही मनु ने यह निर्देश दिया है कि पुरुष को अपनी माता, बहन तथा पुत्री के साथ भी कभी एकान्त में नहीं रहना चाहिए। क्योंकि इन्द्रियों का समूह अत्यन्त बलवान् होता है वह विद्वान् को भी अपने वश में कर लेता है।[४] इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि को काम का अधिष्ठान या घर भी कहा जाता है।[५] इसलिए धर्मशास्त्रों में इन्द्रिय निग्रह को सामान्य धर्मों में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

धी

धी का तात्पर्य है विवेक बुद्धि। विवेक बुद्धि से मनुष्य वस्तुओं के तथा विषयों के गुण और दोष को भलीभांति समझता है और विषयों से होने वाले राग और द्वेष के परिणाम का आकलन और परीक्षण भी करता है। जिससे उसे यह शक्ति प्राप्त होती है कि गुण का ग्रहण करे और दोष का परित्याग कर सके। इस विवेक बुद्धि में समत्व बुद्धि को सबसे अधिक महत्त्व दिया

१—गीता, २.६७,६८

२—गीता, २.६०

३—गीता, २.६२,६३

४—मात्रा स्वस्त्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥ मनु, २.२१५

५—गीता, ३.४०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया है। समत्व बुद्धि दुःख-सुख, हानि-लाभ, जय और पराजय में व्यक्ति को अपने कर्त्तव्य से विचलित नहीं होने देती है। इस समत्व बुद्धि से युक्त व्यक्ति कर्मों के शुभ और अशुभ फल से अपने को बचा लेता है।[1] इस विवेक बुद्धि की आवश्यकता मानव के कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य विवेचन में पद-पद पर पड़ती है इसलिए इसे सामान्य धर्म के रूप में स्वीकार किया गया है।

विद्या

विद्या के अन्तर्गत ज्ञान और विज्ञान दोनों का समावेश होता है। ज्ञान व्यष्टि में समष्टि का अनेकता में एकता का और विश्व में आध्यात्म का अनुभव है और विज्ञान विश्व की विविधता का पृथक्-पृथक् ज्ञान है। इस ज्ञान से मनुष्य अपने जीवन के उद्देश्यों का, उद्देश्यों के परस्पर सम्बन्ध का तथा जीवन के परम लक्ष्य का निर्धारण करता है और उसी के अनुसार अपनी क्रियाओं और अपने वृत्तियों को संचालित करता है जिससे पुरुषार्थ की सिद्धि हो सके।

सत्य

योगसूत्र के व्यास भाष्य में सत्य के स्वरूप को बतलाते हुए कहा गया है कि वाणी और मन की यथार्थता ही सत्य है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य को प्रत्यक्ष अनुमान एवं शब्द द्वारा जो भी ज्ञान प्राप्त होता है मन और वाणी द्वारा उसे ही व्यक्त करना चाहिए। क्योंकि अपने मन के अनुभव को दूसरों तक पहुँचाने के लिए ही वाणी का उदय हुआ है। यदि वह वाणी वंचना और ठगी से रहित होती है तब तो अपने लक्ष्य को पूरा कर पाती है अन्यथा नहीं।[2] साथ ही साथ वाणी को सत्य होने के लिए समस्त प्राणियों का उपकार करने वाली होनी चाहिए। मनु का कहना है कि सत्य वाणी का धर्म है किन्तु केवल यथार्थता मात्र होना ही सत्य नहीं है। इसके साथ-साथ प्रियता का होना भी आवश्यक है। किन्तु प्रियता मात्र के लिए अनृत को वाणी में स्थान नहीं दिया जाना चाहिए।[3]

१—गीता, २.५०

२—योगसूत्र व्यासभाष्य, २.३०

३—सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥ मनु, ४.१३८,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महाभारत-शांतिपर्व में सत्य के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि सत्य बोलना अच्छा है परन्तु सत्य से भी अधिक ऐसा बोलना अच्छा है जिससे सब प्राणियों का हित हो। क्योंकि जिससे सब प्राणियों का अत्यन्त हित होता है वही वास्तविक सत्य है।[१] अग्निपुराण में भी प्राणियों के अत्यन्त हित को ही सत्य का स्वरूप माना गया है।[२] असत्य या झूठी गवाही आदि देने वालों को नरक होता है।[३] सत्य का सामान्य धर्म में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है।

अक्रोध

अक्रोध का अर्थ है क्रोध के बाहरी कारण होते हुए भी क्रोध न करना। क्रोध और काम दोनों को रजोगुण से उत्पन्न मानव का महान् शत्रु माना गया है।[४] काम और लोभ के साथ क्रोध को भी सर्वस्वनाश करने वाला नरक का द्वार माना गया है।[५] जहां काम का उदय राग आसक्ति और इच्छा की तृप्ति से होता है वहाँ क्रोध का उदय द्वेष, इच्छा-विघात या इच्छा के विषय की अप्राप्ति से होता है। क्रोध से व्यक्ति अपना विवेक खो बैठता है उसकी स्मृति नष्ट हो जाती है। तथा बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और वह सर्वनाश के गर्त में चला जाता है।[६] इसीलिए समस्त क्रोध की परिस्थितियों में क्रोध पर विजय प्राप्त करना उसे रोक लेना या उसे प्रकट न होने देना अक्रोध कहलाता है। यह मनुष्य को अनेक बुराइयों और पापों से बचा लेता है।

विशिष्ट धर्म

विशिष्ट धर्म को 'स्वधर्म' भी कहा जाता है क्योंकि यह एक विशेष व्यक्ति का अपना धर्म होता है। उदाहरण के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य

१—सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्।
यद्भूतहितमत्यन्तं एतत्सत्यं मतं मम॥ म०, शा०॥ २२९.१३ तथा २८७.१९

२—अग्नि पुराण, ३७१.७

३—साक्षी दृष्टश्रुतादन्यद्विब्रुवन्नार्यसंसदि।
अवाङ्नरकमभ्येति प्रेत्य स्वर्गाच्च हीयते॥ मनु, ८.७५,

४—गीता, ३ ३७

५—गीता, १६.२१

६—गीता, २.६३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और शूद्र के अपने-अपने वर्ण के अनुसार धर्म विशिष्ट धर्म हैं । ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी और संन्यासी के अपने अपने आश्रम के अनुसार विहित धम उनके विशिष्ट धर्म हैं । इन चारों वर्णों और आश्रमों के धर्म एक दूसरे से पृथक् हैं । स्त्री का धर्म पुरुष से भिन्न है, गुरु और शिष्य का धर्म एक दूसरे से भिन्न है, प्रजा के धर्म तथा राजा के धर्म में भी भेद है । पिता–पुत्र अथवा मित्र के रूप में व्यक्ति के धर्म भी भिन्न-भिन्न हैं । इस प्रकार समाज में अन्य व्यक्तियों से पृथक् एक व्यक्ति की जो स्थिति होती है और उस स्थिति के समक्ष उसकी जिस प्रकार की अपेक्षाएं होती हैं, उनके अनुसार निर्धारित होने वाले कर्त्तव्य को ही उस व्यक्ति का विशिष्ट धर्म कहा जाता है ।

शास्त्रों में विशिष्ट धर्म अथवा स्वधर्म को अधिक महत्त्व दिया गया है । इसलिए यह विधान है कि किसी परिस्थिति में स्वधर्म यदि अन्य के धर्म से निकृष्ट भी लगता हो तो भी उसे छोड़ना नहीं चाहिए अपितु उसे ही श्रेष्ठ मानकर उसका आचरण करना चाहिए ।[१] इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि स्वधर्म का निर्धारण कैसे हो ? इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि व्यक्ति के विशिष्ट धर्म को जानने का साधन शास्त्र ही है ।[२]

विशिष्ट धर्म को विशेष महत्त्व देने का धर्मशास्त्रों का आशय यह लगता है कि उनके मत में विशिष्ट धर्म समाज के अस्तित्व और व्यवस्था के मूल आधार है । अपने वर्ण और आश्रम के अनुसार तथा समाज में अपनी स्थिति के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति पर कुछ कर्त्तव्य या दायित्व आपाततः आ जाते हैं जिनके निर्वाह से सम्भव है कि उस व्यक्ति को विशेष लाभ न हो किन्तु उस कर्त्तव्य का समाज की दृष्टि से अधिक महत्त्व हो । ऐसी स्थिति में यदि वह व्यक्ति अपने लाभ और अपने स्वार्थ को ध्यान में रखकर अपने स्वधर्म का या अपने ऊपर आपाततः आये हुए कर्त्तव्यों का समुचित पालन नहीं करता तो वह उस कर्त्तव्य से होने वाले सामाजिक लाभ से समाज को वंचित करता है और इस प्रकार समाज में एक अव्यवस्था उत्पन्न होती है । समाज कर्त्तव्यों की शृंखला और परस्पर सम्बन्ध का ही

१—श्रेयान्स्वधर्मोविगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ गीता, ३.३५,

२—तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ । गीता, १७.२४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरा नाम है। यदि कोई व्यक्ति अपने कर्त्तव्य से च्युत होता है तो उतने अंश में समाज का अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है और समाज में अव्यवस्था उत्पन्न होती है। इसलिए गीता में यह स्पष्ट कहा गया है कि स्वधर्म के पालन में यदि व्यक्ति का निधन भी हो जाता है तो वह श्रेयस्कर है किन्तु परधर्म का अनुष्ठान सामाजिक हित और व्यवस्था की दृष्टि से अत्यंत भयावह है।[१]

विशिष्ट धर्म की गणना के सम्बन्ध में विचारकों में पर्याप्त मतभेद है। कुछ लोग वर्ण-धर्म, आश्रम-धर्म, नैमित्तिक धर्म (यथा प्रायश्चित) तथा गुणधर्म (अभिषिक्त राजा के संरक्षण सम्बन्धी कर्त्तव्य) को विशिष्ट धर्म मानते हैं।[२] अन्य विचारकों के अनुसार विशिष्ट धर्म के अन्तर्गत वर्ण-धर्म, आश्रम-धर्म, कुलधर्म, युगधर्म, राजधर्म और स्वधर्म रखा गया है।[३] कुछ अन्य लोग युगधर्म के स्थान पर काल धर्म एवं देशधर्म का उल्लेख करते हैं।[४] अतः उक्त आधार पर निम्नलिखित विशिष्ट धर्मों का यहां संक्षिप्त परिचय दिया गया है - वर्णधर्म, आश्रम-धर्म, कुलधर्म, युगधर्म, राजधर्म।

वर्णधर्म

वर्णधर्म का तात्पर्य विभिन्न वर्णों के कर्त्तव्यों और नियमों से है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के जो शास्त्रसम्मत सामाजिक कर्त्तव्य हैं उनका प्रसन्नतापूर्वक पालन करना वर्ण-धर्म है। ब्राह्मण के लिए प्रधान कर्त्तव्य वेद पढ़ना, वेद पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना दान देना और दान लेना माना गया है। क्षत्रिय के लिए प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेद पढ़ना और विषय में आसक्त न रहना प्रमुख कर्त्तव्य। वैश्य के लिए पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेद पढ़ना, व्यापार करना, ब्याज लेना और कृषि कर्म करना, तथा शूद्र के लिए तीनों वर्णों की सेवा करना प्रमुख कर्त्तव्य कहा गया है। विभिन्न वर्गों के ये कर्तव्य

१—गीता, ३ ३५
२—पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग–१, पृष्ठ ४
३—डा० जय शंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृष्ठ २१५-२१९
४—रविन्द्रनाथ मुखर्जी, भारतीय सामाजिक संस्थायें, पृष्ठ ८५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही वर्णधर्म के अन्तर्गत आते हैं ।[1]

आश्रमधर्म

आश्रमधर्म मनुष्य जीवन को अनुशासन, संयम और नियम के अन्तर्गत रखने का एक व्यापक एवम् सुदृढ़ व्यवस्था है । आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन-बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वान प्रस्थाश्रम, और संन्यासाश्रम इन चार आश्रमों में विभाजित किया गया है । मनु के अनुसार इन चार आश्रमों का विधिवत् पालन करने वाला मोक्ष (परमगति) प्राप्त करता है तथा ब्रह्मलोक का भागी होता है ।[2] इन आश्रमो के कर्त्तव्यों का अनुष्ठान तथा नियमो का पालन आश्रमधर्म कहा जाता है ।

कुल धर्म

वंश से चले आ रहे नियमो तथा आचारों का क्रियान्वयन ही कुल-धर्म कहा जाता है । माता-पिता, पति-पत्नी, पुत्र-पुत्री आदि के साथ होनेवाले व्यवहार तथा कुटुम्ब में अन्य लोगों के साथ किया जाने वाला कर्त्तव्य कुलधर्म के अन्तर्गत आता है ।[3]

युगधर्म

धर्मशास्त्रों की यह मान्यता है कि युग के अनुरूप ही नैतिक आदर्श और नियम परिवर्तित होते रहते हैं समय के बदलने के साथ-साथ देश और काल की परिस्थितियां भी बदला करती हैं । सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग आदि अपने-अपने युग के धर्म और आदर्श को व्यक्त करते हैं । मनु के अनुसार सत्ययुग में दूसरे धर्म एवं त्रेता, द्वापर और कलियुग में दूसरे धर्म हैं । अतः युग के अनुसार युगधर्म का विभाजन होता है । सत्ययुग में तप, त्रेता में ज्ञान, द्वापर में यज्ञ और कलि में केवल दान को

१—महाभारत, भीष्मपर्व: ४२.४१-४४,
महाभारत, अनुशासनपर्व: १४१.५४-५९ मनु०, १.८८–९१,

२—सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं निषेविताः ।
यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम् ।। मनु०, ६.८८,

३—मनु०, २.२३१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही श्रेष्ठ धर्म कहा गया है।[1] इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक युग का अपना धर्म है। ये धर्म विभिन्न युग के नैतिक कर्त्तव्य, आचरण और व्यवहार व्यक्त करते हैं जो उस युग के प्रतिमान माने जाते हैं।

राजधर्म

शासन व्यवस्था किसी भी राष्ट्र की उन्नति का प्रमुख परिचायक तत्त्व है। राजा के विभिन्न कर्त्तव्य उसके शासन व्यवस्था के आधारभूत अंग हैं। राजा को अपनी प्रजा के हित के लिए कार्य करना उसका गुण माना गया है। राजा पर ही धर्म, नीति और व्यवस्था निर्भर रहती है।[2] अत: रााजा के लिए जो कर्त्तव्य हैं, चाहे वह प्रजा के प्रति हो, देश के प्रति हो, राष्ट्र या राज्य के प्रति हो वे सब राजधर्म कहे जाते हैं। हिन्दू शास्त्रकारों ने राजा के विभिन्न कार्यों पर नियन्त्रण और प्रतिबन्ध इसलिए लगा दिया है कि राजा कहीं निरंकुश न हो जाय तथा प्रजा के अहित में कार्य न करने लगे। राजा के लिए यह आवश्यक है कि वह धर्म और नीति का जानकार हो। राजा के प्रमुख कर्त्तव्यो में सज्जनों की रक्षा करना तथा दुर्जनो को दण्ड देना विशेष महत्त्व का है। राजा दण्ड शक्ति का आधार होता है किन्तु दण्ड शक्ति का उसे सदुपयोग करने का अधिकार है, दुरुपयोग करने का नहीं। राज्य में सुख, शांति और समृद्धि बनाये रखना उसका प्रधान कर्त्तव्य है।[3] जिस प्रकार अन्य लोग अपने धर्म से बँधे रहते हैं उसी प्रकार राजा भी अपने राजधर्म से बँधा रहता है। अपने धर्म से च्युत राजा भी सम्मान का पात्र नहीं रह जाता है।

उपर्युक्त विशिष्ट धर्म के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि यह एक व्यावहारिक धर्म है जो प्रत्येक व्यक्ति को अपनी स्थिति के अनुकूल करने का अवसर प्रदान करता है। गीता में जिसे 'धर्म' कहा गया है उसका तात्पर्य भी वास्तव में 'स्वधर्म' का ही पालन करना है। व्यक्ति का धर्म चाहे वेदाध्ययन करना हो, शत्रु से लड़ना हो, व्यापार करना हो अथवा केवल सेवा ही करना हो, यदि वह इसका पालन स्वधर्म के रूप में करता

१—अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे परे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः।। मनु०, १.८५-८६,

२—महाभारत, शांतिपर्व ३२०.१६१

३—जय शंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृष्ठ २१८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है तब वह अपने धर्म का पालन करता है। यही कारण है कि धर्मशास्त्रों में धर्म और कर्म एक दूसरे के पर्याय माने गए हैं। ये दोनो एक ही कर्त्तव्य की दो भिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं, इनके मौलिक रूप में कोई भेद नहीं है।

आपद्धर्म

सामान्य धर्म और विशिष्टधर्म के अतिरिक्त धर्मशास्त्रों में आपद्धर्म की भी चर्चा है। स्वधर्म या विशिष्ट धर्म सामान्य एवं शांतिमय तथा व्यवस्थित जीवन के लिए विहित धर्म हैं। किन्तु देश काल और परिस्थिति के कारण कुछ ऐसे भी अवसर आते हैं जब स्वधर्म या विशिष्ट धर्म से व्यक्ति का अपना जीवन निर्वाह तथा अपने आश्रितों के जीवन निर्वाह असम्भव होने लगता है। ऐसी स्थिति के लिए शास्त्रकारों ने आपद्धर्म का विधान किया है। इस आपद्धर्म के अवसर पर स्वधर्म पर निर्धारित वर्णधर्म, आश्रमधर्म आदि स्थगित हो जाते हैं और इसमें परधर्म को अपनी जीविका निर्वाह के लिए स्वीकार कर लिया जाता है। इस आपद्धर्म में ब्राह्मण, क्षत्रिय का, क्षत्रिय, वैश्य का, वैश्य, शूद्र का धर्म अपनाकर अपनी जीविका का निर्वाह कर सकता है।[१]

अर्थ की परिभाषा; स्वरूप एवं प्रकार

पुरुषार्थों में अर्थ को दूसरा स्थान दिया गया है। अर्थ की परिभाषा करते हुए यह कहा गया है कि जिससे समस्त प्रयोजनों की सिद्धि होती है वह अर्थ है।[२] चाणक्य ने अर्थ को लोक जीवन का मुख्य प्रवर्त्तक माना है।[३] अर्थ शब्द के शाब्दिक व्याख्या से उसका अर्थ अभिलषित वस्तु लिया जाता है। अर्थात् अर्थ वह वस्तु है जिसको प्राप्त करने की अभिलाषा सभी करते हैं।[४] अर्थ में लोक जीवन को प्रवृत्त कराने की क्षमता का स्पष्टीकरण करते हुए चाणक्य ने कहा है कि प्रत्येक मनुष्य स्वभाव से सुख चाहता है और सुख का मूल धर्म है किन्तु धर्म बिना अर्थ केणसम्भव

१—मनुस्मृति, १०.८१, ९८, याज्ञवल्क्य स्मृति, प्रायश्चिताध्याय ३५-०४

२—पुरुषार्थ चतुष्टय, पृष्ठ २२२. यतः सर्वप्रयोजन-सिद्धिः स अर्थ।

३—चाणक्य सूत्र ७.२८, अर्थार्थप्रवर्तते लोकः।

४—अर्थयते सर्वैः इति अर्थः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं है। अतः अर्थ के लिए प्रवृत्ति स्वाभाविक हो जाती है।[1] त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और काम में कुछ विचारकों ने अर्थ को अन्य दोनों से अधिक महत्त्व दिया है। क्योंकि अर्थ, धर्म और काम दोनों की सिद्धि में सहायक होता है। अर्थ के बिना न तो धर्म सम्पन्न हो पाता है और न काम की सिद्धि ही हो पाती है। इसलिए त्रिवर्ग में अर्थ को प्रधान मानना युक्तिसंगत माना जाता है।[2] चाणक्य सूत्र में भी इस कथन का समर्थन किया गया है कि अर्थ धर्म और काम का मूल है और अर्थ वृत्ति या आजीविका से प्राप्त किया जाता है।[3] अर्थ की व्यापक परिभाषा देते हुए वात्स्यायन ने कहा है कि विद्या, भूमि, सोना, चांदी, पशु, धन-धान्य, बर्तन-भाडां, लकड़ी, लोहे का सामान, घर-गृहस्थी का सामान एवं इष्ट वस्तुओं का अर्जन तथा अर्जित का संवर्द्धन अर्थ के अन्तर्गत आता है।[4] शुक्राचार्य ने अर्थ की व्याख्या उन साधनो के आधार पर की है जिनसे अर्थ की प्राप्ति होती है। उनके अनुसार विद्या, शूरता, दक्षता, बल, धैर्य, मित्र और सहज इनके द्वारा अर्थ की प्राप्ति होती है।[5] महाभारत शांतिपर्व में अर्थ के साधनो का निर्देश करते हुए कृषि, वाणिज्य, गोरक्षा और विविध शिल्प को विशेष महत्त्व दिया गया है।[6]

अर्थ में भूमि की प्रधानता

कौटिल्य ने अर्थ में सबसे अधिक प्रधान भूमि को माना है, उनकी मान्यता है कि मानव जीवन का आधार भूमि है उससे ही मनुष्य की समस्त जीविकाओं का उद्‌भव होता है। भूमि ही मनुष्यादि समस्त प्राणियों के प्राण यात्रा के सम्पूर्ण साधनों का उद्‌गम स्थान है। अतः यह प्रधान अर्थ है।

१—सुखस्य मूलं धर्मः। धर्मस्यमूलम् अर्थः। चाणक्य सूत्र १.१,२

२—अर्थ एव प्रधान इति कौटिल्यः। अर्थमूलौ धर्मकामौ। कौटिल्य अर्थशास्त्र।

३—चाणक्य सूत्र, १.८९-९०, वृत्तिमूलम् अर्थः। अर्थमूलौ धर्मकामौ।

४—विद्या-भूमि-हिरण्य-पशु-धन-धान्य-भाण्डोपस्कर
मित्रादीनाम् अर्जनम्, अर्जितस्य च विवर्धनम् अर्थः। कामसूत्र, अध्याय १,

५—शुक्रनीति, ४.१३,

६—कर्मभूमिरियं राजन्निह वार्ता प्रशस्यते।
कृषि वाणिज्य-गौरक्ष्यं शिल्पानिविविधानिच ॥ महाभारत शांतिपर्व, १६७.११

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्य समस्त अर्थ इस भूमि के ही आधीन हैं।[1] भूमि से उत्पन्न अन्न सब लोगों के जीवन का आधार होता है इसलिए चाणक्य ने अन्न को अन्य अर्थों से श्रेष्ठ अर्थ माना है। अन्न के इस महत्त्व के कारण ही पराशर ने कृषि को विशेष महत्त्व दिया है उनके अनुसार कृषि से धान्य की उत्पत्ति होती है और उससे खलिहान में अनेक प्रकार के याचकों को सन्तुष्ट किया जाता है तथा समस्त प्राणियों की रक्षा के लिए वह सहायक होती है इसलिए कृषि करने वाला इस लोक और परलोक में सुख का भागी बनता है। पराशर ने तो यहाँ तक कहा है कि कृषि से अतिरिक्त न तो धर्म है और न कोई लाभ, और न कोई सुख। यदि कृषि धर्म पूर्वक हो, उससे उत्पन्न धान्य आदि के समुचित वितरण की व्यवस्था हो तो यह सर्वश्रेष्ठ धर्म हो जाता है।[2]

अर्थ-द्रव्य-धन

देवी भागवत में अर्थ, धन और द्रव्य को पर्यायवाची माना गया है और धन तथा द्रव्य को सुख का साधन कहा गया है।[3] निरुक्त में यास्काचार्य ने धन शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि द्रव्य को धन इसलिए कहा जाता है कि वह सबको तृप्त करता है या वह फल देता है।[4]

आधुनिक चिन्तकों के मत में अर्थ

अर्थ की परिभाषा आधुनिक विद्वानों ने अपने अनुसार देने का प्रयास किया है। जिमर के अनुसार "अर्थ के अन्तर्गत उन सब भौतिक वस्तुओं की सम्पूर्ण शृंखला का समावेश है जिनपर अधिकार किया जा सकता है, जिसका आनन्द लिया जा सकता है, जो खोई जा सकती है और दैनिक, जीवन के घर में प्रबन्ध, भरण-पोषण, परिवार की समृद्धि और धार्मिक कर्त्तव्यों के पालन अर्थात् जीवन के विभिन्न उत्तरदायित्वों को

१—मनुष्याणां वृत्तिः अर्थः। मनुष्यवती भूमिरित्यार्थः। कौटिल्य अर्थशास्त्र १५.१,
२—कृषावुत्पाद्या धान्यानि खल यज्ञं समाप्य च।
सर्वसत्वहिते युक्त इहामुत्र सुखी भवेत्॥
कृषेरन्यत्र नो धर्मो न लाभः कृषितोऽन्यतः।
सुखं न कृषितोऽन्यत्र यदि धर्मेण वर्तते॥ पराशर स्मृति ५.१८४-१८५,
३—देवीभागवत् १.१५.४२
४—धनकैस्मात् धिनोतियतः अथवा दधवन्ति (फलति) इतिधनं। निरुक्त ३.२-३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्ण करने के लिए जिनकी आवश्यकता होती है।[१] जिमर ने हिन्दू जीवन में पुरुषार्थ के अन्तर्गत "अर्थ" के उक्त परिभाषा में अर्थ की व्यापकता की ओर संकेत किया है। उनके अनुसार केवल धन, सम्पत्ति ही अर्थ नहीं, अपितु सम्पूर्ण भौतिक, वैभव, ऐश्वर्य, सामग्री भवन, वस्त्र, हाथी, घोड़े, मोटर, रुपया, आभूषण सुख सुविधा के समस्त साधन अर्थ की परिधि में आ जाते हैं। अर्थ का तात्पर्य उन समस्त साधनों से है जो भौतिक उन्नति में सहायक हैं। डा० कपाड़िया के शब्दों में "मानव में प्राप्त करने की प्रवृत्ति का तुष्टिकरण ही अर्थ है।"[२]

अर्थ का महत्त्व

जीवन का अस्तित्व रक्षण और संवर्द्धन धन या अर्थ के ऊपर आधारित होता है इसलिए त्रिवर्ग में अर्थ को विशेष महत्त्व दिया जाता है। नारद ने तो यहाँ तक कहा है कि मानव की सारी क्रियाएं अर्थमूलक होती हैं।[३] और उसके सारे प्रयत्न अर्थोपार्जन के लिए ही होते हैं। नारद के उक्त मत का समर्थन शुक्राचार्यजी ने भी किया है उनका कहना है कि अर्थ के उपार्जन संवर्द्धन, सरक्षण और सदुपयोग से उसी प्रकार समस्त क्रियाओं की प्रवृत्ति हो जाती है जैसे पहाड़ों से नदियों की प्रवृत्ति होती है। शुक्राचार्य ने यह भी कहा है कि अर्थ यज्ञ का साधन है और यज्ञ स्वर्ग और सुख का साधन है।[४] अर्थ की महत्ता बतलाते हुए यह कहा है कि निर्धन मनुष्य चाहे जितना ही गुणवान क्यों न हो तो भी अपने स्त्री, पुत्र और परिवार-वालों के द्वारा अनादृत होता है। सभी उसका परित्याग करते हैं। इस सृष्टि में व्यवहार सम्पादन के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण साधन धन को माना गया है। अतः धन की प्राप्ति के लिए उपाय और साहस के साथ मनुष्य को सदा यत्न करते रहना चाहिए।[५] शुक्रनीति में अर्थ को धर्म, काम और मोक्ष तीनों का आधार माना गया है।[६]

१—जिमर, उद्धृत रविन्द्र नाथ मुखर्जी, भारतीय सामाजिक संस्थाएं, पृ० ९५

२—डा० के० एम० कपाड़िया। पृष्ठ २६.

३—नारदस्मृति उद्धृत पुरुषार्थ चतुष्टय पृष्ठ २२६

४—शुक्रनीति उद्धृत वहीं से पृष्ठ २२७

५—शुक्रनीति, ३.१७६

६—शुक्रनीति, १.८४, अर्थाद् धर्मश्चकामश्च मोक्षश्चापि भवेन्नृणाम्।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ की प्रशंसा करते हुए महर्षि चाणक्य ने कहा है कि अर्थवान् व्यक्ति, सब लोक में सम्मान का पात्र होता है।[१] शुक्रनीति में यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है कि व्यक्ति अर्थ का दास होता है अर्थ किसी का दास नहीं होता है।[२] इसी प्रकार नीतिशास्त्रों में निर्धनता की निन्दा की गई है चाणक्य ने कहा है कि निर्धन व्यक्ति की बुद्धि नहीं होती तथा उसका जीवन ही मरण के सदृश होता है।[३]

अर्थोपार्जन के साधन तथा संचय वृत्तियाँ

शुक्र ने अर्थोपार्जन के विविध साधनों का उल्लेख किया है जैसे— सद्विद्या, सत्सेवा, शूरता, कृषि, व्याज, व्यापार, कला, प्रतिग्रह या इन्हीं के समान अन्य उपाय।[४] मनु ने भी अर्थोपार्जन के साधनों को जीवन का साधन मानकर उल्लेख किया है जिनमें दस को विशेष महत्त्व का माना है जो ये हैं :—विद्या, शिल्प, नौकरी, सेवा, पशुपालन, व्यापार, कृषि, धैर्य, भिक्षा और व्याज।[५] अर्थोपार्जन के विशेष उपायों की चर्चा करते हुए मनु ने ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत, सत्य तथा अनृत, नाम की वृत्तियों का अनुमोदन किया है। इन वृत्तियों की व्याख्या करते हुए मनु ने उञ्छ और शील वृत्ति को अमृत माना है क्योंकि इसमें किसी से कुछ मांगना नहीं होता। मांगकर भिक्षा आदि से अर्थ उपार्जन की वृत्ति को मृतवृत्ति कहा गया है और कृषि को प्रमृत नाम दिया गया है, वाणिज्य का नाम सत्यानृत रखा गया है, सेवा को श्ववृत्ति कहा गया है।[६]

१—चाणक्यसूत्र, ४.२२, अर्थवान् सर्वलोकस्य बहुसम्मतः।

२—शुक्रनीति, २.८३, अर्थस्यपुरुषोदासोदासस्त्वर्थो न कस्यचित्।

३—अधनस्य बुद्धिर्न विद्यते।
दारिद्रयंखलु पुरुषस्य मरणम्। चाणक्यसूत्र, ४.५८.४.२४

४—शुक्रनीति, ३.१७७

५—विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः।
धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवनहेतवः॥ मनु०, १०.११६,

६—ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन, प्रमृतेन वा।
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्या कदाचन॥
ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम्।
मृतं तु याचितं भैक्षं, प्रमृतं कर्षणं स्मृतम्॥
सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते।
सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत्॥ मनु०, ४.४-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्विजाति (ब्राह्मण) के संचय वृत्ति की चर्चा करते हुए मनु ने कुसूल धान्यक, कुम्भीधान्यक, त्र्यैहैहिक और अश्वस्तनिक वृत्तियों का निर्देश किया है। इनमें पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर--उत्तर की बृत्तियोंमें संचय और संग्रह की मात्रा घटती जातो है इसलिए पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर वृत्ति को श्रेष्ठ माना गया है।[१]

जीविकोपार्जन की वृत्तियों की संख्या के आधार पर मनु ने गृहस्थ को चार वर्गों में विभक्त किया है कुछ गृहस्थ छः वृत्तियों (ऋत, अयाचित, भैक्ष्य, खेती, व्यापार, सूद) से अपनी जीविका के निर्वाह के लिए अर्थोपार्जन करते हैं। दूसरा वर्ग उन गृहस्थों का है जो कम परिग्रह वाले केवल तीन (यज्ञ कराना, पढ़ाना और दान लेना) के द्वारा अपने परिवार का भरण पोषण करते हैं। इससे भी कम संचय वाला तोसरा वर्ग है जो केवल दो वृत्ति यज्ञ कराना और अध्यापन के द्वारा अपनी आजीविका चलाता है और चौथा वर्ग वह जो केवल वेदों के अध्यापन मात्र से अपने तथा अपने परिवार का भरण-पोषण करता है।[२]

अर्थ एव सन्तोष

अर्थोपार्जन संचय और संग्रह के सम्बन्ध मनु ने सन्तोष को विशेष महत्त्व दिया है। मनु के अनुसार व्यक्ति में जितना ही अधिक सन्तोष होगा उतना ही अधिक वह सुखी होगा और जिस अनुपात में उसमें असन्तोष होगा उसी अनुपात में उसे दुःख होगा।[३] इस स्थापना से मनु अर्थ की मात्रा के आधार पर सुख की मात्रा के आकलन के सिद्धान्त का खण्डन करते हैं अर्थात् यह मानना मनु के लिए युक्तिसंगत नहीं है कि जो व्यक्ति जितना अधिक अर्थवान् होगा उसे उतना ही अधिक सुख को प्राप्ति भी होगी। क्योंकि अर्थ की सुख साधनता का सम्बन्ध मानव के सन्तोष और असन्तोष

१—कुशूलधान्यको वा स्यात्कुम्भीधान्यक एव वा।
त्र्यहैहिको वापि भवेदश्वस्तनिक एव वा॥ मनु०, ४.७,८

२—षट्कर्मै को भवत्येषां त्रिभिरन्यः प्रवर्तते।
द्वाश्यामेकश्चतुर्थस्तु ब्रह्मसत्रेण जीवति॥ मनु०, ४.९

३—सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्।
सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः॥ मनु०, ४.१२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप मानसिक वृत्ति से है अतः अधिक धनवाला व्यक्ति यदि अपने धन से सन्तुष्ट नहीं है तो वह दुःखी हो सकता है और कम धन वाला व्यक्ति यदि अपने धन से सन्तुष्ट है तो अधिक धन वाले की अपेक्षा अधिक सुखी हो सकता है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि मनु अर्थ या धन का जीवन निर्वाह के लिये महत्त्व नहीं देते अपितु वे अर्थ के साथ मानस वृत्ति सन्तोष और असन्तोष का समावेश करते हैं। क्योंकि अर्थ की सुख साधनता केवल अर्थ पर निर्भर न होकर मानव के मानसिक वृत्ति पर निर्भर है। अतः मनु अर्थ के महत्त्व को जीवन के निर्वाह के लिए स्वीकार करते हुए भी मानस वृत्ति के साथ उसका सन्तुलन करना चाहते हैं।

अर्थ की पवित्रता

मनु अर्थोपार्जन, संचय और अर्थ संग्रह के साथ अर्थ पवित्रता को विशेष महत्त्व देते हैं उन्होंने समस्त पवित्रताओं में अर्थ की पवित्रता को विशेष महत्त्व दिया है।[१] अर्थ की पवित्रता के लिए अर्थोपार्जन वृत्ति का पवित्र होना आवश्यक है।[२] मनु ने वृत्ति की पवित्रता के लिए धर्मानुमोदित वृत्ति को स्वीकार करने के लिए कहा है क्योंकि यदि वृत्ति धर्मानुमोदित नहीं होगी तो उससे उपार्जित धन कथमपि पवित्र नहीं हो सकेगा। इतना ही नहीं यदि अर्थोपार्जन का उपाय धर्म विरुद्ध है तो मनु ने उसके परित्याग का निर्देश किया है।[३] मनु यह मानते हैं कि अशुद्ध धन से होने वाला सुख परलोक विरोधी होने के कारण वास्तविक सुख नहीं है।[४]

धन का उचित उपभोग

धर्म पूर्वक अर्जित धन का उपभोग भी सम्यक् प्रकार से किया जाना चाहिए। इस उपभोग के लिए धन का पांच कार्यों में यथा सम्भव व्यय

१—मनु०, ५.१०६

२—मनु०, २.६३

३—परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविकुष्टमेव च ॥ मनु० ४.१७६,

४—अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम्।
हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते ॥ मनु० ४.१७०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने का समर्थन भागवत् पुराण में प्राप्त होता है। धन का एक अंश धर्म के लिए, दूसरा अंश यज्ञ के लिए, तीसरा अंश धन की अभिवृद्धि के लिए, चौथा अंश भोग के लिए, और पाँचवाँ अंश अपने स्वजनों के लिए व्यय किया जाना अधिक न्यायसंगत माना गया है।[१] भागवत् में यह भी स्पष्ट किया गया है कि अर्थ की आवश्यकता सबको समान रूप से है इसलिए अपने, अपनी पत्नी, अपने पुत्र-पुत्रियों, अन्य आश्रितों तथा अन्य समस्त प्राणियों के लिए अर्थ का यथायोग विभाग करके ही व्यय किया जाना उचित है। यह मत द्रव्याद्वैतवाद के नाम से जाना जाता है।[२] इस द्रव्याद्वैत की स्थापना में भागवत् पुराण ने अर्थ के समुचित वितरण, जो व्यक्ति की आवश्यकता के अनुसार हो, का विशेष समर्थन किया है।

अर्थ के दोष

भागवत् पुराण में अर्थ से होने वाले पन्द्रह अनर्थों का संकेत किया है जो ये हैं :—चोरी, हिंसा, अनृत, दम्भ, काम, क्रोध, मद, अहंकार, भेद-बुद्ध, बैर, अविश्वास, स्पर्धा, लम्पटता, द्यूत, मद्य आयु दुर्व्यसन आदि।[३] अर्थ के अधिक संचय से या अन्याय पूर्वक अर्थ के अर्जन से ये अनर्थ उत्पन्न होते हैं अतः इन अनर्थों से बचने के लिए अर्थ संचय तथा अर्थोपार्जन वृत्ति की पवित्रता को विशेष महत्त्व दिया गया है।

उक्त निरूपण से यह स्पष्ट होता है कि धर्म शास्त्रों ने अर्थ को पुरुषार्थ मानकर उसकी महत्ता को स्वीकार किया है। मानव जीवन को सुविधा प्रदान करने वाले समस्त साधन और साधन सामग्रियों को अर्थ के अन्तर्गत रखकर अर्थ के व्यापक स्वरूप का समर्थन किया गया है। अर्थ जिन साधनों से प्राप्त होता है उन साधनों को भी समुचित महत्त्व दिया गया है। तथा उनकी अनेकता का निरूपण और समर्थन भी किया गया है। अर्थ की जीवन निर्वाह की आवश्यकता को देखते और पहचानते

१—भागवत् पुराण, ८.१९, ३७।

२—भागवत् पुराण, ७.१५.६५.

३—स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च ॥
एते पञ्चदशाऽनर्था अर्थमूला मता नृणाम्।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोर्थी दूरतस्त्यजेत् ॥ श्रीमद्भागवत्पुराण ११.२३.१८,१९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए उसके अधिक सग्रह और अपसंचय से होनेवाले दोषों को भलीभांति पहचाना गया है और उससे बचने के लिए अर्थ की पवित्रता और वृत्ति की पवित्रता और वितरण की समुचित व्यवस्था पर विशेष बल दिया गया है। अर्थ उपभोग का साधन अवश्य है किन्तु कुछ व्यक्तियों के अधिकाधिक उपभोग से बहुतों की निम्नतम आवश्यकता की पूर्ति नहीं हो पाती है। इसलिए धर्मशास्त्रों ने अर्थ के उपभोग पर भी अंकुश लगाया है और अर्थ का समुचित विभाग कर उपभोग करने का निर्देश दिया है। जिससे अर्जन करनेवाला व्यक्ति अपनी आवश्यकता की पूर्ति कर सके और साथ ही साथ उसपर साक्षात् या परम्परा रूप से आश्रित समाज के अन्य व्यक्तियों की आवश्यकता की पूर्ति भी हो सके। अर्थ के अनर्थकारी रूप को भी धर्मशास्त्रों ने देखा है और उससे बचने के लिए समुचित उपायों का सुझाव भी दिया है। जिससे अर्थ के गुणों से समाज को लाभ हो सके और अर्थ से होनेवाले अनर्थों से समाज को बचाया जा सके।

काम की परिभाषा एवं स्वरूप

काम शब्द का अर्थ इच्छा, कामना, वासना, स्पृहा, तृष्णा, ऐषणा, सुख तथा सुख के साधन आदि माना जाता है। यह मानव जीवन का तीसरा पुरुषार्थ है। काम का स्वरूप बतलाते हुए महाभारत में कहा गया है कि मन और बुद्धि के साथ पांचों इन्द्रियों का विषयों के साथ जो आनन्द, प्रीति या सुख उत्पन्न होता है वही काम है। दूसरे प्रकार से काम का लक्षण करते हुए यह कहा गया है कि विषय और इन्द्रियों के संयोग से जो प्रीति, सुख या आनन्द उत्पन्न होता है वही चित्त का संकल्प है और उसे ही काम कहा जाता है, यह संकल्प रूप है अतः इसका कोई शरीर नहीं होता।[1] काम सूत्र में काम की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि अभिमानयुक्त रस से ओतपोत समस्त इन्द्रियों की प्रीति, आनन्द या सुख जिससे होता

१—इन्द्रियाणां च पन्चान्तं मनसो हृदयस्य च ।
विषये वर्तमानानां या प्रीतिरूपजायते ।
स काम इति मे बुद्धिः कर्मणां फलमुत्तमम् ॥
द्रव्यार्थस्पर्श संयोगे या प्रीतिरूपजायते ।
स कामश्चित संकल्पः शरीरं नास्य दृश्यते ।
महाभारत, बनपर्व उद्‌धृत पुरुषार्थ यतुष्टय, पृष्ठ २९०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है वह काम है ।[१] इसको और भी स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि अभीष्ट विषय में (जो मुख्य रूप से स्पर्श विषय होता है) अभिमान सम्बन्धी सुख से युक्त फलवाली अर्थ प्रतीति जब होती है तो उसे काम कहा जाता है ।[२] कहने का तात्पर्य यह है कि जब कोई व्यक्ति किसी विषय को चाहता है और वह विषय मुख्यरूप से स्पर्श इन्द्रिय का विषय होता है तब उसमें उसे यह अभिमान होता है कि यह मेरा है, मैं इससे यह सुख प्राप्त करूंगा। इस अभिमान से उस विषय में एक प्रकार का रस या आसक्ति उत्पन्न होती है और उस आसक्ति से बुद्धि मन एवं इन्द्रियों को एक विशेष प्रकार की प्रीति या संतुष्टि प्राप्त होती है । इस सन्तुष्टि को ही काम कहा जाता है । मनु ने काम की व्याख्या करते हुए यह कहा है कि काम संकल्प का मूल है और यज्ञादि सभी संकल्प से ही उत्पन्न होते हैं व्रत, यम, नियम, धर्म ये सब भी संकल्प से उत्पन्न माने जाते हैं इसलिए यह स्पष्ट होता है कि कोई भी क्रिया ऐसी नहीं है जो बिना काम के उत्पन्न हो । जो कुछ भी किया जाता है वह सब काम का ही चेष्टित है । मनु ने यह भी स्पष्ट किया है कि यद्यपि कामात्मता अधिक प्रशंसनीय नहीं हैं तथापि यहाँ अकामता की सम्भावना भी नहीं है । वेदों का समस्त ज्ञान और वैदिक कर्मयोग भी काम से ही उत्पन्न होते हैं अतः इन्हें काम्य कहा जाता है ।[३] महाभारत में यह माना गया है कि बिना काम के अर्थ की प्राप्ति सम्भव नहीं बिना काम के धर्म की प्राप्ति सम्भव नहीं, क्योंकि अर्थ ओर धर्म की प्राप्ति के लिए उनकी प्राप्ति की इच्छा होना आवश्यक है । बिना काम के कोई भी व्यक्ति नहीं दिखलाई पड़ता इसलिए काम को सबसे अधिक महत्त्व दिया जाता है यहाँ

१—कामसूत्र, उद्धृत पुरुषार्थ चतुष्टय, पृष्ठ ३०३
आभिमानिक-रसानुविद्धा यतः सर्वेन्द्रिय प्रीतिः सः कामः ।

२—कामसूत्र, उद्धृत पुरुषार्थ चतुष्टय, पृष्ठ ३०३
स्पर्श-विशेषविषये तु अस्य आभिमानिक-सुखानुविद्धा फलवती
अर्थप्रतीतिः कामः

३—संकल्पमूलः कामो वे यज्ञाः संकल्पसम्भवाः ।
ब्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः ॥
अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् ।
यद्यद्धि कुरुते किंचितत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥
कामात्मता न प्रशस्ता न चंवेहास्त्यकामता ।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥ मनु०, २.३.४.२,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक कि ऋषि-महर्षि जो तपस्या में समाहित चित्त होकर लगे रहते हैं और सुसंयत रूप से कन्द, पत्र, फलमूल एवं वायु आदि का भक्षण करते हैं उनमें भी सिद्धि या मोक्ष की कामना अवश्यमेव रहती है अतः उन्हें भी अकाम कहना सम्भव नहीं है।[१] मधुसूदन ने काम की व्याख्या करते हुए कहा है कि जो विषय प्राप्त नहीं है और उनकी प्राप्ति के कारण भी नहीं है फिर भी वे हमें प्राप्त हो, इस प्रकार की चित्त की एक विशेष वृत्ति का नाम काम है।[२] ऋग्वेद में भी काम को मन का बीज कहा गया है वह परमात्मा के हृदय में सदा से विद्यमान रहता है। तत्त्ववेत्ता मनीषियों ने गहरी खोज करके अपने हृदय में सबके बंधु इस काम को देखा है।[३] काम के सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि मनुष्यों का जो कुछ भी है वह सब काममय है। अतः काम सर्वमय है क्योंकि वह अपने संकल्प से ही उत्पन्न होता है। काम से ही सबकी प्रवृत्ति होती है काम से ही सबका रक्षण और विकास होता है और काम में ही सबका लय होता है।[४] उपनिषद् में भी पुरुष को काममय कहा गया है वह जिस प्रकार कामना करता है उसी प्रकार की वासना या भावना उत्पन्न होती है और उसी प्रकार यज्ञ करता है और जिस प्रकार का यज्ञ करता है उसी प्रकार का कर्म उत्पन्न होता है और जो कुछ कर्म उत्पन्न होता है उसे वह पुनः फल के रूप में प्राप्त करता है।[५]

१—नाकामः कामयत्यर्थं नाकामो धर्ममिच्छति ।
नाकामः कामयानो ऽस्ति तस्मात् कामा विशिष्यते ॥
कामेन युक्ता ऋषयस्तपस्येव समाहितः ।
पलाशफलमूलादा वायुभक्षाः सुसंयताः ।। महाभारत, शांतिपर्व, १६७-२९.३०

२—गीता, मधुसूदनी टीका, उद्धृत पुरुषार्थ चतुष्टय, पृष्ठ ३०६
अप्राप्तो विषयः प्राप्तिकारणाभावे ऽपि, प्राप्यताम् ।
इत्याकारः, चित्तवृत्ति-विशेषः कामः ।

३—ऋग्वेद उद्धृत पुरुषार्थ चतुष्टय, पृष्ठ २९२
कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदा प्रतीच्या कवयो मनीषा ॥

४—उद्धृत पुरुषार्थ चतुष्टय, पृष्ठ २९२
कामः सर्वमयः पुंसां स्वसंकल्प समुद्भवः ।
कामात् सर्वेप्रवर्तन्ते लीयन्ते वृद्धिमागताः ॥

५—बृहदारण्यक उपनिषद्, उद्धृत पुरुषार्थ चतुष्टय, पृष्ठ २९६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काम के स्वरूप के उक्त वर्णन के आधार पर काम को तीन रूपों में रखा जा सकता है। काम का एक सर्व व्यापक रूप है जो सृष्टि का प्रवर्त्तक सृष्टि का पालन, संहारक कहा जा सकता है। क्योंकि सृष्टि के प्रारम्भ में परमपिता परमात्मा के हृदय में भी यह कामना उत्पन्न हुई कि हम एक हैं, बहुत हो जाँय और यही कामना या काम सृष्टि का मूल बीज हुआ।[१] सृष्टि की प्रवृत्ति और विस्तार में यह काम संकल्प के रूप में चलता रहता है। समस्त क्रियाओं और कर्मों का आधार यह संकल्प ही होता है इसलिए मनु का यह कथन अत्यन्त सार्थक लगता है कि जो कुछ भी विश्व में क्रिया है वे सब काम की ही चेष्टाएं हैं।[२] काम अपने इस व्यापक अर्थ में प्रेरक और प्रवर्त्तक है। वह स्वयं सिद्ध और स्वाभाविक है। अतः पुरुष के प्रयोजन के रूप में या पुरुषार्थ के रूप में उसे स्वीकार करना युक्तिसंगत नहीं लगता क्योंकि न तो वह पुरुष प्रयत्न साध्य है और न पुरुष उसे प्राप्त कर सकता है अपितु पुरुष जो कुछ भी है और जो कुछ भी करता है वह सब काम के आधार पर, काम की प्रेरणा पर ही सम्भव हो पाता है।

दूसरे अर्थ में काम, संकल्प, इच्छा, तृष्णा, ऐषणा अभिलाषा तथा इच्छित वस्तुयें उपभोग की सामग्रियाँ और इच्छित वस्तुओं की प्राप्ति से होने वाला सुख है। इस अर्थ में काम मानव जीवन के समस्त व्यवहारों का प्रेरक और नियामक लगता है। इच्छा, इच्छित वस्तु और इच्छित वस्तु से होनेवाले सुख इतना संश्लिष्ट है कि इनमें से एक को दूसरे से पृथक् करके समझा भले ही जा सकता हो, अलग नहीं किया जा सकता। मानव जीवन की सारी प्रवृत्तियाँ सारे विकास उसकी इसी इच्छा के कारण सम्भव हो पाते है अतः तृतीय पुरुषार्थ के रूप में काम इच्छा, इच्छित वस्तुएं और इच्छा जनित सुख के अर्थ में लिया जा सकता है।

अपने तृतीय अर्थ के रूप में काम इन्द्रिय और विषय के सम्पर्क से होने वाला सुख या स्त्री-पुरुष के सम्पर्क से होने वाला यौन सुख के रूप में आता है। इनमें भी इन्द्रिय और विषय के सम्पर्क से होनेवाला सुख मन और बुद्धि की प्रेरणा पर निर्भर करता है तथा इच्छाजन्य होता है। इसलिए सामान्य इच्छा जन्य सुख के अन्तर्गत ही इसे रखा जा सकता है और इसे

१—आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव । सो कामयत । जाया मे स्यादथप्रजायेघाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीय । वृहदारण्यकोपनिषद्, १.४. ६७

२—तत्तत कामस्य चेष्टितम् । मनु . २.४.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी पुरुषार्थ माना जा सकता है । अपने संकुचित अर्थ में काम केवल यौन सुख के रूप में आता है जो प्राणिमात्र की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है । इस प्रवृत्ति के मुख्य दो कार्य होते है एक यौन तृप्ति या यौन सुख और दूसरा सन्तानोत्पत्ति । इस अर्थ में काम तभी पुरुषार्थ हो सकता है जब वह नियमित और नियंत्रित होकर यौन सुख देते हुऐ सन्तानोत्पत्ति में सहायक हो, क्योंकि अपनी स्वाभाविकता के रूप में वह समस्त प्राणियों में विद्यमान है । अतः उसे उपेय या साध्य मानना युक्तिसगंत नहीं लगता ।

पुरुषार्थों में काम को धर्म, अर्थ और मोक्ष के समान ही व्यवस्था का कारण माना गया है, और कहा गया है कि इन पुरुषार्थों की रक्षा करनेवाला समस्त अभीष्टों की रक्षा कर पाता है, और उनको नष्ट करनेवाला सब अभीष्टों का नाश कर देता है ।[१] कहीं-कहीं तो पुरुषार्थों में धर्म, अर्थ से काम को अधिक महत्त्व दिया गया है । यह कहा गया है कि जैसे दही से मक्खन श्रेष्ठ है, उसी प्रकार काम, धर्म और अर्थ का सार होने के कारण उनसे श्रेष्ठ है ।[२] महाभारत में धर्म को अर्थ का मूल और काम को अर्थ का फल कहा गया है तथा यह भी कहा गया है कि ये तोनों धर्म, अर्थ और काम संकल्प से उत्पन्न होते हैं अतः इनका मूल कारण संकल्प है जो अपने आप में विषय स्वरूप है ।[३] पुरुषार्थों में काम को निरंकुश होने से बचाने के लिए उसे धर्म और अर्थ के अविरोधी रखने का समर्थन किया गया है ।[४] इसलिए गीता में भी धर्माविरुद्ध काम को ईश्वर स्वरूप माना गया है ।[५]

काम का महत्व

पुरुषार्थों की गणना तथा धर्म और अर्थ के सम्बन्ध के प्रसंग में जब काम शब्द आता है तो उसके मुख्य दो अर्थ होते हैं, एक व्यापक

१- उद्धृत पुरुषार्थ चतुष्टय, पृष्ठ २६७

२- नवनीतं यथा दध्नस्तथा कामोऽर्थ धर्मतः ।
श्रेयस्तले हि पिण्याकाद् घृतं श्रेय उदाश्वितः ।
श्रेयः पुष्पफलं काष्ठात् कामो धमार्थयोर्वरः । उद्धृत पुरुषार्थ चतुष्टय, पृ० २६१;

३- धर्ममूल सदैवार्थः कामोऽर्थफल मुच्यते ।
सकल्पमूलास्ते सर्वे संकल्पो विषयात्मकः ।। महाभारत शांतिपर्व, १२३. ४,

४- कौटिल्य अर्थशास्त्र, १.७.३

५- धर्माविरुद्ध भूतेषु कामोस्मि भरतर्षभ । गीता, ७.११

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ और दूसरा संकुचित अर्थ। अपने व्यापक अर्थ में काम शब्द समस्त इच्छा, आकांक्षा, कामना, अभिलाषा तथा इनकी तुष्टि से होनेवाले संतुष्टि स्वरूप सुख का बोधक होता है। और अपने संकुचित अर्थ में इन्द्रिय और विषय के सम्पर्क से होनेवाले सुख उसमें भी विशेष रूप से यौन सुख का बोधक होता है। कामशास्त्र आदि में काम शब्द का प्रयोग मुख्य रूप से इसी अर्थ में किया जाता है।[१] काम के उक्त दोनों अर्थ अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। जहाँ अन्य प्राणियों का जीवन नैसर्गिक एषणा से और प्रवृत्तियों से प्रभावित एवं संचालित होता है वहाँ मानव का जीवन अनेक प्रकार की इच्छाओं, कामनाओं और अभिलाषाओं से प्रभावित और संचालित होता है। इन समस्त इच्छाओं का प्रारम्भिक रूप मूल प्रवृत्यात्मक भले हों किन्तु अपने विकसित रूप में ये मानव मन की अभूतपूर्व सृष्टि है। और मानव जीवन में होनेवाली समस्त संस्कृति, सभ्यता, विज्ञान और आविष्कार की जननी है। मनुष्य इन्हीं अभिलाषाओं के कारण और इनकी तृप्ति के लिए ही कितने प्रकार की सभ्यता, संस्कृति को जन्म देता है। कितने प्रकार के उपकरण और साधन तैयार करता है और कितने प्रकार से इन इच्छाओं को सन्तुष्ट करता है। काम के इस अर्थ में पुरुषार्थता अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। इस अर्थ में काम एक और सभ्यता संस्कृति और विज्ञान को जन्म देकर सुख के अद्भुत साधनों को उत्पन्न करने में सहायक होता है और दूसरी ओर कला, ललितकला, चित्रकला, और संगीत, कविता, सौन्दर्यशास्त्र आदि को जन्म देकर मानव के हृदयपक्ष, सौन्दर्यपक्ष, और भावनापक्ष को सन्तुष्ट करने में सहायक होता है।[२]

संकुचित अर्थ में काम शब्द इन्द्रियसुख और यौन सुख का बोधक होता है किन्तु इस अर्थ में भी पुरुषार्थ के रूप में वह केवल स्वाभाविक या नैसर्गिक इन्द्रियों की सन्तुष्टि मात्र ही नहीं है वह इन्द्रियों को उनके विषयों से आनन्द लेने के लिए परिष्कृत करता है नियमित और नियंत्रित करता है वह विभिन्न स्वाद, विभिन्न रूपों, विभिन्न गंध और विभिन्न स्पर्श तथा विभिन्न शब्द (राग, लय ताल आदि) की विलक्षण अनुभूति प्राप्त करने के लिए इन्द्रियों मन और बुद्धि को प्रशिक्षित करता है और प्रशिक्षित एवम् परिष्कृत इन्द्रियों से इन रस भोगों से एक दिव्य आनन्द का अनुभव

१- शुक्रनीति ३.११६

2- Sources of Indian Iradition, Page 261-274.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कराता है जिससे मानव जीवन में सरसता, कमनीयता, लावण्यता आदि गुण विकसित होते हैं और सौन्दर्यानुभूति को विकसित करते हैं। अपने अत्यन्त संकुचित अर्थ में काम शब्द स्त्री पुरुषके सम्पर्क से होने वाले सुख या सुखयौन का बोधक है। किन्तु इस अर्थ में भी वह पाशविक, नैसर्गिक, मैथुन इच्छा मात्र नहीं है वह एक परिष्कृत सुख है जहां मैथुन अष्टरूपों में विभक्त होकर आनन्द का साधन बनता है, मैथुन के निम्न अष्ट रूपों की चर्चा कामशास्त्र एवं अन्यत्र उपलब्ध होती है - स्मरण, कीर्तन, केलि, प्रेक्षणम्, गुह्यभाषणम, संकल्प, अध्यवसाय तथा क्रिया निवृत्ति ।[१] ये मैथुन के अष्ट प्रकार माने गए हैं। इनके अतिरिक्त काम स्वाभाविक यौन प्रवृत्ति का नियमन करता हुआ एक व्यवस्थित परिवार को जन्म देने में सहायक होता है, जहां सन्तान की उत्पत्ति और सन्तान द्वारा होने वाले ऐहिक और पारलौकिक सुख यौन प्रवृत्ति या स्त्री-पुरुष सम्पर्क के साध्य होते हैं। काम इस अर्थ में भी पुरुषार्थ होकर एक सुसंगत, नियमित, समाज व्यवस्था का कारण बनता है। जिससे मानव समाज का परिष्कृत और व्यवस्थित रूप विकसित होता है। पुरुषार्थ में काम की गणना उसके सुखात्मक होने मात्र के कारण ही नहीं है अपितु उसके सुसंयत एवं व्यवस्थापक होने के कारण है।

जहां काम सुसयंत और व्यवस्थित नहीं रह जाता वहां वह पुरुषार्थ भी नहीं रह जाता। अपितु एक स्वाभाविक पाशविक मूल प्रवृत्ति मात्र रहता है जिसका कोई अन्त नहीं है और जिसकी तृप्ति कभी संभव नहीं है। काम के इसी अर्थ को निन्दा धर्मशास्त्रों या अध्यात्मशास्त्रों में की जाती है। मनु ने जब यह कहा है कि काम की तृप्ति कभी भी उपभोगों से सम्भव नहीं है वह उपभोगों से उसी प्रकार निरन्तर बढ़ता रहता है जिस प्रकार हवि से अग्नि बढ़ती रहती है।[२] तो उनका तात्पर्य इसी असंयत नैसर्गिक काम का संकेत करना ही रहा है। इस काम को बार-बर

१- स्मरणं कीर्तनं केलि प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रिया निर्वृत्तिरेव ॥
मैथुनं चाष्ट विधं प्रोक्तम्............। अग्नि पुराण, ३७१.९,१०

२- न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ मनु॰, २.९४,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नरक का द्वार भी कहा गया है।[१] और इसी दृष्टि से मनु ने काम से अर्थात् केवल मैथुन इच्छा मात्र की दृष्टि से सन्तान की उत्पत्ति की निन्दा भी की है।[२] इस अर्थ में काम के स्वरूप और उसके परिणाम की चर्चा करते हुए गीता में कहा गया है कि, विषयों के चिन्तन करने से उन विषयों के प्रति आसक्ति बढ़ती जाती है इस आसक्ति से काम उत्पन्न होता है अर्थात् उस विषय को प्राप्त करने की प्रबल इच्छा होती है यदि इस इच्छा का विघात हुआ या उसकी तृप्ति में कोई बाधा पड़ी तो उससे क्रोध उत्पन्न हो जाता है और क्रोध के उत्पन्न होते ही संम्मोह और अविवेक आ जाता है और सम्मोह होने से स्मृति भ्रंश हो जाती है और स्मृति भ्रंश होने से बुद्धि का नाश होता है और बुद्धि के नाश होने से सर्वस्व नाश हो जाता है।[३] इस प्रकार यह काम सर्वनाश का कारण होता है। इसी काम को रजोगुण उत्पन्न, परमशत्रु एवं ज्ञान का विनाशक कहा गया है। यह काम नित्य बेरी है कभी तृप्त नहीं होने वाले अग्नि के समान है इससे ज्ञान ढंक जाता है। इन्द्रिय मन और बुद्धि को इसका अधिष्ठान या घर कहा जाता है। इन्हीं का आश्रय लेकर यह काम ज्ञान का आवरण करता है और मनुष्य को विमोहित कर उसे दुष्कर्म करने के लिए प्रेरित करता है।[४]

काम के उक्त विभिन्न स्वरूपों को भलीभांति पृथक-पृथक न समझने के कारण धर्मशास्त्रों में वर्णित काम के परस्पर विरोधी स्वरूपों में संगति स्थापित नहीं हो पाती। काम को एक और आवश्यक महत्त्वपूर्ण एवं पुरुषार्थ या पुरुष का उपेय या साध्य माना गया है और दूसरी ओर उसकी निन्दा भी की गई है। जहाँ उसे पुरुषार्थ माना गया है वहाँ वह संयत अर्थ में है और जहाँ उसकी निन्दा की गई है वहाँ वह अपने नैसर्गिक एवं पाशविक अर्थ में है। मनु के निम्न कथन से भी उक्त मत की पुष्टि होती है कि मांस भक्षण, मदिरापान या मैथुन प्राणी मात्र की स्वाभाविक प्रवृत्तियां

१. त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं । गीता, १६. २१

२. कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः ।
संभूतिं तस्य तां विद्याद्योनावभिजायते ।। मनु०, २. १४७,

३. गीता, २. ६२, ६३

४. गीता, ३. ३७-४०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं इसको स्वाभाविकप्रवृत्ति रूप देखने में तथा इनके अस्तित्व मात्र स्वीकार करने में कोई दोष या अपराध नहीं है, इनकी निवृत्ति या सुसंगत ढंग से इनकी अभिव्यक्ति महाफलदायिनी होती है।[१] कहने का तात्पर्य यह है कि काम अपने नैसर्गिक, पाशविक अर्थ में पुरुषार्थ नहीं है और उसका अस्तित्व मात्र जीवन का आवश्यक अंग होने के कारण निन्दनीय भी नहीं है। किन्तु वह अपने नैसर्गिक रूप में पुरुषार्थ नहीं है। पुरुषार्थ होने के लिए उसे परिष्कृत, परिशुद्ध एवं सुसंयत होना पड़ता है। जिसमें वह संस्कृति, व्यवस्था और कविता कला को जन्म देकर मानव के विविध आवश्यकताओं की पूर्ति करता है जीवन को सुखी और सन्तुष्ट बनाता है तथा सौन्दर्य बोध के लिए मानव में समुचित आधार का सर्जन करता है।

मोक्ष का अर्थ एवं स्वरूप

मोक्ष चतुर्थ पुरुषार्थ है इसे परम पुरुषार्थ भी कहते हैं। मोक्ष का अर्थ है मुच्यते सर्वदुःखवन्धनैर्यत्र सः मोक्षः। अर्थात् जिस पद को पाकर जीव आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक आदि सम्पूर्ण दुःखबन्धनों से मुक्त हो जाता है, उसे मोक्ष कहते हैं। इसीलिए इसका नाम मुक्ति भी है। मुक्ति शब्द भी "मुच्लृ मोचने" धातु से "क्तिन्" प्रत्यय होकर बना है इसका अर्थ है बन्धनों से छूट जाना। मोक्ष को "निर्वाण" भी कहते हैं, निर्वाण शब्द भी उक्त अर्थ को ही पुष्ट करता है "निर्गतो वाणः, तापो यस्मात् तत् निर्वाणम्।" "इस व्युत्पत्ति के अनुसार शोकजनित कायिक, वाचिक और मानसिक आदि समस्त सन्तापों की शांति को निर्वाण कहते हैं। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि सम्पूर्ण दुःखों के संसर्ग का अभाव हो जाना, अर्थात् समस्त दुखों से रहित होकर अपने आनन्दमय स्वरूप का साक्षात्कर करके उससे अभिन्न हो जाना मोक्ष, मुक्ति या निर्वाण कहलाता है। यही मानव जीवन का प्रधान लक्ष्य माना गया है।

मोक्ष या निर्वाण को समस्त पुरुषार्थों में श्रेष्ठ माना गया है। क्योंकि अन्य पुरुषार्थ, पुरुषार्थ तो अवश्य है किन्तु उनमें काल का भय बना रहता है अर्थात् उनमें नित्यता और शाश्वतता नहीं है। वे जीवन के लक्ष्य अवश्य हैं पर नश्वर हैं। उनसे होनेवाली तृप्ति अल्पकालिक है।

१- न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥ मनु०, ५. ५६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मोक्ष अपने सामान्य अर्थ में बन्धन से छुटकारा है अतः मोक्ष के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम उस बन्धन को समझें जिससे छुटकारा या निवारण मोक्ष कहलाता है। बन्धन दुःख है जन्म मरण मृत्यु का चक्र है या संसार है। इसलिए दुःख के स्वरूप को समझना जीवन मरण के चक्र को समझना, संसार को समझना अत्यन्त आवश्यक है, इन्हीं से छुटकारा ही मुक्ति या मोक्ष है।

भारतीय शास्त्रों में मोक्ष के स्वरूप और उपाय के सम्बन्ध में अनेक मतभेद हो सकते हैं किन्तु यह सर्वमान्य लगता है कि बन्धन से छुटकारा मोक्ष है और बन्धन, दुःख, जीवन मरण के चक्र से युक्त यह संसार है।

बन्धन या दुःख का स्वरूप और भेद

दुःखों का वर्णन विभिन्न स्थलों पर विभिन्न प्रकार से किया गया है। सांख्य ने तीन प्रकार के दुःखों की चर्चा की है, आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। दुःख का यह त्रिविध भेद दुःख के कारणों के आधार पर किया गया है। जिस दुःख का कारण कोई प्राणी हो उसे आधिभौतिक दुःख कहा जाता है जिसका कारण कोई देव हो, वह आधि-आधिदैविक दुःख कहा जाता है और जिसका कारण शारीरिक और मानसिक हो उसे आध्यात्मिक दुःख कहा जाता है। ऐसे सभी दुःख शरीर या मन से सम्बन्धित होते हैं।[१] फिर भी उक्त भेद दुःख देनेवाले या दुःख उत्पन्न करनेवाले कारणों के आधार पर किए गये हैं।

यहां यह प्रश्न उठता है कि दुःख से छुटकारा की चर्चा और दुःख से छुटकारा प्राप्ति रूप मोक्ष को इतना महत्त्व क्यों दिया जाता है? इस प्रश्न के उत्तर के सम्बन्ध में विचार करते हुए सांख्य दर्शन में यह कहा गया है कि दुःख किसीको अच्छा नहीं लगता, प्राणो के मन में दुःख से छुटकारा पाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। ऐसे तो मानव की प्रवृत्ति के मुख्य दो अङ्ग हैं, सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति। किन्तु दुःख की निवृत्ति के लिए जितनी आकुलता और व्यग्रता से प्रवृत्ति होती है कदाचित् सुख प्राप्ति के लिए उतनी आतुरता से प्रवृत्ति नहीं होती। कुछ दार्शनिकों ने तो यहाँ तक कहा है कि सुख भी दुःख ही है क्योंकि समस्त

---

१. सांख्यकारिका, १ भाष्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुख दुःखमिश्रित है, सुख का परिणाम भी दुःखकर होता है क्योंकि सुख विनाशी है। जिस समय किसी विषय की प्राप्ति होती है उस समय उसका सुख अवश्य होता है किन्तु विषय के विनष्ट होते ही सुख विनष्ट हो जाता है। यदि सुख के भविष्य के सम्बन्ध विचार किया जाय तो यह स्पष्ट होगा कि सुख भविष्य में होनेवाले दुःख का कारण होता है। क्योंकि वह स्वयं में विनाशी है। वर्तमान सुख में भी दुःख रहता है क्योंकि उसके विनाश की सम्भावना का भय बना रहता है। इसीलिए यह कहा जाता है कि विवेकशील व्यक्ति के लिए सबकुछ दुःखमय ही है।[1]

भागवत् पुराण मे यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि मनुष्य सुख की अभिलाषा से जिस-जिस वस्तु को बड़े कष्ट से प्राप्त करता है उस-उस वस्तु को काल विनष्ट कर देता है और मनुष्य पुनः उसके लिए शोक करता रहता है।[2] महाभारत-स्त्रीपर्व में मानव जीवन को दुःखका मूल माना गया है क्योंकि मनुष्य अपनी ही इच्छाओं से अनेक प्रकार के विषय बन्धनों में बंधकर दुःखी होता है।[3] विष्णु पुराण में यह स्पष्ट किया गया है कि यह आवश्यक नहीं कि प्राणियों को केवल नरक में ही दुःख हो स्वर्ग में भी पतन के भय से जीव को शांति नहीं मिलती। जीव बार-बार गर्भ में आता है, जन्म ग्रहण करता है और कभी कभी गर्भ में ही नष्ट हो जाता है और कभी जन्म लेते हो मर जाता है। उत्पन्न होकर बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था के कष्टों को सहता हुआ मृत्यु के मुख में चला जाता है। और जबतक जीता रहता है तबतक नाना प्रकार के दुःखों से .इस प्रकार घिरा रहता है जिस प्रकार कपास का बीज चारों ओर से रुई से घिरा रहता है।[4] यह देखा जाता है कि द्रव्य के उपार्जन, रक्षण एवं विनाश होने में तथा इष्ट-मित्रों के विपत्तिग्रस्त होने पर मनुष्य अनेक प्रकार से दुःखी होता है। इतना ही नहीं जो-जो वस्तुएं मनुष्य को अभीष्ट होती हैं वे भी सब दुःख रूपी वृक्ष का बीज बन जाती है जैसे स्त्री, पुत्र, मित्र, गृह, धन आदि।[5]

१- परिणाम ताप संस्कार दुःखैर्गुण वृत्ति ।
विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ।। योगसूत्र २. १५

२- भागवत पुराण, ३. ३०.२

३- महाभारत, स्त्रीपर्व, ८. ६

४- विष्णु पुराण, ६. ५. ५३

५- विष्णु पुराण, ६ ५.५५–५६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुखादि की दुःखरूपता

साधारणतया जो सुख जीवन में प्राप्त होता है वह विषय सुख ही है। भीतर किसी वस्तु की कामना होती है और कामना से प्रेरित होकर व्यक्ति प्रयत्न करता है पुनः विषय की प्राप्ति से जो सन्तोष अनुभव होता है या जो अनुकूलता की प्रतीति होती है उसे ही सुख कहा जाता है। किन्तु यह सुख सच्चा सुख नहीं है। यह उसी प्रकार का सुख है जैसे कोई अपने सिर पर बोझा लादे हो और कुछ देर के लिए बोझ को उतारने पर होने वाले सुख का अनुभव करता हो। भूख प्यास की निवृत्ति, काम की तृप्ति और प्रत्येक इन्द्रिय के विषय रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द आदि की प्राप्ति से उत्पन्न होनेवाले सभी सुख इसी वर्ग में आते हैं इनसे केवल थोड़ी देर के लिए ही सन्तोष होता है और पुनः ये अशान्त हो उठते हैं।[1] इसीलिए मनु ने कहा है कि कामनाओं की तृप्ति उपभोग से नहीं हो सकती अर्थात् इन्द्रियां अपने विषयों का उपभोग कर कभी तृप्ति नहीं हो सकती। विषयभोग से कामनाएं उसी तरह से बढ़ती जाती है जैसे हवन सामग्री डालने से अग्नि बढ़ती जाती है।[2] विष्णु पुराण में तो यहाँ तक कहा गया है कि इस पृथ्वी पर जितनी भी भोग सामग्री खाद्य, पेय, स्वर्ण, स्त्रो आदि हैं वे सब एक व्यक्ति को तृष्णा को भी तृप्त करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। ययाति ने इसे स्वीकार किया था कि एक हजार वर्ष तक विषय में आसक्त रहने के बाद भी उसके चित में प्रति दिन तृष्णा बढ़ती ही गई है उसे भोग से कभी तृप्ति नहीं हो पाई है।[3]

परलोक सुख की दुःखरूपता

जैसे इस लोक की संपत्ति प्रत्यक्ष रूप से नाशवान् है, वैसे ही यज्ञ यागादिसे प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि लोक भी नाशवान् हैं ये लोक एक दूसरे से छोटे बड़े या ऊंचे नीचे हैं इसीलिए अभिलाषा बढ़ाने और ईर्ष्या उत्पन्न करने में सहायक होते हें। नाशवान् होने के कारण भय और चिन्ता उत्पन्न

१· भागवत् पुराण, ७.७.४२-४४

२- न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ।। मनु० २. ९४,

३- विष्णु पुराण, ४.२.२४.२८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते हैं। इसलिए स्वर्गादि सुख को भी वास्तविक सुख, सच्चा सुख या शाश्वत सुख मानना तर्क संगत नहीं।[१]

भोग की दुःखरूपता

इस तथ्य को बार-बार दुहराया गया है कि प्राणी का जीवन मृत्यु के हाथ में है और मृत्यु के रहते किसी प्रकार के उपभोग की सामग्री उसे शान्ति, सन्तोष और तुष्टि प्रदान करने में सर्वथा असमर्थ है।[२] मनु ने यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि विषयी मनुष्य विषयों का जैसे-जैसे सेवन करता जाता है वैसे-वैसे विषय को भोगने की प्रवीणता और आसक्ति बढ़ती जाती है।[३] विषय में आसक्त होने के कारण मनुष्य अपनी बुद्धि खो देता है और नाना प्रकार के पाप कर्मों को करने लगता है। जिससे उसे दो प्रकार से दुःख और यातनाएं सहनी पड़ती है। एक ओर तो उसे तामिस्र एवं अन्धतामिस्र आदि घोर नरकों में विविध यातनाओं को सहना पड़ता है और दूसरी ओर उसे अनेक प्रकार के योनियों में जन्म लेना पड़ता है।[४]

विविध भोग योनियां

कर्मों के आधार पर विविध योनियों का वर्णन बड़े ही विस्तार के साथ किया गया है। ये योनियां उत्तम, मध्यम और निम्न तीनों प्रकार की होती है। इन योनियों को गति भी कहा जाता है। इनके आधार प्रकृति के तीनों गुण हैं। व्यक्ति जिस प्रकार का कर्म करता है, उसी प्रकार के गुण से वह आकृष्ट होता है और उस गुण से आकृष्ट होकर उसी प्रकार की योनि में जन्म ग्रहण करता है। मनु ने तम गुण का लक्षण काम, रज गुण का लक्षण अर्थ और सत्व गुण का लक्षण धर्म माना है। और उसी आधार पर मुख्य तीन योनियों की चर्चा की है। सत्व से प्राप्त होनेवाली योनि देवत्व है, रज से प्राप्त होनेवाली योनि

१- सांख्यकारिका, २. श्रीमद्भागत् पुराण, ७.७.४०-४२

२- भागवत् पुराण, ११ १०,१२

३- मनु०, १२.७३

४- मनु०, १२.७४-७७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्यत्व योनि है और तम से प्राप्त होनेवाली तिर्यक्त्व योनि है।[१] ये तीन योनियां भी अधम, मध्यम और उत्तम भेद से तीन प्रकार की मानी गई हैं। स्थावर (वृक्ष, लता, गुल्म पर्वतादि), कृमि (कीड़े-मकोड़े), कीट (कुछ बड़े कीड़े), मछली, सर्प, कछुआ, पशु,मृग, ये सब अधम तामसिक योनियाँ हैं। हाथी, घोड़ा, शूद्र. म्लेच्छ, सिंह, बाघ सूअर आदि मध्यम तामसी योनियाँ हैं। चारण (वंदीभाट), सुपर्ण, कपटाचारी मनुष्य, राक्षस और पिशाच ये उत्तम तामसी गतियां हैं। झल्ल, मल्ल, नट, शस्त्र-जीवि, जुआरी, मद्यपान करनेवाला अधम राजसी योनियाँ हैं। राजा क्षत्रिय, राजाओं के पुरोहित, विवाद आदि को पसन्द करनेवाले ये सब मध्यम राजसी योनियाँ हैं। गन्धर्व, गुह्यक, यक्ष, देवानुचर, अप्सराएं, ये सब उत्तम राजसी योनियाँ हैं। तपस्वी, यति, ब्राह्मण वैमानिकगण, नक्षत्र और ग्रह आदि अधम सात्विक योनियाँ हैं। विधि पूर्वक यज्ञ अनुष्ठान करनेवाले यज्वा, ऋषि, देव, वेद, ज्योति, वर्ष, पितर और श्राद्ध ये मध्यम सात्विक गतियां मानी गई हैं। ब्रह्मा, विश्वश्रष्टा, धर्म, महान्, अव्यक्त इनको विद्वान लोग उत्तम सात्विक गति मानते हैं।[२]

पाप योनियाँ

इन सामान्य गतियों या योनियों से अतिरिक्त मनु ने उन पाप योनियों का भी विस्तार से वर्णन किया है जो विविध पातक, महापातक और उपपातक आदि के करनेवाले को प्राप्त होती है। महापातक (जैसे ब्रह्महत्या आदि) करनेवाले मनुष्य, कुत्ता, सुअर, गधा, ऊंट, गौ, बकरी, भेड़, मृग, पक्षी, चण्डाल तथा फुक्कस आदि योनियों में जन्म लेता है। सुरा पीनेवाला ब्राह्मण, कृमि, कीट, पतंगा, कौआ तथा हिंसक जीवों की योनियों में जन्म लेता है। सोना चुरानेवाला ब्राह्मण, मकड़ी, सांप,

---

१- तमसो लक्षण कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते ।
सत्वस्य लक्षणं धर्मः श्रेष्ठ्यमेषां यथोत्तरम् ।।
येन यस्तु गुणेनैषां संसारान्प्रतिपद्यते ।
तान्समासेन वक्ष्यामि सर्वस्यास्य यथाक्रमम् ।।
देवत्वं सात्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः ।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः ।। मनु, १२.३८-४०,

२- मनु०, १२.४१-५१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गिरगिट, जलचर आदि योनियों में अनेक बार जन्म लेता है। गुरु तल्पक मनुष्य तृण, गुल्म, लता, कच्चे मांस खानेवाले प्राणी एवं क्रूर कर्म करने वाले प्राणियों में जन्म लेता है इसी प्रकार मनु ने विस्तारपूर्वक विविध पापों के करने वाले मनुष्यों को अन्य योनियों का निरूपण किया है जो अपने कर्मों का फल इन योनियों में जाकर प्राप्त करते हैं।[1]

पुण्य और पाप योनियों के कारण

पुण्य कर्म से प्राप्त होनेवाले तथा पाप कर्म से होने वाली विविध योनियों के विस्तारपूर्वक निरूपण करने के उपरान्त मनु ने योनियों की प्राप्ति के सम्बन्ध में सारांश रूप में यह बतलाया है कि मनुष्य जिस प्रकार से भले या बुरे भावों से जिन-जिन कर्मों का सेवन करता है वह उसी प्रकार का शरीर ग्रहण करता है और अपने किए भले या बुरे कर्मों का फल भी भोगता है। प्राणियों का समस्त जीवन प्रतिकार रहित बुढ़ापा व्याधियों से उत्पीड़न भूख प्यास आदि अनेक प्रकार के क्लेश और अन्त में दुर्जय मृत्यु से घिरा हुआ है।[2] अतः जीवन से, कर्म प्रवाह से और जन्म मरण के चक्र तथा त्रिविध ताप से छुटकारा प्राप्ति के लिए निःश्रेयस प्राप्त करना मानव के लिए सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य है।

मोक्ष और उसकी प्राप्ति के उपाय

यह निःश्रेयस या मोक्ष धर्मशास्त्रों में विविध रूप से वर्णित है। कठोपनिषद् में इसे अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अद्वय, नित्य, अगन्ध, अरस, अनादि, अनन्त, परम ध्रुवपद कहा गया है।[3] मनु ने इस निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए वेद का अभ्यास, तप, ज्ञान, इन्द्रियों का संयम और अहिंसा तथा गुरुजनों की सेवा, इन छः कर्मों के सेवन का विधान किया है। इन छः कर्मों की महत्ता इसलिए भी है कि

१—मनु०, १२.५४-७४

२—जरां चैवाप्रतीकारां व्याधिभिश्चोपपीडनम् ।
क्लेशांश्च विविधास्तांस्तान्मृत्युमेव च दुर्जयम् ॥
यादृशेन तु भावेन यद्यत्कर्म निषेवते ।
तादृशेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्नुते ॥ मनु०, १२.८०-८१,

३—अशब्दमस्पर्शमरूप-मद्वयं तथारसं नित्यमगन्धच्चयत् ।
अनाद्यनन्तमंहतः परं ध्रुवं निचाय्यतं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥ कठोपनिषद ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ये साक्षात् या परम्परा या मोक्ष या निःश्रेयस प्राप्ति की ओर ले जाते हैं। इन कर्मों से आत्मज्ञान प्राप्त होता है और आत्मज्ञान से अमृतत्व की प्राप्ति होती है। मनु का यह भी मत है कि ये सभी कर्म वैदिक कर्मयोग में अन्तर्भूत हो जाते हैं। वैदिक कर्म साधारणतया दो प्रकार के होते हैं, प्रवृत्तकर्म और निवृत्तकर्म। जो कर्म इस लोक और परलोक में किसी सुख या पद की प्राप्ति के लिए किये जाते हैं वे प्रवृत्त कर्म हैं। ज्ञान पूर्वक कामना रहित होकर किया गया कर्म निवृत्त कर्म है जिससे सीधे परम पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है।[1] मनु ने यह भी स्वीकार किया है कि जो मनुष्य सम्पूर्ण जीवन में अपने आत्मा को और अपने आत्मा में सम्पूर्ण जीवों को देखता है वह आत्मयज्ञ करनेवाला समदर्शी पुरुष स्वराज्य प्राप्त करता है।[2]

द्विविध मोक्ष

यह मुक्ति दो प्रकार की मानी गई है सद्यः मुक्ति और क्रम-मुक्ति। वर्तमान देह के छूटते ही प्राप्त हो जानेवाली मुक्ति को सद्यः मुक्ति कहते हैं और अर्चिरादि मार्ग द्वारा क्रमशः भिन्न-भिन्न लोकों में होते हुए दिव्य भोगों का अनुभव करने के बाद ब्रह्मलोक प्राप्ति रूप जो मुक्ति है, वह है क्रममुक्ति।[3]

१—षण्णामेषां तु सर्वेषां कर्मणां प्रेत्य चेह च।
श्रेयस्करतरं ज्ञेयं सर्वदा कर्म वैदिकम्॥
वैदिके कर्मयोगे तु सर्वाण्येतान्यशेषतः।
अन्तर्भवन्ति क्रमशस्तस्मिंस्तस्मिन्क्रियाविधौ॥
सुखाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम्॥
इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते।
निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते॥ मनु०, १२.८६-८९,

२—सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति॥ मनु०, १२.९१,

३—ऋग्वेद भाष्य भूमिका में— सायणाचार्य, आत्यन्तिक-पुरुषार्थसिद्धिश्च द्विविधा सद्योमुक्तिः, क्रम मुक्तिश्चेति। वर्तमान देहमपयानन्तरमेव, सिद्धयति सद्योमुक्तिः। उत्तरमार्गेवगत्वा ब्रह्मलोके चिरं भोगाननुभूय तमोत्पन्नज्ञानस्य ब्रह्मलोकावसानेसिद्धयति क्रममुक्तिः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पितृयान और देवयान

क्रममुक्ति को स्पष्ट करने के लिए पितृयान और देवयान को समझना आवश्यक है। धर्मशास्त्रों के अनुसार शुभ कर्म करनेवाले इन दो यानों से मृत्यु के बाद प्रयाण करते हैं। शुभ कर्म करने वाले वे लोग जो शुभ कर्मों के फल प्राप्त करने की इच्छा से शुभ कर्म करते हैं, मृत्यु के बाद अपने पुण्य कर्मों के शुभ कर्म का फल तब तक भोगते हैं जबतक उनका पुण्य समाप्त नहीं हो जाता और पुण्य समाप्त होनेपर वे फिर लौटकर संसार में जन्म ग्रहण करते हैं। ये लोग जिस मार्ग से जाते हैं वह मार्ग पितृयान कहलाता है। किन्तु जो लोग शुभ कार्यों को निष्काम भाव से फल प्राप्ति की इच्छा के बिना, केवल आत्मशुद्धि के लिए करते हैं, मृत्यु के बाद वे लोग सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम उर्ध्वलोकों की ओर तब तक बढ़ते रहते हैं जब तक उन्हें मुक्ति नहीं मिल जाती। इस मार्ग को देवयान कहा गया है।

पितृयान और देवयान के सम्बन्ध में वृहदारण्यक उपनिषद् में विस्तार से विवेचन किया गया है। पितृयान के वर्णन में यह कहा गया है कि जो लोग यज्ञ, दान और तप के द्वारा लोकों को जीतते हैं वे इस क्रम से उर्ध्वगति को प्राप्त करते हैं पहले वे धूमा (धूमा अभिमान देवता) को प्राप्त होते हैं। धूम से रात्रिदेवता को, रात्रि से कृष्णपक्ष को, कृष्णपक्ष से दक्षिणायन छः महीने की ओर होकर पितृलोक को जाते हैं और पितृलोक से चन्द्रमा को प्राप्त करते हैं वहाँ पहुँचकर वे लोग अन्न हो जाते हैं और जैसे ऋत्विगण सोमरस का पान करते हैं, उसी प्रकार वे देवता इनका भी भक्षण कर जाते हैं। जब तक उनका पुण्य रहता है तब तक वे वहाँ रहते हैं पुण्य क्षीण होने पर वे आकाश में आ जाते हैं आकाश से वायु में, वायु से वृष्टि में और वृष्टि से पृथ्वी पर पहुँच जाते हैं। पृथ्वी पर पहुँच कर वे फिर अन्न हो जाते हैं जिसका पुरुष रूप अग्नि में हवन किया जाता है जिससे वे लोक के प्रति उत्थान करने वाले होकर स्त्री रूप अग्नि में उत्पन्न होते हैं और इसी प्रकार पुनः पुनः परिवर्तित होते रहते हैं।[१]

देवयान के सम्बन्ध में उपनिषद् का कहना है कि जो लोग पञ्च विद्या अग्नि को भलीभाँति जानते हैं तथा जो लोग वन में श्रद्धायुक्त होकर सत्य

---

१ – वृहदारण्यकोपनिषद्, ६. २. १६,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की उपासना करते हैं वे लोग ज्योति के अभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं। ज्योति के अभिमानी देवताओं का क्रम इस प्रकार है—दिन के अभिमानी देवता, शुक्लपक्ष के अभिमानी देवता, छः महीने उत्तरायण के अभिमानी देवता देवलोक और आदित्यलोक अर्थात् देवयान से जाने वाले लोग दिन, दिन से शुक्ल पक्ष, शुक्ल पक्ष से उत्तरायण, उत्तरायण से देवलोक और देवलोक से आदित्यलोक में जाते हैं। वहां जाकर वे विद्युत देवताओं को प्राप्त हो जाते हैं उन विद्युत देवों के पास एक मानस पुरुष आता है जो उन्हें ब्रह्म लोक में ले जाता है वे उस ब्रह्मलोक में अनन्तकाल तक रहते हैं उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती है।[1]

गीता में इन दोनों गतियों को कृष्णगति और शुक्ल गति कहा गया है। इसमें कृष्णगति से जाने वाला लौटकर आता है और शुक्ल गति से जानेवाला पुनः लौटकर नहीं आता है। कृष्णगति में धूम, रात्रि, कृष्ण पक्ष और दक्षिणायन तथा चन्द्रलोक को लिया जाता है और शुक्ल गति में अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण तथा ब्रह्मलोक की गणना की गई है।[2]

याज्ञवल्क्य स्मृति में इन दोनों गतियों का संकेत करते हुए यह कहा गया है कि जो लोग इन दोनों मार्गों को भलीभाँति नहीं समझते वे लोग सर्प, पतंगा, कीट आदि योनियों में घूमते रहते हैं।[3]

धर्मशास्त्रों के पुरुषार्थ की अवधारणा में मानव के समग्र, विकास के लिए उसके आदर्श और यथार्थ लक्ष्यों का समन्वय किया गया है।

१—वृहदारण्यकोपनिषद् , ६. २. १५
२—गीता, ८. २६, २५, २४
३—याज्ञवल्क्य, ३.१९७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चतुर्थ–अध्याय

वर्ण-व्यवस्था

सामाजिक व्यवस्था की विशेषताएं

धर्मशास्त्रों की सामाजिक व्यवस्था के दो प्रमुख अंग है, वर्ण व्यवस्था तथा आश्रम व्यवस्था। यह व्यवस्था उन दार्शनिक पृष्ठभूमियों पर आधारित है जिसकी चर्चा पीछे की जा चुकी है। समाज की समस्त संस्थाओं, ईकाइयों एवं समूह, समुदाय आदि के स्वरूप तथा व्यक्ति की भूमिका और कार्य के निर्धारण में वर्ण और आश्रम व्यवस्था बहुत महत्त्वपूर्ण है। व्यापक दार्शनिक पृष्ठभूमि पर आधारित होने के कारण धर्मशास्त्रों की सामाजिक व्यवस्था और संस्थाओं की कुछ अपनी मौलिक विशेषता है। जिनका संक्षेप में यहाँ वर्णन अप्रासंगिक न होगा।

प्राचीनता

धर्मशास्त्रों की सामाजिक व्यवस्था का विकास पूर्व वैदिक और वैदिक सामाजिक व्यवस्था की परम्परा के आधार पर हुआ है तथा आधुनिक भारतीय सामाजिक व्यवस्था का आधार बना हुआ है। इससे यह स्पष्ट है कि इस सामाजिक व्यवस्था के कुछ पहलू हजारों वर्षों से चले आ रहे हैं और आज भी विद्यमान हैं। यह कहने में अत्युक्ति न होगी कि विश्व में ऐसा कोई भी समाज आज विद्यमान नहीं है जिसकी संस्थाएं इतने प्राचीन समय से आजतक निर्बाध एवं अविच्छिन्न रूप से चली आ रही हों।

स्थायित्व

प्राचीनता के साथ स्थायित्व भी इसकी मुख्य विशेषता है। इतिहास के साक्ष्य पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय सामाजिक संस्थाओं के विकास की लम्बी अवधि में अनेक राजनैतिक उथल-पुथल हुए, अनेक बाह्य आक्रमण हुए जो धर्म की दृष्टि से भिन्न-थे, अनेक बार प्राकृतिक आपदाएँ आईं, पर इन सबके बावजूद भारतीय सामाजिक व्यवस्था अपनी संस्थाओं को स्थिर बनाए रही। इस सन्दर्भ में डा० लल्लन जी गोपाल का यह कथन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अत्यन्त सार्थक लगता है कि, "भारत का अतीत उसके वर्तमान में जीवित है।" भारतीय संस्कृति व संस्थाओं का विभिन्न शताब्दियों का इतिहास एक सूत्र में गुथा है। इस विशेषता का वास्तविक महत्त्व तब मालूम होता है जब हम इसका अध्ययन अन्य देशों की संस्कृतियों की तुलना की पृष्ठभूमि में करते हैं। रोम, यूनान, सुमेर और बेबीलोनिया की भव्य संस्कृतियां नष्ट होकर अतीत की कथा मात्र रह गई हैं। मिस्र की गौरवपूर्ण सभ्यता के तत्व उस देश की सांस्कृतिक इतिहास से पूर्णतया लुप्त हो गए हैं। आधुनिक मिस्र के निवासियों को उनके देश की ही प्राचीन सभ्यता आज विदेशी प्रतीत होती है, आज के जीवन से वे उसमें कोई साम्य नहीं पाते। इन सबके विपरीत आधुनिक भारत के सांस्कृतिक जीवन के मूल आधार अब भी वही हैं जो प्राचीन भारत में थे।[1]

सहिष्णुता

भारतीय संस्कृति में विचार की स्वतंत्रता और उपासना की स्वतन्त्रता हमेशा से रही है यही कारण है कि अनेक दार्शनिक सम्प्रदाय एवं अनेक उपासना सम्प्रदायें साथ-साथ चलते रहे हैं। भारतीय सामाजिक व्यवस्था इतनी सहिष्णु है कि उसे दूसरे के विचारों का आदर और दूसरे के धर्मों का सम्मान करना भली-भांति आता है। भारतीय सामाजिक संस्थाओं का विकास मुख्य रूप से धार्मिक पृष्ठभूमि में हुआ है फिर भी धर्म के नामपर असहिष्णुता यहाँ नहीं रही है। धर्म के सम्बन्ध में यह कथन कि जो धर्म दूसरे धर्म को बाधा देता है वह धर्म नहीं है अपितु कुधर्म है। जो धर्म समस्त धर्मों का अविरोधी है वही यथार्थ में धर्म है।[2]

अनुकूलनशीलता

भारतीय सामाजिक व्यवस्था एवं इसके संस्थाओं के इतिहास को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमें युग के परिवर्तन के साथ कदम मिलाकर चलने की पर्याप्त क्षमता है। कहने का तात्पर्य यह है कि समय के बदलने के साथ-साथ परिस्थितियाँ बदलती हैं और उसमें अनुरूप सामाजिक मूल्य, आदर्श एवं आवश्यकताओं में भी परिवर्तन होता है। भारतीय

१—डा० रविन्द्र नाथ मुखर्जी, भारतीय सामाजिक संस्थाएं पृष्ठ २२।

२—धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत्।
अविरोधी तु यो धर्मः सधर्मः सत्य विक्रमः॥ वही, पृष्ठ २३,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामजिक व्यवस्था अपने को इन परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल बनाकर सामाजिक शक्तियों के विभिन्न प्रभावों को स्वीकार कर चिर नूतन और चिर सक्रिय रही है, तथा परिवर्तित सामाजिक शक्तियों को स्वीकार कर भारतीय सामाजिक व्यवस्था अपने को समय के अनुकूल बनाती रही है।

समन्वयता

समन्वय भारतीय सामाजिक व्यवस्था का मूल सूत्र है। डा० सुरेन्द्र मित्तल का कहना है कि, "समन्वय का अर्थ है ऊपर से भिन्न दिखाई देने वाली विविध वस्तुओं का एकाकार। यह एकाकार असत्य वस्तुओं के मिश्रण से नितान्त भिन्न होता है। इसी समन्वय के सिद्धान्त के आधार पर भारतीय समाज विधायकों ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की धारणा को विकसित किया है। अथवा यूं कहा जाय कि भौतिकता और आध्यात्मिकता का समुचित समन्वय किया है। आखिर परमात्मा ही सत्य है किन्तु जगत् भी निःसार नहीं है। "डा० वासुदेव शरण अग्रवाल का कहना है कि, "भारतीय संस्कृति सदा विरोधी भावों के समन्वय को लेकर चलती है। प्रत्यक्ष जीवन, परोक्ष जीवन, इहलोक परलोक, शरीर आत्मा, गृहस्थ सन्यास, संचय त्याग, कर्म ज्ञान, बन्ध मोक्ष, अपराविद्या, पराविद्या, ये सब उसी समन्वय के दृष्टांत हैं। मर्त्य और अमृत को, जड़ और चेतन को मिलाकर विश्व की सृष्टि हुई है। उसे भारतीय संस्कृति के अध्येता स्पष्ट पहचानते थे और वे इस समन्वय को तत्काल बुद्धि-परिगृहीत कर लेते थे।[1]

सनातनता

भारतीय सामाजिक व्यवस्था अपने को सनातन व्यवस्था मानती है। सनातनता के भीतर पुरातनता और अद्यतनता दोनों का सम्मिश्रण हो जाता है। कहने का तात्पर्य है कि सनातन न केवल प्राचीन है और न केवल नवीन। अपितु प्राचीन को नवीनता के संदर्भ में और नवीनता को प्राचीन आदर्श के भीतर रखने की एक आदर्शात्मक प्रक्रिया है।

समता और स्वतन्त्रता

कुछ विद्वानों का यह आरोप है कि भारतीय सामाजिक व्यवस्था के नियम एक-पक्षीय हैं। विशेषकर स्त्रियों और शूद्रों के साथ समता का

१—डा० रविन्द्र नाथ मुखर्जी, भारतीय सामाजिक संस्थाएं, पृष्ठ २४ २५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यवहार नहीं हुआ है। किन्तु यदि गहराई से विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि भारतीय सामाजिक व्यवस्था के सभी नियम मूलत: समता और स्वतंत्रता से निकले हुए हैं। यही कारण है कि भारतीय सामाजिक व्यवस्था में विभिन्न विचारों का उदय साथ-साथ हुआ है किन्तु आचार में सदा समता रही है। इसलिए यहाँ समता का अर्थ है, कर्त्तव्य पालन तथा पुरुषार्थ सिद्धि। यहाँ किसी को अलग नहीं किया गया है, सभी अपने कर्त्तव्य पालन के द्वारा ही पुरुषार्थ की सिद्धि करने में सक्षम हो सकते हैं। चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, ब्राह्मण हो या शूद्र, गृहस्थ हो या सन्यासी। स्वतंत्रता, विचार, तर्क, युक्ति एवं सिद्धान्त स्थापन में ही परिलक्षित होती है वह न तो उच्छृङ्खलता है न मनमानीपन। अपितु वह सुविचारित पक्ष को सयुक्तिक रखने का प्रयास है।

वेद आदि शास्त्रों की आश्रयता

धर्मशास्त्रों की सामाजिक व्यवस्था वेद पर आधारित सामाजिक व्यवस्था का विकसित रूप है। इसलिए इसका आधार वेद को माना गया है। किन्तु इसमें वेद के मन्त्रों की नवीन व्याख्या तथा युग की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर चलने वाले ऋषियों के मतों को विशेष महत्त्व दिया गया है। यही कारण है कि कर्त्तव्याकर्त्तव्य विवेचन में भारतीय धर्मशास्त्र वेद, स्मृति, परम्परा या सदाचार तथा आत्म तुष्टि को मुख्य आधार मानते हैं। जब कोई ऋषि कोई नई बात कहता है तो वह यह दावा नहीं करता कि उसने नये सत्य का अन्वेषण किया है अपितु वह यह स्वीकार करता है कि पुराने शास्त्रों की व्याख्या से यह नवीन तथ्य उद्घाटित किया है।

अपनी उक्त विशेषताओं के साथ भारतीय सामाजिक व्यवस्था अपने अन्तर्गत विभिन्न संगठनों, समुदायों को रखते हुए काल की लम्बी अवधि में विकसित हुई है। इस विकास क्रम में भी धर्मशास्त्रों की सामाजिक व्यवस्था की भूमिका बहुत ही महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उसने ही समाज को एक व्यवस्था में विकसित होने की दिशा प्रदान की है। इसलिए धर्मशास्त्रों के समाज-दर्शन के अध्ययन में वर्ण व्यवस्था एवं आश्रम व्यवस्था के स्वरूप कार्य, महत्त्व आदि के सम्यक् विवेचन का विशेष महत्त्व है।

वर्ण व्यवस्था में निहित व्यापक सिद्धान्त

डा० भगवानदास का कहना है कि चतुर्वर्ण व्यवस्था कुछ मौलिक एवं व्यापक सिद्धान्तों पर आधारित है जो अनेक विज्ञानों से सम्बन्धित हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसे प्राणी विज्ञान, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, शिक्षाशास्त्र आदि[1]

डा० भगवानदास द्वारा निर्दिष्ट सिद्धान्तों को निम्नलिखित रूप में रखा जा सकता है। जीवशास्त्रीय सिद्धान्त के अन्तर्गत दो नियम व्यापक रूप से कार्य करते हैं, प्रथम वंशानुक्रम का नियम—जिसके अनुसार समान दम्पति के बालकों में शारीरिक और मानसिक दृष्टि से समानता की सम्भावना की जा सकती है। एवं दूसरा नियम सहज विविधता या सहज परिवर्तन का है जिसके अनुसार समान दम्पति से उत्पन्न बालकों में विषमता की संभावना भी हो सकती है। उनके अनुसार इसके लिए प्राचीन शब्दावली जन्म, कर्म या योनि और तपस् है। इन दो परस्पर विरोधी नियमों के अस्तित्व का कारण तत्वशास्त्रीय तथ्य में पाया जा सकता है क्योंकि आत्मा एकता, समानता, समता निरन्तरता एवं वंशानुक्रमता के नियम का प्रतिनिधित्व करता है। और जड़ जगत् विविधता, अनेकता, परिवर्तन आदि के नियम का प्रतिनिधित्व करता है।[2]

मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के अन्तर्गत यह मान्यता स्वीकार की गई है कि मन के मुख्य तीन कार्य हैं जिसमें से कोई एक प्रत्येक द्विजाति के अन्दर मुख्य भूमिका का निर्वाह करता है। द्विजाति तीन वर्गों में आते हैं ज्ञान प्रधान व्यक्ति, क्रिया प्रधान व्यक्ति और इच्छा प्रधान व्यक्ति। इन तीनों से अतिरिक्त एक चौथा प्रकार का व्यक्तित्व भी होता है जो अकुशल या अल्पकुशल श्रमिक कहा जा सकता है।

इसके साथ-साथ दूसरा मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त यह है कि ज्ञान प्रधान व्यक्ति आत्म सम्मान के लिए शुभ कार्यों में प्रवृत्त होते हैं और उसमें ही पूर्ण सन्तोष प्राप्त करते हैं। कर्म प्रधान व्यक्ति आज्ञाशक्ति, ऐश्वर्य और अधिकार प्रधान कार्यों में अधिक रुचि रखते हैं। इच्छा प्रधान व्यक्ति धन संग्रह में अधिक प्रवृत होते हैं और श्रमिक वर्ग के व्यक्ति खेल विनोद, क्रीड़ा में अधिक सन्तुष्ट होते हैं।[3]

समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के अन्तर्गत यह कहा जा सकता है कि समाज की इकाई परिवार है व्यक्ति नहीं। अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त के अन्तर्गत

१—डा० भगवानदास, दि साइन्स आफ सोशल आर्गनाइजेशन, पृष्ठ ७७९ खण्ड-२।
२—डा० भगवानदास, दि साइन्स, आफ सोशल आर्गनाइजेशन, पृष्ठ ७७९-७८०
३—वही, पृष्ठ ७८०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह बतलाया जा सकता है कि नियमित प्रतियोगिताओं से छुटकारा पाने के लिए या उसे कम करने के लिए यह आवश्यक है कि जो व्यक्ति, अपने वंशानुक्रम की विशेषताओं से युक्त हैं वह अपने पूर्वजों के पेशे में रहे और उसीसे अपने जोविका का निर्वाह करे। तथा जो व्यक्ति कुछ विशेष गुणों से युक्त हों, वह अपने गुण और क्षमता के अनुसार किसी एक पेशे को चुनकर उसीसे अपने जीविका का निर्वाह करे किन्तु किसी को भी एक से अधिक पेशे को अपनाकर केवल धनार्जन के लिए अनुमति न हो। दूसरा समाजशास्त्रीय सिद्धान्त यह हो सकता है कि जिस प्रकार मानव के शरीर, सिर, हाथ, उरु और पैर के सम्मिलन से पूर्ण बनता है उसी प्रकार एक पूर्ण एवं सभ्य समाज में चार वर्ग अनिवार्य रूप से रहता है और ये वर्ग अपने विशिष्ट पेशाओं पर आधारित होते हैं। जैसे—शिक्षण का पेशा, शासन का पेशा, व्यवसाय का पेशा और श्रम का पेशा।[1]

शिक्षा सम्बन्धी यह सिद्धान्त भी इससे निकलता है कि प्रत्येक व्यक्ति को सामान्य चरित्र और संस्कृति की शिक्षा के साथ उसको अपने व्यवसाय की शिक्षा भी मिलनी चाहिए। जिस व्यवसाय की क्षमता और योग्यता उसमें विद्यमान हो। इस योग्यता और क्षमता का निर्धारण योग्य शिक्षकों एवं परीक्षकों के द्वारा की जानी चाहिए।

स्वास्थ्य, प्रजनन और काम विज्ञान सम्बन्धी यह सिद्धान्त भी इससे निकलता है कि स्वस्थ्य जीवन शुद्ध प्रजनन और सुनियोजित काम सुख प्राप्ति के लिए सभी प्रकार की सावधानी बरतनी चाहिए और सभी प्रकार से शुचिता का ध्यान रखना चहिए चाहे वह भोजन से सम्बन्धित हो. विवाह से या अन्य प्रकार के सम्बन्ध से।[2]

वर्ण व्यवस्था

भारतीय समाज-दर्शन में वर्ण की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने पर यह स्पष्ट होता है कि समाज वर्णों में विभक्त रहा है। वर्ण विभाजन और इसका आधार वर्ण का स्वरूप तथा वर्ण का अर्थ आदि प्रश्न बहुत विवादास्पद हैं। इन पर अभी तक कोई

१—डा० भगवानदास, दि साइन्स आफ सोशल आर्गनाइजेशन, पृष्ठ ७८१

२—वही, पृष्ठ ७८४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निश्चित मत स्थापित नहीं हो सका है। वेदकाल से स्मृतिकाल तक तथा आगे के चिन्तकों द्वारा इन प्रश्नों पर पर्याप्त विवेचन हुआ है जिनका एक संक्षिप्त नीरूपण यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है।

'वर्ण शब्द' की व्युत्पत्ति

वर्ण शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'वृज' अथवा 'वरी' धातु से हुआ है जिसका सामान्य अर्थ 'चुनना' या वरण करना है। वर्ण शब्द का सर्व प्रथम प्रयोग ऋग्वेद में हुआ है जो पूर्व वैदिक युग के समाज रचना के प्रारम्भिक स्वरूप को स्पष्ट करता है। ऋग्वेद में वर्ण शब्द का प्रयोग 'रंग' और 'आलोक' के अर्थ में हुआ है।[1]

वर्ण की उत्पत्ति (भारतीय दृष्टिकोण)

सामाजिक संरचना के सन्दर्भ में वर्ण शब्द का प्रयोग ऋग्वेद काल में ही होने लगा था जिसका संकेत पुरुषसूक्त में मिलता है। वहाँ वर्ण की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दैवी सिद्धान्त का अनुसरण किया गया है। वेद के अनुसार वर्ण की उत्पत्ति विराट् पुरुष से हुई है, विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, उरु (जांघ) से वैश्य तथा पाद से शूद्र की उत्पत्ति हुई है। यह विराट्पुरुष अथवा सृष्टिकर्त्ता हजार सिर, हजार आँखों हजार हाथों और हजार पैरों वाला था जिससे सृष्टि की उत्पत्ति हुई।[2] अतः ऐसे विशाल ईश्वर से ही चार वर्णों की उत्पत्ति हुई। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि स्वयं ईश्वर (ब्रह्मा) ने ही वर्णों का उद्‌भव किया और उनकी स्थिति निर्धारित की। मनु चारो वर्णों की उत्पत्ति "ब्रह्मा" से ही मानते हैं। ब्रह्मा ने सृष्टि के विकास के लिए अनेक वर्णों की उत्पत्ति की। लोक वृद्धि के लिए ब्रह्मा ने अपने मुख, बाहु, उरु, तथा पाद से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों की उत्पत्ति की।[3] मनु की यह मान्यता एक ओर सांसारिक समृद्धि और जनवृद्धि की ओर तथा दूसरी ओर सांसारिक प्रगति की ओर संकेत करती है।

१—डा० रविन्द्रनाथ मुखर्जी, भारतीय सामाजिक संस्थाएं, पृष्ठ ३१।

२—ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
उरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥ ऋग्वेद, पुरुष सूक्त, १०.९०.१२

३—लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरूपादतः।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत्॥ मनु०, १.३१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्ण की उत्पत्ति के सम्बन्ध में और भी अनेक मत हैं जैसे ब्रह्मा ने एक साथ ही चारो वर्णों को नहीं उत्पन्न किया बल्कि सर्व प्रथम ब्राह्मणों को जन्म दिया, लेकिन वे अकेले उचित रूप से कार्य व उन्नति नहीं कर सके, अतः उनके कार्यों में सहायता देने के विचार से क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को उत्पन्न किया।[१] महाभारत में वर्णित है कि ब्रह्मा ने चार वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की रचना की।[२] इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि पहले वर्णों में कोई अन्तर नहीं था। ब्रह्मा से उत्पन्न होने के कारण सारा जगत् ब्राह्मण ही था, परन्तु बाद में विभिन्न कर्मों के कारण उनमें वर्ण भेद हो गया।[३] पुराणों में भी वर्णों की उत्पत्ति को ईश्वरीय माना गया है वहाँ यह स्वीकार किया गया है कि भगवान् विष्णु के मुख, बाहु, उरु और पाद से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की उत्पत्ति हुई।[४] वायु पुराण में क्षत्रिय को ब्रह्मा के बाहु से उत्पन्न न मानकर वक्ष से उत्पन्न माना है।[५] उपनिषद् में वर्ण की उत्पत्ति इस प्रकार देखने को मिलती है, ब्रह्मा ने सर्व प्रथम देवताओं के चार वर्ण बनाए और फिर उनके आधार पर मनुष्यों के चार वर्णों की सृष्टि की। देवताओं के चार वर्णों की उत्पत्ति इस प्रकार हुई, आरम्भ में केवल ब्रह्मा थे लेकिन वे अकेले उचित रूप से सृष्टि की उन्नति करने में समर्थ न हो सके अतः उन्होंने क्षत्रिय देवताओं को ऊत्पन्न किया, जिसमें इन्द्र वरुण, सोम, रुद्र, प्रजन्य, यम, मृत्यु तथा इशान प्रमुख थे। फिर भी ब्रह्मा को पूर्ण सन्तोष प्राप्त नहीं हुआ और उन्होंने वैश्य देवताओं को सृष्टि की, वे वैश्य देवता पशु, आदित्य, मारुत आदि हुए, इसपर भी ब्रह्मा भलीभांति सन्तुष्ट नहीं हो सके तब उन्होंने पुशान के रूप में शूद्र देवता की सृष्टि की। स्वर्गलोक को इस वर्ण व्यवस्था के आधार पर ही इस मर्त्यलोक के वर्णों को

१—एक वर्ण मिदं पूर्वं विश्वमासीद् युधिष्ठिर।
कर्म-क्रियाविभेदेन चातुर्वर्ण्यं प्रतिष्ठितम्॥ महाभारत, शांतिपर्व १८८.९,

२—ब्राह्मणा, क्षत्रिया, वैश्या शूद्राश्च द्विजसत्रम्।
ये चान्ये भूतसंघानां संघानां संवास्ताश्चापि निर्भये॥ वही, १८८. ४,

३—न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदंजगत्।
ब्राह्मणा पूर्वं सृष्टं हि कर्मभिवर्णतांगतम्॥ वही, १८८.१०,

४—विष्णु पुराण, १.१२.६३-६४, मत्स्य पुराण, ४.२८

५—वायु पुराण, ६.११३. ब्रह्माण्ड पुराण, १.५.१०८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वीकार किया गया।[१] इन तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि चारो वर्णों की उत्पत्ति एक साथ नहीं हुई। बल्कि सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार वर्णों की संख्या में वृद्धि होती गयी। महाभारत में उल्लिखित है कि प्रारम्भ में वर्णों में कोई भेद नहीं था, केवल एकही वर्ण था जिसे ब्रह्मा से उत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण कहा जाता था किन्तु धीरे-धीरे कर्मों की विभिन्नता के कारण वर्णों में अनेकता आ गयी।[२] पराशर ने विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठाया है कि समस्त मानव जाति की उत्पत्ति जब एक ही ब्रह्मा से हुई है तब यह वर्ण भेद कैसे सम्भव है? क्योंकि यह एक समान नियम है कि जो कार्य एक कारण से उत्पन्न होते हैं उनमें भेद नहीं होता। उसी प्रकार जो सन्तान एक पिता से उत्पन्न होते हैं उनमें भी भेद नहीं होता क्योंकि वंशानुक्रम के सिद्धान्त के अनुसार सन्तानों में उनके पिता के गुण अवश्य ही आते हैं ऐसी स्थिति में गुण के आधार पर जब उन सन्तानो में जो एक ही पिता से उत्पन्न हुए हैं, भेद नहीं हो पाता तब तक ब्रह्मा से उत्पन्न विभिन्न वर्णों में भेद कैसे स्थापित किया जा सकता है।[३]

वर्ण के सन्दर्भ में आधुनिक विचारकों का मत

पी० एन० प्रभु का कहना है कि वर्ण व्यवस्था सम्बन्धी जो विचार भारतीय धर्मशास्त्रों में दिखलाई पड़ता है वह "कर्मणा-सिद्धान्त" पर या श्रम-विभाजन के सिद्धान्त पर ही बल देता है। वर्ण की उत्पत्ति को ब्रह्मा के विभिन्न अङ्गों से जो माना गया है उसे वे प्रतीकात्मक ही मानते हैं जैसे मुख, ज्ञान अथवा सरस्वती का प्रतीक, बाहु, शौर्य का प्रतीक, उदर या जांघ, उपभोग या भरण-पोषण का प्रतीक और

1—Prof. Ranade, A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy. "In the unorthodox theory, we have the origin of the earthly caste system on the pattern of a heavenly caste syctem almost in the manner in which the ectypes in plato's thcory of ideas are merely replicas of the archetypes."
—Quoted by R. N. Mukherji भारतीय समाजिक संस्थाएं, पृ० ३४

२—महाभारत, शांतिपर्व १८८.१०

३—डा० रविन्द्रनाथ मुखर्जी, भारतीय सामाजिक संस्थाएं, पृ० ३५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पैर, परिश्रम या सेवा का प्रतीक है।[1] इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि वर्ण की उत्पत्ति ब्रह्मा के शरीर से माने अथवा न माने किन्तु यह मानना आसान होगा कि वर्णों का विभेद व्यक्ति की चारित्रिक विशिष्टताओं के विभेदजन्य ही है।

पी० एन० प्रभु का कहना है कि वर्ण-व्यवस्था सम्बन्धी विचारों का विवेचन करते समय मुख्यत: दो प्रकार के मत दिखलाई पड़ते हैं—एक मत के अनुसार वर्णों की उत्पत्ति ब्रह्मा के शरीर से माना गया है। विभिन्न कर्मों के अनुसार जिसमें पूर्वजन्म के कर्म भी सम्मिलित है, व्यक्ति विभिन्न वर्ण को प्राप्त करता है। दूसरा मत यह है जिसमें यह मान्यता है कि वर्णों की प्राप्ति कर्म से नहीं वरन् जन्म से होती है। जिस परिवार में या जाति में व्यक्ति जन्म लेता है उसी के आधार पर वर्ण की प्राप्ति करता है। यही कारण है कि आज वर्ण एक प्रकार से जाति बोधक हो गया है।

वर्ण व्यवस्था का विवेचन "मोटवानी" ने कुछ नए आधारों पर किया है। आपके अनुसार मानव जातियों के वर्गीकरण का आधार मनोवैज्ञानिक है तथा व्यक्तियों में पाये जानेवाले मनोवैज्ञानिक विभेद के कारण ही उन्हें विभिन्न श्रेणियों में क्रमवद्ध किया जा सकता है, जैसे वे व्यक्ति जो अपनी जीवन शैली में अत्यन्त सरल एवं शान्त हैं, बौद्धिक खोज के लिए समर्पित है अथवा चिन्तक, अध्यापक, गुरु, उपदेशक, दार्शनिक एवं राजनीतिक हैं वे ब्राह्मण वर्ण के अन्तर्गत आते हैं। व्यक्तियों की दूसरी श्रेणी वह है जिनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने से यह ज्ञात होता हैं कि वे स्वभाव से उत्साही, शासक, योद्धा एवं जन सेवक हैं, वे ही क्षत्रिय है। इसी प्रकार से व्यक्तियों का वह वर्ग वैश्य के अन्तर्गत आता है जो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सहज प्रवृत्तियों पर हावी होता है जैसे व्यापारी या महाजन। इसी प्रकार से व्यक्ति का अन्तिम वर्ग वह है जिसमें व्यक्ति स्वभाव से ही सेवा करने में रुचि रखता है।[2] इस प्रकार से व्यक्तियों का वर्गीकरण व्यक्तियों की मनोवैज्ञानिक विशिष्टताओं के आधार पर ही किया गया है और इन्हीं विशिष्टताओं के भेद से ही विभिन्न वर्णों को समझा जा सकता है।

१–पी० एन० प्रभु, हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन, पृ० २८४, चतुर्थ संस्करण १९६३
२—डा० केवल मोटवानी, मनु धर्मशास्त्र, पृष्ठ ५२-५३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके मत में वेदों के अध्ययन से भी लगभग इसी प्रकार के निष्कर्ष प्राप्त होते हैं उसमें भी यह दिखलाई पड़ता है कि वर्णों में विभेद कुछ विशिष्ट लक्षणों के सन्दर्भ में देखा जा सकता है जैसे ब्राह्मण वर्ण के लक्षण में निम्नलिखित विशेषताओं का होना आवश्यक माना गया है जैसे ज्ञान, आत्मानुशासन, पवित्रता, इन्द्रिय संयम एवं सहकर्म योग के प्रति सेवा-भाव। क्षत्रिय वर्ण की विशेषताओं में निम्नलिखित विशेषताओं की गणना की गयी है। क्रियाशीलता, जन्म व्यवस्था, अनुशासन कायम रखना एवं आनंदात्मक जीवन शैली से जीवन यापन करना। इसी प्रकार से वैश्य की विशेषताओं में कहा गया है कि इच्छा, महत्त्वाकांक्षा एवं समुदाय की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक होना आदि। शूद्रों की विशेषता में प्रमुखतः उनके सेवाभाव परिश्रमी जीवन तथा कठोर जीवन शैली का निर्देश किया गया है।

वर्ण का अर्थ प्रसिद्ध समाजशास्त्रीय सेनार्ट, जी० एस० घुर्ये तथा जे० एन० हट्टन रंग के ही अर्थ में लेते हैं। सेनार्ट ने आर्य वर्ण और दास वर्ण का उल्लेख किया है।[१] घुर्ये ने सफेद रंग का प्रयोग आर्य के लिए और काले रंग का प्रयोग दास वर्ण के लिए किया है।[२] हट्टन ने चार वर्णों के चार रंग माने है, उन्होंने ब्राह्मण का रंग श्वेत, क्षत्रिय का रंग लाल, वैश्य का रंग पीला और शुद्र का रंग काला माना है।[३]

वर्ण विभाजन के सम्बन्ध में उक्त विवेचन डार्विन के उस मत से साम्य रखता है जिसमें डार्विन ने प्रजातियों के भेद का मुख्य आधार रंग-भेद को स्वीकार किया है। पर धर्म शास्त्रों में इस मत के विरोध में यह तर्क उपस्थित किया गया है कि यदि शरीर के रंग के आधार पर ही विविध वर्णों को विभाजित किया गया होगा तो वह कार्य बहुत ही कठिन प्रतीत हुआ होगा। क्योंकि रंगों के तो हजार भेद है, रंगों के इतने असंख्य भेद होते हुए भी समाज को चार वर्णो में कैसे और क्यों बांटा गया? इस शंका के समाधान से यह निष्कर्ष निकलता है कि विभिन्न वर्णों में रंग के आधार पर वास्तव में कोई उल्लेखनीय भेद नहीं है। विभाजन का आधार तो

१—सैनार्ट, कास्ट इन इण्डिया, पृष्ठ १५३

२—जी० एस० घुर्ये, कास्ट एण्ड क्लास इन इण्डिया, पृष्ठ ४६

३—जे० एच० हट्टन, कास्ट इन इण्डिया, पृष्ठ ६४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वास्तव में गुण-कर्म को ही माना गया है। धर्मग्रन्थों में ऐसा उल्लेख मिलता है कि आरंभ में केवल द्विज ही वर्ण था पर बाद में अपने-अपने गुण तथा कर्मों के अनुसार द्विज ही अलग-अलग वर्णों में बंट गये।[१] श्रम विभाजन के कारण समाज में विभिन्न वर्णों का जन्म हुआ। वर्णों के निर्धारित गुणों के सम्बन्ध में भृगु का कहना है कि जो लोग ब्राह्मणोचित कर्मों को न कर सके, विषय भोग के प्रेमी, तीखे स्वभाव वाले, क्रोधी तथा साहस का काम करने वाले हों गए, इसी कारण उनके शरीर का रंग लाल हो गया और उन्हें क्षत्रिय कहा जाने लगा। जो व्यक्ति अपने धर्म के प्रति उदासीन होकर कृषि, पशुपालन, व्यापार कार्य में लग गये वे वैश्य हो गए और जो ब्राह्मण असत्य का आचरण करने लगे, जिनमें लोभ की प्रधानता हो गई तथा सदाचार को विल्कुल भूल गए उनको की शूद्र संज्ञा दी गई। इस प्रकार विभिन्न वर्णों के रंग भी उनके गुण और कर्म की ओर ही संकेत करते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि ब्राह्मण वर्ण का श्वेत रंग पवित्रता का द्योतक है, क्षत्रियों का लाल रंग क्रोध और राजस गुण का प्रतीक है, वैश्यों का पीला रंग रजोगुण और तमोगुण को स्पष्ट करता है। इस प्रकार जब जनक ने अपने गुरु पराशर के सामने यह शंका की कि ब्रह्मा द्वारा सभी को समान बनाने के बाद भी उनमें यह वर्ण भेद क्यों हुआ ? तब पराशर ने स्पष्ट उत्तर देते हुए कहा कि आरम्भ में सभी व्यक्ति एक ही वर्ण के थे लेकिन जिस प्रकार भूमि और बीज के आन्तरिक गुण बदल जाने से खेती का रूप भी वदल जाता है उसी प्रकार मनुष्य के गुण और कर्म बदल जाने से उसका वर्ण भी परिवर्तित हो जाता है।

वर्ण विभाजन का आधार: विभिन्न विचारकों के मत में

वर्ण विभाजन के आधार के सम्बन्ध में विचारको में एक मत नहीं हैं। भिन्न-भिन्न शास्त्रोंके अनुसार विद्वानों ने वर्ण-विभाजन के विभिन्न आधार माने हैं। उन आधारों को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है,

(अ) गुण कर्म का आधार, (ब) कर्म और जन्म पर आधारित आधार, (स) देवताओं के गुण के आधार।

१—एकं वर्णमिदं पूर्वं विश्वमासीद् युधिष्ठिर ।
ब्राह्मण पूर्वं सृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम् ।। महाभारत, शांतिपर्व, १८८.६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(अ) वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति के मूल में गुणों की भी अभिव्यक्ति मानी गई है मनुष्य अपने गुणों से महान होता है न कि अपने वंश अथवा परिवार से। ये गुण कई प्रकार के होते हैं परन्तु प्रकृतितः तीन प्रकार के गुण माने गए हैं सत्त्व, रज और तम।[1] धर्मशास्त्रों में भी इन तीन गुणों की व्याख्या प्रस्तुत की गई है—सत्त्व गुण, रजोगुण और तमोगुण।[2] सात्त्विक गुण से सम्पन्न व्यक्ति ब्राह्मण माना गया। सात्त्विक गुण का लक्षण वेदों का अभ्यास, तप, ज्ञान, शुद्धि, इन्द्रिय संयम, धर्मकार्य और आत्मा का चिन्तन माना गया है।[3] दुःखयुक्त अप्रीतिकारक तथा शरीर को विषयों की ओर आकृष्ट करना आदि रजोगुण का कार्य माना गया है।[4] जो मोहयुक्त हो, जिसके विषय का आकार अस्पष्ट हो, तर्कशून्य हो तथा दुर्ज्ञेय हो वह तमोगुण माना गया है।[5] लोभ, निद्रा, अधैय, क्रूरता, नास्तिकता, नित्यकर्म का त्याग और प्रमाद ये तामस गुण के लक्षण कहे गये हैं।[6] इन गुणों के आधार पर वर्णों के भेद की स्पष्ट चर्चा हमें पुराणों में मिलती है।

विष्णु-पुराण का कहना है कि सत्त्वगुण से युक्त ब्राह्मण, रजोगुण से समन्वित क्षत्रिय, रजोगुण और तमोगुण से वैश्य तथा केवल तमोगुण से शूद्र की उत्पत्ति हुई है। यद्यपि ये चारो एक ही ब्रह्मा के सन्तान है फिर भी उक्त गुणों के कारण इनके स्वरूप में भेद है।[7] भगवद्गीता में भगवान श्री कृष्ण ने कहा है कि मैंने गुण और कर्म के आधार पर चारों वर्गों की सृष्टि की है।[8] गुण के अन्तर्गत सत्त्व, रज और तम तीन गुण आते हैं।

१—सत्त्वं रजस्तम इति गुणा प्रकृतिसंभवा ॥ गीता, १४.५,

२—सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम्।
एतद्वयाप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः ॥ मनु, १२.२६।

३—वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम् ॥ मनु, १२.३१।

४—यत्तु दुःखसमायुक्तमप्रीतीकरमात्मनः।
तद्रजो प्रतिपं विद्यात्सततं हारि देहिनाम् ॥ मनु, १२.२८

५—यत्तु स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ॥ मनु, १२.२९।

६—मनु, १२.३३

७—विष्णु पुराण, १.६.४.५,

८—चतुर्वर्ण्यमया सृष्टं गुण कर्मविभागशः ॥ गीता, ४.३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन तीन गुणों की विशेषता का वर्णन करते हुए गीता का कहना है कि सत्त्वगुण निर्मलता, आलोक (ज्ञान) और निर्लिप्तता से युक्त है जिससे सुख और ज्ञान की प्राप्ति होती है। अनुराग और तृष्णा को उत्पन्न कर रजोगुण मनुष्य को कर्म की ओर उत्कंठित करता है। तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न होकर सबको मोहपाश में डाल देता है। प्रमाद, आलस्य और निद्रा इसकी प्रधान विशेषताएँ है। अतः सत्त्वगुण सुख, रजोगुण कर्म और तमोगुण अज्ञान का कारण है।[1] गुणात्मक कर्मों के अभिव्यक्त फल के विषय में गीता का कथन है कि सुकर्म की सात्त्विकता के सुख, ज्ञान और वैराग्य आदि निर्मल फल है, राजस कर्म का फल है, दुःख और अज्ञान तामस का फल है।[2] सात्त्विक, राजस और तामस ये तीनों गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं और इस अविनाशी जीवात्मा को शरीर से आवद्ध करते है।[3] ये तीन गुण मनुष्य में एक बराबर नहीं होते जब रजस और तमस दबते हैं तब सत्त्व, जब सत्त्व और तमस निर्बल होते हैं तब रजस और जब रजस और सत्त्व अवरुद्ध होते है तब तमस उभरता है। इन तीनों गुणों में सत्त्व गुण को ही सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया गया है।

(ब) भारतीय सामाजिक-व्यवस्था में जहाँ वर्ण-विभाजन के आधार में गुणों को महत्त्व दिया गया है वहीं दूसरी और कर्म को भी स्वीकार किया गया है। कर्म के आधार पर वर्ण-विभाजन दो रूपों में देखा जा सकता है। (क) जो कर्म करता है या करेगा उसके आधार पर। (ख) पूर्वजन्म में जो कर्म किया था उसके आधार पर।

धर्मग्रन्थों में ऐसा देखने को मिलता है कि जो लोग विद्या, शिक्षा तप, यज्ञ आदि में अधिक रुचि रखते थे वह ब्राह्मण कहलाए, जो वर्ग शासक संचालन और राज्य व्यवस्था में अधिक बल देते थे तथा जिसका प्रधान कर्म देश की रक्षा करना था ऐसे व्यक्ति क्षात्रय वर्ण से संबंधित कहलाए। पशुपालन, कृषि और व्यापार जिसका प्रधान कर्म था वे वैश्य वर्ण के माने गए। समाज के तीनों वर्णो की सेवा का कार्य करने वाले शूद्र वर्ण के माने गए। इन्हीं कर्मों के आधार पर चारो वर्णों का निर्माण हुआ तथा इन्ही वर्गगत कर्मों को वर्णधर्म भी कहा गया।

१—गीता, १४.६-९

२—कर्मणः सुकृतस्याहुः। गीता, १४.१६।

३—सत्वं रजस्तम इति। गीता, १४.५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरी ओर यह भी मान्यता है कि कर्म के आधार पर ही मनुष्य का जन्म होता है। मनुष्य जो वर्तमान जीवन जीता है वह पिछले जन्म में किए गए कर्मों का ही प्रतिफल है। क्योंकि ऐसा माना जाता है कि एकबार आरम्भ किए हुए कर्म का नाश नहीं होता, अर्थात् एक जन्म में व्यक्ति जो कुछ भी कर्म करता है वह कर्म उसके मृत्यु पर्यन्त अर्थात् एक जीवन के अन्त हो जाने के साथ हो नष्ट नहीं हो जाता, अपितु उस कर्म की प्रतिक्रिया उसके अगले जीवन में भी बनी रहती है। इस प्रकार व्यक्ति का वर्तमान भाग्य उन कर्मों के संचय का परिणाम है जो उसने भूतकाल में या पिछले जन्म में किया है। गीता में कहा गया है कि यदि एक जन्म में सिद्धि न मिले तो किया हुआ कर्म व्यर्थ न जाकर अगले जन्म में उपयोगी होता है और प्रत्येक जन्म में इसकी वृद्धि होती रहती है।[1]

इस प्रकार पूर्वजन्म की अवधारणा के आधार पर स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति ने जो पूर्व कर्म किया है उसीके अनुरूप व्यक्ति का वर्ण निश्चित हुआ है। यदि कोई व्यक्ति इस जन्म में शूद्र वर्ण में जन्म लिया है पर उसके पूर्व जन्म में किए हुए अन्य कार्य अच्छे हैं तो उसे पुनर्जन्म में हो सकता है कि ब्राह्मण वर्ण में जन्म मिले, क्योंकि पूर्व जन्म में किया हुआ उत्तम कार्य कभी व्यर्थ नहीं जाता। उत्तम कर्म करने वाले का जन्म उच्च वर्ण में होता है और निम्न कर्म करने वाले का जन्म निम्न योनियों मे होता है।[2]

(स) वर्ण विभाजन के आधार पर देवताओं को भी उनके गुणों के अनुसार चार वर्गों में रखा गया है। यज्ञ एवं विद्या के कारण अत्रि एवं वृहस्पति को देवताओं में ब्राह्मण माना गया है। शक्तिपोषण एवं पराक्रम के अनुसार इन्द्र, वरुण तथा यम को क्षत्रिय देवताओं में स्वीकार किया गया। वसु, रुद्र एवं मारुत देवता वैश्य वर्ण के माने गए। पूषा देवताओं में शूद्र माने गए।[3]

उक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वर्ण निर्धारण के सम्बन्ध में कर्म का स्थान विशेष महत्व का है। उक्त मत की पुष्टि स्मृति के इस कथन से भी होती है कि संस्कार के बल पर ही

१—गीता, ६.४५

२—छान्दोग्योपनिषद्, ५.१०.७

३—वृहदारण्यकोपनिषद्, १४.११-१५.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्य द्विज कहलाने का अधिकारी है, अन्यथा जन्म से सब शूद्र ही होते हैं।[1] अतः विभाजन का मूलाधार कर्म को ही मानना अधिक उपयुक्त लगता है। चार वर्णों में तीन वर्णों को द्विजाति मानने के पीछे भी कर्म की ही प्रमुखता दीख पड़ती है।[2]

वर्ण का निर्धारण: जन्म अथवा कर्म

वर्णों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में धर्मशास्त्रों में जो वर्णन मिलता है उसके आधार पर वर्ण के निर्धारण में विचारकों में बहुत मतभेद है। कुछ लोग उसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं तथा यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि जिस वर्ण के माता-पिता से बालक की उत्पत्ति होती है वही वर्ण उस बालक का भी होता है और इसे वे जन्म वर्ण अथवा जन्म के द्वारा वर्ण के निर्धारण की संज्ञा देते हैं। यहां पर भी वे लोग यह कहना चाहते हैं कि जन्म स्वयं में पूर्वजन्म के कर्म का परिणाम होता है अर्थात् जिस व्यक्ति का पूर्व जन्म में जिस प्रकार के कर्मों के संस्कार होते हैं वह व्यक्ति अपने उन संस्कारों के आधार पर किसी वर्ण विशेष में जन्म लेता है अतः यह कहना कि जन्म से वर्ण का निर्धारण होता है अधिक संगत है क्योंकि यहां जन्म के अन्तर्गत कर्म का भी समावेश हो जाता है किन्तु यहाँ यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि जन्म से वर्ण भेद मानने वाले लोग कर्म का अर्थ पूर्व जन्म के कर्म और उन कर्मों का संस्कार मानते हैं। उनकी यह भी मान्यता है कि जिस वर्ण में जिस व्यक्ति की उत्पत्ति होती है उसमें उस वर्ण के लिए निर्धारित कर्त्तव्यों और दायित्वों के निर्वाह के लिए अपेक्षित योग्यता एवं क्षमता भी रहती है क्योंकि वह अपने पूर्व जन्म के कर्मों के आधार पर उन योग्यता और क्षमता को लेकर ही जन्म लेता है।

धर्मशास्त्रों में वर्णित समाज व्यवस्था के विकास के इतिहास को देखने पर भी इस मत की पुष्टि होती है कि वर्ण का निर्धारण जन्म से होता है क्योंकि सामाजिक व्यवस्था के विकास क्रम में वर्णों से अनेक जातियों

१—शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदे न जायते ॥ मनु, २.१७२।
इन्दिरा रमण, मानव धर्मशास्त्र, पृ० ११२,
जन्मना जायते शूद्रः संस्कारैद्विज उच्यते। स्कन्धपुराण, नागर खण्ड २३९.३१।
२—वशिष्टस्मृति, २० स्मृतियां पहला खण्ड, पृष्ठ २५५–२५७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की उत्पत्ति हुई है और जन्म से वर्णों के निर्धारण के अनुसार जातियों का निर्धारण भी जन्म से हुआ है।

जन्म से वर्ण मानने वाले विचारक वर्ण की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो उद्धरण पुरुषसूक्त आदि में प्राप्त होते हैं उन सबकी व्याख्या अपने पक्ष में करते हैं।

किन्तु दूसरी ओर वे विचारक हैं जो कर्मणावर्ण या कर्म से वर्ण का निर्धारण का सिद्धान्त स्वीकार करते हैं। यहां कर्म का अर्थ पूर्वजन्म में किए हुए कर्म या उसका संस्कार नहीं है। यहां कर्म का स्पष्ट अर्थ वह कार्य है जिसको व्यक्ति अपने वर्तमान जीवन में करता है जैसे- अध्यापन या संरक्षण, कृषि, व्यापार सेवा आदि। इस मत के विचारकों का कहना है कि समाज एक समष्टि है और उसको विभिन्न प्रकार के कार्य करने वाले लोगों की आवश्यकता है। जिस प्रकार की योग्यता क्षमता की व्यक्ति अपनी योग्यता और क्षमता के अनुसार कार्य का चयन कर लेता है उसका वही वर्ण हो जाता है। इनके मत में वे सभी उद्धरण जो वर्ण की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दिये जाते हैं प्रतीकात्मक हैं। जैसे मुख शिरोभाग का प्रतीक है जो मोक्ष के साधन, ज्ञान का संकेत करता है। बाहु या वक्षस्थल शौर्य का प्रतीक है जिसके द्वारा धर्म के साधक दान, यज्ञ, शुभ कर्म आदि का सम्पादन होता है। उरु या कटि श्रम और संचय का प्रतीक है जिससे अर्थ का उपार्जन संचय वितरण के द्वारा भरण-पोषण आदि का कार्य सम्पन्न होता है। पाद या पैर शरीर के अधोभाग का प्रतीक है जिसके द्वारा काम के साधन मैथुन आदि विनोदात्मक क्रीड़ा आदि तथा सेवाकार्य आदि सम्पन्न होते हैं।

इस मत के समर्थक अपने पक्ष में यह तर्क देते हैं कि यदि जन्म से वर्ण का निर्धारण किया जाएगा तो यह अनिवार्य रूप से मान्य होगा कि जिस वर्ण में जो व्यक्ति उत्पन्न हुआ है उस व्यक्ति में उस वर्ण की योग्यता, क्षमता और विशेषता अनिवार्य रूप से रहेगी किन्तु प्रत्यक्षतः इस मान्यता का खण्डन हो जाता है। अनेक ऐसे उदाहरण दिये जा सकते हैं जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण के वर्ण में उत्पन्न व्यक्ति में ब्राह्मण के कर्म करने की योग्यता और क्षमता नहीं रहती है और अन्य वर्ण के व्यक्ति में वह योग्यता और क्षमता रहती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस मत के विचारक जन्मना वर्ण की व्यवहारिकता के सिद्धान्त के आधार पर खण्डन करना चाहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि ऐतिहासिकता की दृष्टि से यह स्पष्ट है कि जन्म के आधार पर वर्ण का निर्धारण होता रहा है किन्तु कर्मणा वर्ण मानने वाले विचारकों का मत है कि यह व्यवहार धर्मशास्त्रों के वर्ण के सिद्धान्त के विरुद्ध होता रहा है। इस मत के समर्थकों का यह दावा है कि धर्मशास्त्रों में धर्म या कर्म की ही प्रधानता है और कर्म ही वर्ण निर्धारण के लिए एक मात्र आधार के रूप में स्वीकार करने योग्य है। कर्म के संस्कार के आधार पर ही धर्मशास्त्रों में द्विजत्व की अवधारणा आयी है। इस मत के समर्थक इतिहास और पुराण से ऐसे उद्धरणों को प्रस्तुत करना चाहते हैं जिससे कि यह सिद्ध हो सके कि अनेक ऐसे लोग क्षत्रिय वर्ण में उत्पन्न होकर ब्राह्मण कहलाए हैं और ब्राह्मण के वर्ण में उत्पन्न होकर क्षत्रिय का कार्य किये हैं।×

वर्णों की उत्पत्ति के प्रसंग में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र क्रमशः ब्रह्मा के मुख, हाथ, उरु तथा पैर से उत्पन्न होकर पूरे समाज को एक समग्र इकाई में बांधते है। सामाजिक संरचना, सामाजिक व्यवस्था तथा समाज के संचालन में इन वर्णो की भूमिका को स्पष्ट रूप से समझने के लिए स्मृतियों में वर्णित इनके अधिकार एवं कर्त्तव्यों का अवलोकन अत्यन्त आवश्यक लगता है।

ब्राह्मण की प्रधानता समाज में बहुत पहले से ही रही है। जीवन के सभी क्षेत्रों में उसे विशेष सुविधाएं प्राप्त रही है। अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन और दान प्रतिग्रह जैसे प्रमुख कार्यों में भी समाज में उसे सर्वोच्च स्थान प्राप्त था।[१] इस सम्बन्ध में मनु का मत है कि ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होने, सभी पदों में ज्येष्ठ होने और वेद को धारण करने से धर्मानुसार ब्राह्मण ही सम्पूर्ण सृष्टि का स्वामी कहा गया है[२]।

×टिप्पणी—इस सम्बन्ध में विस्तार के साथ विवेचन इन्दिरा रमण, 'मानव धर्मशास्त्र' में देखा जा सकता है।

१—अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥ मनु, १.८८।

२—उत्तमांगोद्भवाज्ज्यैष्ठ्याद् ब्रह्मणश्चैव धारणात्।
सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः॥ मनु, १.९३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से ब्राह्मणों को अनेक विशेषाधिकार प्राप्त है, जैसे-दान लेने का अधिकार केवल ब्राह्मणों को ही है।

ब्राह्मणों के कर्त्तव्य –

ब्राह्मणों के कर्त्तव्यों का विवेचन गीता[1] तथा श्रीमद्भागवत्[2] में भी देखने को मिलता है। मनु ने ब्राह्मणों के लिए विशेषकर छः कार्यों को करने का निर्देश दिया है अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना। इन छः कर्मों में से तीन कर्म ब्राह्मणों की जीविका के लिए है वे हैं सांगवेदाध्यापन, यज्ञ कराना और विशुद्ध एवं शास्त्र सम्मत दान लेना।[3]

ब्राह्मण के आपत्तिकालीन कर्म –

कभी-कभी परिस्थितियों के कारण व्यक्ति स्वधर्म के पालनमात्र से अपना जीवन यापन नहीं कर पाता है। ऐसे संकट और विपत्ति के समय में उसके लिए वर्णेत्तर कर्म की व्यवस्था की गई है। ब्राह्मणों के लिए भी ऐसा विधान है कि अगर वह अध्यापन करने, यज्ञ सम्पन्न कराने और दान प्राप्त करने से अपना तथा अपने परिवार का भरण-पोषण कर सकने में असमर्थ होता है तो वह क्षत्रिय के कर्म भी अपना सकता है।[4] याज्ञवल्क्य ने ब्राह्मण के आपद्कालीन कर्म के लिए कहा है कि अपने वर्ण की वृत्ति द्वारा जीविका चलाने में असमर्थ होने पर ब्राह्मण क्षत्रिय के कर्म द्वारा अथवा वैश्य के कर्म के द्वारा जीवन निर्वाह करे। किन्तु आपद्काल समाप्त हो जाने पर पुनः अपने वर्ण की वृत्ति को अपना ले।[5] याज्ञवल्क्य ने

१—शमोदमः तपः शौच छान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्म-कर्म स्वभावजम्॥ गीता, १८.४२।

२—शमोदमः तपः चौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम्।
ज्ञानं दया च्युतात्मत्वं सत्यन्ध ब्रह्म लक्षणम्॥ श्रीमद्भागवत्, ७.११ २१,

३—अध्यापनमध्ययनं ··· ··· ··· ···॥
षण्णां तु कर्मणामस्य ··· ··· ···॥ मनु, १०.७५-७६,

४—अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणां।
जीवेत्क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तरः॥ मनु, १०.८१,

५—याज्ञवल्क्य स्मृति, प्रायश्चिताध्यायः ३५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह भी कहा है कि आपद्काल में जिस किसी का दान एवं अन्न ग्रहण करने वाले ब्राह्मण को पाप नहीं लगता, क्योंकि वह अग्नि और सूर्य के समान होता है।[१]

क्षत्रिय के कर्त्तव्य —

वर्णों के विभाजन में दूसरा स्थान क्षत्रियों का है। मनु ने क्षत्रियों के कर्त्तव्य का उल्लेख करते हुए कहा है कि प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेद पढ़ना, विषयों में आसक्त न होना।[२] रामायण में क्षत्रियों का मुख्य कार्य चातुर्वर्णो को संरक्षण प्रदान करना माना गया है।[३] ब्राह्मणों की तरह क्षत्रियों को अध्ययन-अध्यापन का अधिकार तो प्राप्त था। किन्तु यज्ञ कराने का अधिकार नहीं था।[४] वे केवल प्रजा की रक्षा करने मात्र से ही कृतकृत्य थे। गौतम ने क्षत्रिय का तीन वेदों में अधीन होना बताया है तथा शासन कार्य के लिए राजा को वेद, धर्मशास्त्र, उपवेद और पुराणों का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य माना है।[५] कौटिल्य के अनुसार क्षत्रिय का मुख्य कर्म अध्ययन करना, यज्ञ करना, शस्त्र ग्रहण करना और भूतरक्षण करना है।[६]

क्षत्रिय के आपत्तिकालीन कर्म

क्षत्रिय के आपत्तिकालीन में उसके लिए जीविकोपार्जन के निमित्त अन्य वर्णों के कर्म अनुपालित करने का भी निर्देश दिया गया है। मनु ने क्षत्रिय को आपत्तिकाल में वैश्य कर्म अपनाने को कहा है किन्तु कृषि कर्म को उसके लिए वर्जित बतलाया है। क्षत्रिय कर्म से जीवन निर्वाह न कर सकने के कारण ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों वैश्य के कर्म को ग्रहण कर सकते हैं।[७]

१—याज्ञवल्क्य स्मृति, प्रायश्चिताध्यायः ४१

२—प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥ मनु, १.८९।

३—रामायण, २.१०६, १८.२१

४—महाभारत, ५.४०.२६,५.१२.६०

५—गौतम धर्मसूत्र, ११.३,९

६—कौटिल्य अर्थशास्त्र, ३.६

७—वैश्यवृत्यापि जीवंस्तु ब्राह्मणः क्षत्रियोऽपि वा।
हिंसाप्रायां पराधीनां कृषिं यत्नेन वर्जयेत् ॥ मनु, १०.८३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्राह्मण के कुछ ऐसे कार्य है जो क्षत्रियों के लिए आपत्काल के लिए वर्जित हैं। मनु के अनुसार ब्राह्मणों के कर्मो में से क्षत्रियों के लिए ये कर्म अविहित हैं जैसे पढ़ाना,यज्ञ कराना और दान लेना।[1]

वैश्य के कर्त्तव्य

समाज में वर्णों की दृष्टि से वैश्य का तीसरा स्थान था। मनु के अनुसार वैश्य का कर्त्तव्य पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेद पढ़ना, व्यापार करना, व्याज लेना और कृषि करना माना गया है।[2] कौटिल्य के अनुसार उसका प्रधान कर्म अध्ययन करना, यज्ञ करना और दान देना है।[3] गीता[4] तथा श्रीमद्भागवत्[5] में भी वैश्य के इन्हीं कर्त्तव्यों का विवेचन है।

वैश्य के आपत्तिकालीन कर्म

ब्राह्मण और क्षत्रिय की तरह वैश्य को भी आपत्तिकाल में दूसरे कार्य अपनाने का निर्देश दिया गया है। युद्ध कर्म और सैनिक वृत्ति प्रधानतः क्षत्रिय का कर्म था किन्तु यह व्यवस्था की गई थी कि गौ, ब्राह्मण और वर्ण की रक्षा के लिए वैश्य भी शस्त्र ग्रहण कर सकता है।[6] वैश्य के लिए आपत्तिकाल आने पर मनु की यह व्यवस्था है कि वह निषिद्ध कर्मों का त्याग करते हुए अर्थात् द्विजों का सेवा करने में जूठन आदि न खाते हुए, शुद्र की वृत्ति को अपना सकता है।[7] महाभारत में यह उल्लेख मिलता है कि समाज को श्रृंखलावद्ध रखने के लिए प्रत्येक वर्ण को अपने ही

१—त्रयो धर्मा निवर्तन्ते ब्राह्मणात्क्षत्रियं प्रति।
अध्यापनं याजनं च तृतीयश्च प्रतिग्रहः ॥ मनु, १०.७७।

२—पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ मनु, १.९०

३—वैश्यस्यध्ययनं यजनं दानं। कौटिल्य अर्थशास्त्र, ३.७,

४—गीता, १८.४४ (क,ख)

५—श्रीमद्भागवत, ७.११.२३।

६—बोधायन धर्मसूत्र, २.२.८०

७—वैश्योऽजीवन्स्वधर्मेण शूद्रवृत्त्यापि वर्तयेत्।
अनाचरन्नकार्याणि निवर्तेत च शक्तिमान् ॥ मनु, १०.९८,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार्यों को करने का विधान है किन्तु विषम परिस्थिति में यदि उसे अपने से निम्न वर्ण के कर्त्तव्यों को स्वीकार कर अपनी जिविका का निर्वाह करना पड़े तो उसको निन्दा नहीं होनी चाहिए ।[१]

शूद्र के कर्त्तव्य —

वर्णों की दृष्टिकोंण से शूद्रों का समाज में चौथा स्थान माना गया है। मनु ने शूद्रों के कर्त्तव्यों की चर्चा करते हुए कहा है कि ब्राह्मण आदि तीनों वर्णों के अनिन्दक रहते हुए इनकी सेवा करना ही शूद्र का प्रधान कर्म है।[२] गीता तथा श्रीमद्भागवत् ने भी शूद्रों के इन कर्त्तव्यों का विवेचन किया है।

धर्मग्रन्थों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि समाज में शूद्रों के दो वर्गों का विकास होने लगा था। एक तो वह वर्ग था जो ब्राह्मणों के निर्देशानुसार विशुद्ध आचरण और धार्मिक क्रिया सम्पादित करता था और दूसरा वह जो ब्राह्मणों के निर्देश के विपरीत विशुद्ध आचरण और सात्त्विक चरित्र से दूर असभ्य और असंस्कारयुक्त हीन जीवन व्यतीत करता था। पहला वर्ग सदाचरण करनेवाला था और दूसरा असत् आचरण करने वाला। पहले वर्ग के शूद्रों में ही संस्कार और धार्मिक कार्य होता था किन्तु वह सब मंत्रहीन होता था। ऐसे सन्मार्गी शूद्र मंत्रहीन पंच महायज्ञ, धर्म आदि का पालन करते हुए प्रशंसा के पात्र थे।[३] इस प्रकार सदनूयायी शुद्रों का स्थिति निश्चित रूप से ऊँची रही रहेगी। इससे यह स्पष्ट होता है कि शूद्रों का यह सन्मार्गी वर्ग वैश्यों की स्थिति तक पहुँच गया। याज्ञवल्क्य ने तो मृत्यु के अशौच की अवधि वैश्य के लिए उतनी ही निर्धारित की है जितनी सच्छूद्र के लिए।

शूद्र का आपत्तिकालीन कर्म

शूद्र पूर्ण रूपेण द्विजों की दया पर ही निर्भर करते थे। उनका सर्वोत्कृष्ट कर्म ब्राह्मण या क्षत्री वर्ण की सेवा करना

१—महाभारत, शांतिपर्व, ७८.१८

२—एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ।। मनु, १.९१ ।

३—धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः ।
मन्त्रवर्ज्यं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च ।। मनु, १०.१२७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था।[1] यदि ब्राह्मण या क्षत्री की सेवा करने से उनकी आजीविका नहीं चल पाती थी तो उनको धनिक वैश्य की सेवा करने का भी विधान था। ब्राह्मण की सेवा के बदले उन्हें जूठा अन्न, पुराने वस्त्र, धान के पुवाल तथा पुराने खाट-बर्तन आदि प्राप्त होते थे।[2] मनु ने विपत्तिग्रस्त शूद्र के लिए विभिन्न उद्योग-धन्धे अपनाने का निर्देश किया है। वे कठोर नियम नियन्ता थे फिर भी शूद्रों के प्रति कहीं- कहीं उन्होंने उदार भावना व्यक्त की है। उनका कहना है कि द्विजों की सेवा करने में असमर्थ शूद्र (भूख से पीड़ित होकर) स्त्री-पुत्रादि के कष्ट के निवारणार्थ कारुकर्म (सूप आदि बनाने का कार्य) कर सकता है।[3]

स्तरीकरण

वर्णों के विभाजन में स्तरीकरण स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। सर्व प्रथम तीन वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) को द्विज या द्विजन्मा और शूद्र को एक जन्मवाला मानकर द्विजों को शूद्र से ऊपर माना गया है। द्विजों में भी स्तर का निर्धारण किया गया है। द्विजों के स्तर के निर्धारण के लिए मनु ने पांच चीजों को विशेष महत्त्व दिया है जिनकी अधिकता से एक की अपेक्षा दूसरे को श्रेष्ठ माना जाता है। इन पांचों में भी पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर को श्रेष्ठ माना गया है। ये पांच वस्तुएं है-न्यायोपार्जित धन, बन्धुता या रक्त सम्बन्ध, अवस्था, श्रुतिस्मृति

१—स्वर्गार्थमुभयार्थं वा विप्रानाराधयेत्तु सः।
जातब्राह्मणशब्दस्य सा ह्यस्य कृतकृत्यता।
विप्रसेवैव शूद्रस्य विशिष्टं कर्म कीर्त्यते।
यदतोऽन्यद्धि कुरुते तद्भवत्यस्य निष्फलम्॥ मनु, १०.१२२-१२३।

२—शूद्रस्तु वृत्तिमाकाङ्क्षन्क्षत्रमाराधयेद्यदि।
धनिनं वाप्युपाराध्य वैश्यं शूद्रो जिजीविषेत्।
उच्छिष्टमन्नं दातव्यं जीर्णानि वसनानि च।
पुलाकाश्चैव धान्यानां जीर्णाश्चैव परिच्छदाः, मनु, १०.१२१,१२५

३—अशक्नुवंस्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम्।
पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत्कारुककर्मभिः॥
यैः कर्मभिः प्रचरितैः शुश्रूष्यन्ते द्विजातयः।
तानि कारुककर्माणि शिल्पानि विविधानि च॥ मनु, १०.९९,१००।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिपादित कर्म और विद्या ।[१] इसका तात्पर्य यह है कि न्यायोपार्जित धन की अपेक्षा रक्त सम्बन्ध को स्तर निर्धारण में अधिक महत्त्व दिया गया है। रक्त सम्बन्ध की अपेक्षा अवस्था या वय को महत्त्व दिया गया है। अवस्था से भी श्रुतिस्मृति प्रतिपादित कर्म की श्रेष्ठता को स्वीकार किया गया है और सबसे अधिक महत्त्व विद्या को दिया गया है । इसलिए ब्राह्मण को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। ब्राह्मण की विशेषता उसकी सात्त्विक वृत्ति तथा उसका सात्त्विक स्वभाव है। मनु ने श्रेष्ठता के क्रम को दिखलाते हुए यह स्पष्ट किया है कि भूतों में प्राणीधारी जीव श्रेष्ठ है, प्राण धारियों में बुद्धिजीवी श्रेष्ठ हैं और बुद्धिजीवियों में मनुष्य श्रेष्ठ है और मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है।[२] ब्राह्मणों में भी विद्वान श्रेष्ठ है। विद्वानों में शास्त्र निर्धारित कर्त्तव्यों में निष्ठा रखने वाला श्रेष्ठ है उनमें भी शास्त्रोक्त कर्त्तव्य के अनुसार आचरण करने वाला श्रेष्ठ है और उनसे भी ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण श्रेष्ठ है।[३] ब्राह्मण की विशेषता इसलिए है कि उसकी उत्पत्ति ही धर्म के लिए है और धर्म के लिए व्युत्पन्न ब्राह्मण मोक्ष के लिए समर्थ होता है।[४] वह उत्पन्न होते ही पृथ्वी पर सबसे श्रेष्ठ माना जाता है क्योंकि वह सब प्राणियों का ईश्वर है और धर्म की रक्षा में समर्थ है। पृथ्वी पर जो कुछ भी है वह सब कुछ ब्राह्मण का है, वह सब कुछ अपना समझकर ग्रहण कर सकता है सब कुछ उसका है इसलिए वह अपना खाता है, अपना पहनता है और अपना दान करता है किन्तु अन्य लोग उसकी कृपा के पात्र है।[५] अन्य द्विजों में ब्राह्मण की श्रेष्ठता को

१—वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी ।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ।। मनु, २ १ ३६ ।

२—भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः ।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ।। मनु, १.९६ ।

३—ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः ।
कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः ।। मनु, १.९७

४—उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती ।
स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ।। मनु, १.९८ ।

५—ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते ।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये ।।
सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किंचिज्जगतीगतम् ।
श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति ।।
स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च ।
आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः ।। मनु, १.९९-१०१ ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्पष्ट करते हुए मनु ने यह स्पष्ट किया है कि यदि दस वर्ष का ब्राह्मण और सौ वर्ष का क्षत्रिय हो तो भी क्षत्रिय को पुत्र के समान और ब्राह्मण को पिता के समान समझना चाहिए।[1]

ब्राह्मण के उक्त विशेषताओं के कारण मनु ने राजा के लिए यह परम कर्त्तव्य माना है कि वह हर प्रकार से ब्राह्मण की रक्षा तथा सहायता करे। राजा ब्राह्मण के पुत्रादि पोष्य वर्ग का सदा ध्यान रखे तथा उनके लिए अनुकूल जीविका वृत्ति का प्रबन्ध करे। राजा को चाहिए कि वह ब्राह्मण की जीविका निर्धारित करके सब प्रकार से उसकी रक्षा करे क्योंकि ब्राह्मण की रक्षा से ही धर्म का छठा भाग राजा को प्राप्त होता है।[2]

वर्ण के स्तरीकरण में ब्राह्मण के बाद क्षत्रियों को स्थान दिया गया है यह स्थान उसकी उत्पत्ति प्रक्रिया की श्रेष्ठता और रक्षा कर्म की विशेषता के कारण से है। ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुआ है और क्षत्रिय उनके बाहु से उत्पन्न माना जाता है अतः क्षत्रिय केवल उत्पत्ति की दृष्टि से ब्राह्मण से छोटा है। अन्य वर्ण की उत्पत्ति क्षत्रिय की उत्पत्ति की अपेक्षा निम्न स्थान से हुई है अतः क्षत्रिय श्रेष्ठ है। धन आदि की अपेक्षा रक्षण शक्ति अधिक महत्त्वपूर्ण है अतः वैश्यादि की अपेक्षा क्षत्रिय श्रेष्ठ है।

द्विजों में अन्तिम स्थान वैश्य का है। वैश्य सामाजिक प्राणियों का पोषक है वह अन्य कर्मों से जीवन निर्वाह के लिए साधन एकत्र करता है। अपनी उत्पत्ति के स्थान तथा धन संग्रह रूप कर्म इन दोनों दृष्टियों से वह ब्राह्मण, क्षत्रिय से नीचे है किन्तु उसके कार्यों के महत्त्व के कारण उसे भी द्विजाति का स्थान प्राप्त है।

वर्णों में शूद्र को सबसे निम्न स्थान प्राप्त है। यह स्थान उसके उत्पत्ति स्थान और सेवा कार्य के द्वारा निर्धारित किया गया है किन्तु मनु

१—ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम्।
पितापुत्रौ विजानीयाद् ब्राह्मणस्तु तयोः पिता॥ मनु, २.१३५।

२—तस्य भृत्यजनं ज्ञात्वा स्वकुटुम्बान्महीपतिः।
श्रुतशीले च विज्ञाय वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत्॥
कल्पयित्वाऽस्य वृत्तिं च रक्षेदेनं समन्ततः।
राजा हि धर्मषड्भागं तस्मात्प्राप्नोति रक्षितात्॥ मनु, ११.२२,२३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने एक वय विशेष पार कर जाने पर शूद्र को भी द्विजातियों से श्रेष्ठ माना है।[१]

धर्मशास्त्रों के समाज दर्शन में जन्म और कर्म के महत्त्व के आधार पर निर्धारित स्तरीकरण में बहुत अधिक सामाजिक कठोरता परिलक्षित नहीं होती है क्योंकि अनुलोम विवाह धर्मशास्त्रीय प्रक्रिया में पशस्त विवाह के अन्तर्गत मान्य है अर्थात् उच्च वर्ण का पुरुष अपने से निम्न वर्ण के कन्या से विवाह कर सकता था यह सिद्धान्त भी था और ऐतिहासिक साक्ष्य पर इसकी यथार्थता भी सिद्ध है क्योंकि इतिहास में ऐसे बहुत से उदाहरण हैं जहां उच्च वर्ण के पुरुष और निम्न वर्ण के स्त्री के साथ विवाह सम्बन्ध हुआ है ।

वर्णों के स्तर निर्धारण में वर्णों की भूमिका एवं कार्य का विशेष महत्त्व रहा है। जिस वर्ण का कार्य एवं भूमिका जितनी महत्त्वपूर्ण रही है उस वर्ण को उतना ही ऊंचा स्तर मिला है। स्तर के अनुसार ही उस पर दायित्व भी लादे गये हैं। उच्चतर वर्ण पर दायित्व भी गुरुतर है और गुरुतर दायित्व के निर्वाह के लिए कुछ विशेष सुविधाएं और विशेषाधिकार भी अपेक्षित होते हैं, उन्हें प्राप्त है। फिर भी चारो वर्ण एक दूसरे के पूरक हैं और परस्पर सम्बद्ध है अपने कार्यों और दायित्वों के द्वारा वह एक दूसरे का पथ प्रदर्शन, संरक्षण और भरण-पोषण तथा सेवाकार्य करते हुए सुख पूर्वक साथ-साथ रहते हैं।

१—पञ्चानां त्रिषु वर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति च ।
यत्र स्युः सोऽत्र मानार्हः शूद्रोऽपि दशमीं गतः ।। मनु, २.१३७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंचम–अध्याय

आश्रम-व्यवस्था

आश्रम व्यवस्था –

वर्णाश्रम व्यवस्था भारतीय संस्कृति का प्राण कहा जाता है। वर्णाश्रम व्यवस्था समाज और व्यक्ति को संगठित कर उन्हें पुरुषार्थ के साथ जोड़ने की कड़ी है। वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति की अपनी व्यक्तिगत स्थिति अपने वर्ण तक ही सीमित रहती है तथा उसी वर्ण के अनुकूल उसे अपना कार्य करना होता है पर आश्रम व्यवस्था इससे भिन्न है आश्रम व्यवस्था का मूल आधार सामाजिक व्यवस्था रही है।

"आश्रम" शब्द का अर्थ

"आश्रम" शब्द संस्कृत के "श्रम" धातु से बना है।[1] उत्पत्ति के आधार पर इसका अर्थ "आश्राम्यन्ति अस्मिन् इति आश्रमा" अधिक श्रम करना किया गया है।[2] किन्तु उक्त व्युत्पत्ति से इस शब्द के दो अर्थ निकलतेहैं, प्रथम अर्थ "परिश्रम करना" और अर्थ द्वितीय वह स्थान जहां परिश्रम किया जाय"। इसका शाब्दिक अर्थ है "विश्राम-स्थल"।[3] मानव जीवन को सफलता की ओर ले जाने तथा परमपद तक पहुँचाने में ये आश्रम विश्राम स्थल के रूप में कार्य करते हैं। पी० एन० प्रभु भी उक्त मत का समर्थन करते हुए कहते हैं कि आश्रमों को जीवन के अन्तिम लक्ष्य चरम युक्ति की दिशा में, मनुष्य की यात्रा में आने वाले मिलन स्थलों के रूप में समझना चाहिए।[4] इनका सर्वोपरि महत्त्व यह है कि इन विकास क्रमों में मानव पुरुषार्थों की उपयुक्त साधना एवं ऋणों से मुक्त होने की क्रिया करता है तथा यज्ञ करते हुए मोक्ष की प्राप्ति के लिए अपने को उपयुक्त बनाता है। इसकी व्यवस्था

१—पी० एन० प्रभु, हिन्दू सोशल आर्गेनाइजेशन, पृष्ठ ८३
२—पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ २६७, भाग-१
३—पी० एन० प्रभु, हिन्दू सोशल आर्गेनाइजेशन, पृष्ठ ८३
४—वही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक मनोवैज्ञानिक क्रम में की गई है जिससे मानव जीवन में पुरुषार्थों एवं जीवन की आवश्यकताओं में संतुलन एवं संगति स्थापित हो जाय। इस क्रम में प्रत्येक आश्रम अपने से पहले के आश्रमों से 'व्यवहारिक दृष्टि, से सम्बद्ध है। यह व्यवस्था यह बतलाती है कि व्यक्ति के ऐहिक एवं आध्यात्मिक लक्ष्य क्या है ? उसे अपने जीवनको किस प्रकार ले चलना है तथा अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए क्या तैयारियां करनी है'।[1] महाभारत में कहा गया है कि मानव जीवन को अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए आश्रम व्यवस्था एक सीढ़ी के समान है, इस सीढ़ी के चार डंडे हैं, क्रमानुसार एक डंडे से दूसरे डंडे पर चढ़ते हुए मनुष्य मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। सीढ़ी के ये चार डंडे ही चार आश्रम है और यही चार विश्राम-स्थल हैं।[2] सामान्य अर्थ में आश्रम व्यवस्था उस स्थल को कहते हैं जहाँ साधना अथवा किसी विशेष प्रशिक्षण के उद्देश्य से एक निश्चित अवधि के लिए व्यक्ति निवास करता है।

आश्रम का उद्देश्य है, मनुष्य के जीवन को ऐसा क्रम देना जिससे वह जीवन का समुचित विकास करते हुए मुक्ति प्राप्त कर सके। मनुस्मृति, आपस्तम्ब आदि सभी ने इस तथ्य को स्वीकार किया है।[3]

आश्रमों का विभाजन

आश्रमों के विभाजन के लिए व्यक्ति की आयु सामान्यतः एक सौ वर्ष की मानी गई है।[4] अपने सौ वर्ष के जीवन से ही मनुष्य को चारों प्रकार के पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) को प्राप्त कर लेना है। अतएव पच्चीस वर्ष के अनुपात से सिद्धि की अवस्थाओं को चार चरणों में विभक्त कर दिया गया है जो चार आश्रमों के नाम से अभिहित होते है ब्रह्मचर्यश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और सन्यासाश्रम। कुछ विचारकों का कहना है कि प्रारम्भ में आश्रमों की संख्या तीन मानी गई थी-ब्रह्चर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ। वानप्रस्थाश्रम और सन्यासआश्रम को एक ही आश्रम के अन्तर्गत रखा गयाथा

१—पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ २६६, प्रथम खण्ड

२—डा० रविन्द्रनाथ मुखर्जी, भारतीय, सामाजिक संस्थायें, पृष्ठ ५०

३—सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं निषेविताः।
यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम्॥ मनु, ६.८८,
आपस्तम्ब, २.९.२१.२

४—पश्येम शरदः शतम्, जीवेम् शरदः शतम्॥ यजुर्वेद, ३६, २६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्योंकि दोनों का आधार अध्यात्म और सत्य की खोज करना है। सम्भवतः इसीलिए इन दोनों आश्रमों में अधिक भेद करना उचित नहीं समझा गया होगा। किन्तु धीरे-धीरे आश्रमों का विकास चार आश्रम के रूप में हुआ[1]। मनुस्मृति में भी चार आश्रमों ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास का वर्णन मिलता है[2]। छान्दोग्य उपनिषद् में भी धर्म के अनुसार जीवन के तीन स्तरों या क्रमों का उल्लेख मिलता है। प्रथम विद्यार्जन का स्तर जिसमें कि विद्यार्थी काफी समय तक या स्थायी रूप से गुरुकुल में बस जाता है अर्थात् आचार्य की छत्रछाया में कुलवासी होकर ज्ञानार्जन करता है। द्वितीय गृहस्थ स्तर जिसमें एक व्यक्ति से यज्ञ, स्वाध्याय तथा दान करने की आशा की जाती है तथा तृतीय सन्यास स्तर जिसमें एक व्यक्ति से तप करने की आशा की जाती है[3]। मनु ने एक स्थलपर तीन आश्रमों का उल्लेख किया है[4]। किन्तु उन्होंने ही बाद में कहा है, मनुष्य अपने सौ वर्ष की आयु में चारों आश्रमों को (पचीस-पचीस वर्ष के) चार भागों में विभाजित कर सकता है[5]। वाल्मीकि रामायण[6] गौतम[7], आपस्तम्ब[8], मनु तथा याज्ञवल्क्य आदि धर्मग्रन्थों में स्पष्ट रूप से चार आश्रमों का वर्णन मिलता है। ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और सन्यासाश्रम या परिव्राजक। सन्यास के लिए कुछ सूत्रकारों ने 'परिव्राजक' शब्द को व्यवहार में लिया है।

आश्रमों के सम्बन्ध में त्रिविध सिद्धान्त

आश्रमों के सम्बन्ध में विचार करने वाले चिंतकों का कहना है कि प्रारम्भ से लेकर स्मृतियों तक आश्रमों के संदर्भ में तीन प्रकार के सिद्धान्त

१—पी० एन० प्रभु, हिन्दू सोशल आर्गेनाइजेशन, पृष्ठ ८५

२—ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा ।
एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः ॥ मनु, ६.७७
याज्ञवल्क्य आचाराध्याय १२-१४ ६, ८७,

३—छान्दोग्य उपनिषद् २, २३- १

४—त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः ।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः ॥ मनु, २.२३०,

५—मनु, ६.८७,

६—वाल्मीकि रामायण, २. १०६. २२,

७—ब्रह्मचारी गृहस्थो भिक्षुर्वैखानसः । गौतम धर्मसूत्र, ३.२

८—आपस्तम्ब धर्मसूत्र, २.९.२१.१;

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रचलित थे जिन्हें विकल्प, वाध, और समुच्चय के नाम से सम्बोधित किया जाता था विकल्प सिद्धान्त के समर्थकों का कहना है कि ब्रह्मचर्याश्रम के बाद व्यक्ति के समक्ष यह चयनात्मक विकल्प रहता है कि वह गृहस्थाश्रम का चयन कर वैवाहिक जीवन में प्रवेश करे, अथवा अपना अध्ययन समाप्त कर सीधे सन्यास आश्रम में प्रवेश कर मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हो जाए[1]। इस विकल्प सिद्धान्त के प्रधान समर्थक वशिष्ठ है और जावाल के मत में भी समुच्चय सिद्धान्त के विकल्प के रूप में इसका समर्थन प्राप्त होता है[2]। वाध सिद्धान्त का समर्थन गौतम और बौधायन के धर्मसूत्रों में प्राप्त होता है। उनके अनुनार वास्तव में एक ही आश्रम है वह है गृहस्थाश्रम। और सभी आश्रम इसी के अन्तर्भूत हैं इससे हीन है। बौधायन चार आश्रमों का नाम देकर एक रड़ी रोचक सूचना देते हुए कहते हैं कि कपिल नाम के असुर ने देवताओं से ईर्ष्या कर इन चार आश्रमों का विभेद किया है इसी लिए विवेकशील व्यक्ति को इस पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है[3]। बौधायन कपिल नामक असुर के इस आश्रम विभाजन को देवताओं को क्षति पहुंचाने का एक भारी साजिश मानते हैं क्योंकि वानप्रस्थाश्रम या परिव्राजक आश्रम के सर्जन से यज्ञों का सम्पादन बन्द हो जायेगा और देवताओं को उन यज्ञ का उचित भाग प्राप्त नहीं हो सकेगा। वाध सिद्धान्त के समर्थक अपने पक्ष के समर्थन में अग्निहोत्र सत्र का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जो जीवन पर्यन्त चलता रहता है[4]। तीसरा सिद्धान्त समुच्चय सिद्धान्त है। इसके अनुसार चारों आश्रमों में क्रमशः रहना आवश्यक है अर्थात् किसी आश्रम का परित्याग नहीं किया जा सकता। आपस्तम्ब इस

1—Ranade, A Constructive Survey of Upanisadic Philosophy, p60–1 Keith, Religion and Philosophy of the Vedas and Upanisads, Vol. II, Page 587. Quoted by R. M. Das, "Woman in Manu and His Seven Commentators. "Page. 100.

२—यदि वाहतरथा ब्रह्मचर्यादैवप्रव्रजेद गृहाद वा वनाद् वा। वशिष्ठ, ७.३; जावालोपनिषद् ४,

३—प्राह्लादिः वै कपिलो नामासुर आसीत् स एतान् भेदान् चकार देवैः स्पर्द्धमानः, तान् मनीषी नाद्रियते। बौधायन धर्मसूत्र, २.६.२६-३१

४—आर० एम० दास, वोमेन इन मनु, पृष्ठ १००

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिद्धान्त के समर्थक प्रतीत होते है। यह सिद्धान्त जीवन के विभिन्न स्तरों में सामञ्जस्य स्थापित करने के कारण अधिक प्रचलित रहा है जहाँ विकल्प सिद्धान्त के मानने वाले गृहस्थ आश्रम की पूरी उपेक्षा कर देते है वहाँ बाध सिद्धान्त के मानने वाले अन्य सभी आश्रमों की उपेक्षा कर गृहस्थाश्रम को ही सर्वोपरि मान लेते है। मनु समुच्चय सिद्धान्त के समर्थन के साथ-साथ गृहस्थाश्रम के विशेष महत्त्व को भी स्वीकार करते है[1]। मनु के समुच्चय सिद्धान्त की व्याख्या करते समय एक बात पर विशेष ध्यान जाता है कि मनु ने ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रम पर जितना जोर दिया है उतना जोर वानप्रस्थाश्रम पर नहीं दिया है इसका कारण यह प्रतीत होता है कि मनु की दृष्टि में भी वानप्रस्थ और सन्यास में कोई विशेष भेद नहीं है। आश्रमों के विकास के इतिहास को देखते हुए भी ऐसा लगता है कि सन्यासआश्रम से ही वानप्रस्थ और सन्यास दो भेद हो गए हैं[2]। किन्तु मनु, याज्ञवल्क्य और उनके टीकाकारों ने समुच्चय सिद्धान्त को विशेष रूप से महत्त्व देकर क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम का निरूपण किया है तथा चारो में क्रमशः प्रवेश पर बल भी दिया है[3]।

ब्रह्मचर्याश्रम

मनुष्यके बौद्धिक और शिक्षित जीवन के लिए ब्रह्मचर्याश्रम की व्यवस्था की गई है। 'ब्रह्मचर्य' शब्द 'ब्रह्म' और 'चर्य' से मिलकर बना है। ब्रह्म का अर्थ है 'महान्' और 'चर्य' का अर्थ है "विचरण करना", अर्थात् ब्रह्म के मार्ग पर चलना। ब्रह्मचर्य का तात्पर्य केवल इन्द्रिय निग्रह ही नहीं बल्कि इसके साथ ही वेदाध्ययन भी है। 'ब्रह्म' और 'वेद' का घनिष्ट

---

१ सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान्बिभर्ति हि ॥ मनु, ६.८६,

२—पी० एम० मोदी, दि डेवलप्मेण्ट आफ दि आश्रमाज, उद्धृत द्वारा आर० एम० दास, दि वोमेन इन मनु।

३—ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।
एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः ॥ मनु, ६, ८७,
याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय, १०-१४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्बन्ध है 'ब्रह्मवेद इति श्रुतेः'[१]। ब्रह्मचर्य का दूसरा अर्थ है 'वेद मार्ग पर चलना'। स्मृतियों में ब्रह्मचारियों के दो प्रकार के विभाजन देखने को मिलता है प्रथम नैष्ठिक और द्वितीय उपकुर्वाण। नैष्ठिक ब्रह्मचारी जीवन पर्यन्त गुरु के आश्रम में रहकर ज्ञान प्राप्त करता है तथा वहीं रहकर मोक्ष प्राप्ति के लिए साधना करता है। वह आजीवन ब्रह्मचारी ही रहता है किन्तु उपकुर्वाण गुरु के आश्रम में रहकर समुचित विद्या प्राप्त कर लेने के बाद गुरु के आज्ञा से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है और गृहस्थाश्रम के समस्त धर्मों का पालन करता हुआ क्रमशः मोक्ष मार्ग के लिए अपनी तैयारी करता है। ब्रह्मचारी का दूसरा भेद व्रत और विद्या के आधार पर किया गया है। इस आधार पर ब्रह्मचारी के तीन भेद हो जाते है विद्या स्नातक, व्रतस्नातक तथा विद्याव्रत स्नातक[२]।

जो ब्रह्मचारी गुरु के आश्रम में विद्याध्ययन पर विशेष बल देता है और विद्या के समक्ष व्रत के महत्त्व को गौण मानता है। विद्या में पारंगत होना ही अपना परम कर्त्तव्य समझता है वह ब्रह्मचारी विद्या-स्नातक कहलाता है। जो ब्रह्मचारी गुरु के आश्रम में रहकर विद्या की अपेक्षा व्रत को अधिक महत्त्व देता है, व्रत की अटूट साधना को अपने जीवन का लक्ष्य बनाता है, शास्त्रज्ञान की अपेक्षा संयम, नियम, व्रत एवं निष्ठा को अधिक महत्त्व देता है. उसे व्रतस्नानक कहा गया है। किन्तु जो ब्रह्मचारी विद्या और व्रत, शास्त्रज्ञान और संयम दोनों को समान महत्त्व देता है ज्ञान की पराकाष्ठा के साथ संयम, नियम एवं व्रत में भी निष्णात् होना चाहता है उसे विद्या–व्रत स्नातक कहा गया है। मनु ने ब्रह्मचारियों का एक वर्गीकरण वेद के अध्ययन के आधार पर भी किया है। प्रथम वर्ग में उन ब्रह्मचारियों को रखा है जो अखण्डित ब्रह्मचर्य को धारण करते हुए तीनों वेदों का उनके समस्त शाखाओं के साथ अध्ययन कर उसमें पारंगत हो जाते हैं।

१–मोटवानी, मनु धर्मशास्त्र, पृष्ठ ७६

२–याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय, ४९-५१

यदि त्वात्यन्तिकं वासं रोचयेत गुरोः कुले।
युक्तः परिचरेदेनमाशरीरविमोक्षणात् ॥
आसमाप्तेः शरीरस्य यस्तु शुश्रूषते गुरुम्।
स गच्छत्यञ्जसा विप्रो ब्रह्मणः सद्म शाश्वतम् ॥ मनु, १,२४३-२४४.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरा वर्ग उन ब्रह्मचारियों का है जो अखण्डित ब्रह्मचर्य का धारण तो करते हैं किन्तु तीनों वेदों के अध्ययन करने में समर्थ न होने के कारण दो वेदों का अध्ययन उनकी समस्त शाखाओं के साथ करते हैं। तीसरा वर्ग उन ब्रह्मचारियों का है जो अखण्डित ब्रह्मचर्य धारण करते हैं किन्तु दो वेदों के अध्ययन में भी समर्थ नहीं होते इसलिए वे केवल एक ही वेद का अध्ययन उसकी समस्त शाखाओं के साथ मन्त्र-ब्राह्मण के क्रम से करते हुए उसमें दक्षता प्राप्त करते हैं[1]

ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश की आयु

बालक ब्रह्मचर्य आश्रम में कब प्रवेश करे, धर्मशास्त्रियों के लिए यह एक विचारणीय प्रश्न रहा है। ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश या गुरु गृह निवास उपनयन संस्कार से जुड़ा हुआ है। इसलिए उपनयन संस्कार के सम्बन्ध में जो आयु का विवेचन किया गया है वही ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश की आयु माना गया है। मनु और याज्ञवल्क्य ने सामान्य रूप से उपनयन संस्कार के लिए बालक के गर्भ में आने से ब्राह्मण बालक को आठवें वर्ष में, क्षत्रिय बालक को ग्यारहवें वर्ष में, और वैश्य बालक को बारहवें वर्ष में उपनयन संस्कार के योग्य माना है।[2] किन्तु मनु ने यह भी निर्देश दिया है कि वेदाध्ययन और ज्ञानादि की प्राप्ति के लिए ब्राह्मण बालक का गर्भ से पाँचवें वर्ष में, पराक्रम प्राप्ति के लिए क्षत्रिय बालक का गर्भ से छठें वर्ष में, और अधिक धन की प्राप्ति के लिए वैश्य बालक का गर्भ से आठवें वर्ष में उपनयन संस्कार करना चाहिए। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश के लिए ये दो विकल्प हैं। सामान्यतया ब्राह्मण के लिए आठ वर्ष, क्षत्रिय के लिए ग्यारह वर्ष, और वैश्य के लिए बारह वर्ष। किन्तु विशेष तेजस्वी एवं प्रतिमा सम्पन्न बालक के लिए ब्राह्मण के लिए पाँच वर्ष, क्षत्रिय के लिए छः वर्ष और वैश्य के लिए आठ वर्ष की आयु निर्धारित है। उपनयन संस्कार की अन्तिम अवधि भी निर्धारित की गई है

१–वेदानधीत्य, वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम्।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत्॥ मनु, ३.२,

२–याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय १४,
गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः॥ मनु, २.३६,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिससे लगता है कि इस अवधि के बाद किसी बालक को ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश की अनुमति नहीं मिलती थी। उपनयन संस्कार की अन्तिम सीमा के सम्बन्ध में मनु ने ब्राह्मण के लिए सोलह वर्ष, क्षत्रिय के लिए बाईस वर्ष और वैश्य के लिए चौबीस वर्ष की आयु का निर्धारण किया है।

ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य

ब्रह्मचर्याश्रम के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए धर्मशास्त्रों ने ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों का विधान किया है। उसका मुख्य कर्त्तव्य तो वेद का अध्ययन और ज्ञान की प्राप्ति है किन्तु इस मुख्य कर्त्तव्य के सम्पादन के लिए उसके कुछ और भी कर्त्तव्य बतलाए गए हैं। उनमें से कुछ कर्त्तव्य उसकी अपनी जीविका के निर्वाह के लिए हैं और कुछ गुरु को सन्तुष्ट करने के लिए। अपने मुख्य कर्त्तव्य वेदाध्ययन के लिए उसे गुरु के प्रति श्रद्धा और भक्तिभाव रखना, उनकी आज्ञाओं का पालन करना तथा मन, वाणी से शुद्ध रहना परम आवश्यक माना गया है। क्योंकि इनके बिना वह अपने मुख्य कर्त्तव्य का समुचित निर्वाह नहीं कर सकता है। ब्रह्मचारी अपने जीवन निर्वाह के लिए न तो कोई अर्थोपार्जन की वृत्ति अपना सकता है न अपने परिवार या इष्ट-मित्रों से आर्थिक सहायता ही प्राप्त कर सकता है इसलिए प्रतिदिन भिक्षा माँगने का विधान है। भिक्षा उस युग में जीवन निर्वाह मात्र के लिए समाज स्वीकृत वृत्ति थी। इस वृत्ति से अर्थ सचय नहीं किया जाता था किन्तु जीविका निर्वाह के लिए इसका उपयोग होता था। अतः ब्रह्मचारी के लिए भी अपनी जीविका के निर्वाह के लिए इसी भिक्षावृत्ति का विधान है। उसे प्रतिदिन सूर्योपासना के बाद भिक्षा में जो कुछ भी उसे प्राप्त होता था उसे गुरु को समर्पित कर उनके आदेश अनुसार वह अपने आहार के रूप में ग्रहण करता था। ब्रह्मचारी का जीवन एक साधना का जीवन है अतः उसमें अधिक भोजन करना वर्जित है। यह स्पष्ट किया गया है कि ब्रह्मचारी को प्रातः और सायं केवल दो बार ही भोजन करना चाहिए। बीच में भोजन करना निषिद्ध माना गया है।[1] अपने अध्ययन कार्य को

१– आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः।
श्रियं प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्ते ऋतं भुङ्क्ते ह्युदङ्मुखः॥
सायं प्रातर्द्विजातीनामशनं स्मृतिनोदितम्।
नान्तरा भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः॥ मनु, २, ५२ (६),

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूरा करने के लिए गुरु को सन्तुष्ट रखना अत्यन्त आवश्यक है अतः ब्रह्मचारी के लिए गुरु के कार्यों को सम्पादित करने का भी विधान है जैसे गुरु के पशुओं की देखभाल करना, गुरु के हवन आदि कार्य के लिए समिधा एकत्र करना, तथा निष्ठा के साथ गुरु की अन्य प्रकार से सेवा करना आदि।[१] ब्रह्मचारी के उक्त कर्त्तव्यों का समर्थन कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी किया गया है। कौटिल्य ने भी ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों में वेद का अध्ययन करना, भिक्षावृत्ति से जीवन निर्वाह करना, आचार्य तथा गुरु की सेवा करना, गुरु की अनुपस्थिति में गुरुपुत्र या ज्येष्ठ ब्रह्मचारी की सेवा करना आदि की चर्चा की है।[२]

ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों की चर्चा करते हुए जिस प्रकार उसके लिए करणीय कर्मों का निर्देश दिया गया है उसी प्रकार उसके लिए वर्जनीय कर्मों का भी निर्देश दिया गया है। करणीय कर्मों को उसे करना चाहिए और वर्जनीय कर्मों को उसे नहीं करना चाहिए, यही धर्मशास्त्रों का विधान है। वर्जनीय कर्मों में निम्नलिखित को विशेष महत्त्व दिया गया है—भोजन के सम्बन्ध में उसे मधु और मांस ग्रहण करने का निषेध है। उसी प्रकार गन्ध, माला, रस, स्त्री एवं किसी प्राणी की हिंसा उसके लिए वर्जित है। ब्रह्मचारी के लिए सिर से पैर तक मालिश करना, आँखों में अंजन लगाना, जूता और छाता धारण करना, विषयों की अभिलाषा करना, क्रोध करना, लोभ करना, नाचना—गाना और बजाना, जुआ खेलना, निरर्थक बकवाद करना, दूसरों की निन्दा करना, असत्य बोलना, अनुराग से स्त्रियों की ओर देखना, उनका आलिंगन करना और दूसरों को हानि पहुंचाना वर्जित माना गया है।[३] इसी प्रकार गुरु की निन्दा करना, गुरु की निन्दा सुनना, गुरु

१–अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधःशय्यां गुरोर्हितम्।
आसमावर्तनात्कुर्यात्कृतोपनयनो द्विजः॥ मनु २.१०८

२–कौटिल्य, अर्थशास्त्र १. ३

३–वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान्स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्॥
अभ्यंगमन्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च॥ मनु, २.१७७-१७९,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुत्र के शरीर में उवटन लगाना, स्नान कराना उसका जूठा भोजन करना, उसका पैर धोना तथा गुरु की स्त्रियों को तेल की मालिश करना, उवटन लगाना, उनका बाल झाड़ना या फूल आदि से उनका श्रृंगार करना भी ब्रह्मचारी के लिए वर्जित कर्म माने गए हैं।[1] इस प्रकार मनु के अनुसार ब्रह्मचर्य आश्रम कठोर तप और त्याग का आश्रम है सदाचरण और सच्चरित्रता का पालन करना ब्रह्मचारी की अनुपम साधना है। अपनी इच्छाओं को वश में रखकर धर्म समन्वित कार्य करना ही उसके श्रेष्ठ आचरण का परिचायक है।

मोटवानी का कहना है कि ब्रह्मचर्य आश्रम एक पूर्ण शिक्षा व्यवस्था है और एक पूर्ण शिक्षा व्यवस्था में व्यक्ति के जीवन के सभी पहलुओं का समावेश आवश्यक है। शिक्षा व्यवस्था को चाहिए कि वह मनुष्य की बुद्धि को सुशिक्षित करे उसके अपने कार्यों पर नियमन और नियंत्रण करना तथा इच्छाओं को शुद्ध करना सिखलावे। शिक्षा के ये तीनों पहलू व्यक्ति को समूह की संस्कृति से जोड़ने का काम करते हैं। मनु का कहना है कि शिक्षा का वास्तविक सिद्धान्त समूह और व्यक्ति के अधिकारों का समन्वय करता है। यह मनुष्य के सर्जन शक्ति को जागृत करता है उसके आध्यात्मिक आकांक्षा को संतुष्ट करता है यह उसे आत्मा की ओर बढ़ने में सहायक होता है तथा उसके लिए मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता है।[2]

शिक्षा व्यवस्था

धर्मशास्त्रों की शिक्षा व्यवस्था शिक्षा संस्थाएँ एव शिक्षा प्रणाली आदि का विवेचन ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्तर्गत ही हुआ है। इसलिए विद्यार्थी और ब्रह्मचारी समानार्थक हो गए हैं। ब्रह्मचर्याश्रम मुख्य रूप से विद्याध्ययन ज्ञानार्जन और संयम के लिए था अतः इसका सम्बन्ध उन शिक्षा संस्थाओं, शिक्षा विषयों, शिक्षकों से होना स्वाभाविक है जो इसके अविभाज्य अंग थे। यहाँ पर धर्मशास्त्र कालीन शिक्षा व्यवस्था पर कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है।

१–मनु, २.२००,२०१,२०९,२११

२–मोटवानी, मनु धर्मशास्त्र, पृष्ठ ७४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्मशास्त्रों की शिक्षा व्यवस्था को देखने से ऐसा लगता है कि औपचारिक एवं नियमित शिक्षा का प्रारम्भ उपनयन संस्कार से होता था। उपनयन संस्कार के लिए सामान्य वय ब्राह्मण के लिए आठ वर्ष, क्षत्रिय के लिए ग्यारह वर्ष, वैश्य के लिए बारह वर्ष माना गया है। किन्तु मनु ने उपनयन संस्कार के लिए ब्राह्मण के लिए पाँच, क्षत्रिय के लिए छः और वैश्य के लिए आठ वर्ष के वय का निरूपण भी किया है। मनु ने यह भी व्यवस्था दी है कि ब्राह्मण के लिए सोलह वर्ष, क्षत्रिय के लिए बाईस वर्ष और वैश्य के लिए चौबीस वर्ष के वय तक सावित्री व्रत का उल्लंघन नहीं होना चाहिए।[1] यह वय उपनयन संस्कार के लिए अन्तिम वय है। अर्थात् किसी भी दशा में इस वय का अतिक्रमण नहीं होना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रारम्भिक वय ब्राह्मण के लिए पाँच वर्ष, क्षत्रिय के लिए छः वर्ष और वैश्य के लिए आठ वर्ष तथा अन्तिम वय ब्राह्मण के लिए सोलह वर्ष, क्षत्रिय के लिए बाईस वर्ष और वैश्य के लिए चौबीस वर्ष माना गया है। इस प्रारम्भिक और अन्तिम सीमा के बीच में उपनयन संस्कार अवश्य हो जाना चाहिए। जो लोग इस अवधि के पार करने के बाद भी उपनयन संस्कार से संस्कृत नहीं होते हैं वे सावित्री पतित या 'व्रात्य' कहे जाते हैं। उन्हें समाज में ब्रह्मचर्य आश्रम और सावित्री व्रत का अधिकार नहीं प्राप्त होता है। इसलिए वे पदच्युत और अशुचि समझे जाते हैं। उनके लिए कुछ प्रायश्चित का विधान भी है जिसके द्वारा वह पुनः अपने पद प्रतिष्ठा और शुचिता को प्राप्त हो सकते हैं।

शिक्षा की अनिवार्यता

उपनयन सम्बन्धी नियमों को देखने से यह स्पष्ट होता है कि धर्मशास्त्र काल में द्विजाति के लिए शिक्षा प्राप्त करना अनिवार्य था इसके द्वारा वे अपने नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान के लिए प्रयत्नशील होते थे।

१– ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे॥
आषोडशाद्ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते।
आद्वाविंशात्क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः॥ मनु २.३७-३८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिक्षा से द्विजत्व प्राप्ति

उपनयन संस्कार को ही सावित्रि संस्कार या द्विजत्व संस्कार कहा जाता है, यह एक प्रकार का दूसरा जन्म है। मनु ने यह स्पष्ट किया है कि सावित्री माता है और आचार्य पिता हैं और वेद बटु के मन और आत्मा का नव निर्माण करता है। इसलिए उपनयन संस्कार एक दूसरा जन्म ही है।[१] यह द्विजत्व का संस्कार उपनयन गुरु, व्रत, वेद, यम, नियम, एवं देवता के साथ साक्षात् सम्बन्ध स्थापित करने का मार्ग प्रशस्त करता है।

विद्यार्थी का समपरिधान

उपनयन संस्कार से ब्रह्मचारी विद्यार्थी के ऊपर कुछ परिधान का धारण करना अनिवार्य था जिससे वाह्य रूप से देखते ही यह स्पष्ट हो जाय कि यह ब्रह्मचारी विद्यार्थी है। इसमें मुख्य चार वस्तुएं थीं, अजीन, वास, दण्ड और मेखला। ब्राह्मण ब्रह्मचारी के लिए कृष्ण मृगचर्म, क्षत्रिय ब्रह्मचारी के लिए रोरू मृग का चर्म और वैश्य ब्रह्मचारी के लिए बकरे का चर्म अजीन के रूप में प्रयुक्त होता था। वास के लिए ब्राह्मण को सन, क्षत्रिय के लिए क्षोम और वैश्य के लिए भेड़ के वाल के कपड़े का विधान किया गया था। इसी तरह दण्ड के सम्बन्ध में मनु का कहना है कि ब्राह्मण को बेल या पलाश का दण्ड, क्षत्रिय को बट या खैरे का दण्ड और वैश्य को पीलू या गूलर का दण्ड धारण करना चाहिए। मेखला के सम्बन्ध में भी तीनों वर्ण के लिए अलग-अलग वस्तुओं की मेखला का विधान है। ब्राह्मण के लिए मूञ्ज की मेखला, क्षत्रिय के लिए तांत की मेखला और वैश्य के लिए रस्सी की मेखला बाँधने का विधान किया गया है।[२] इनके अतिरिक्त ब्रह्मचारी के

१—उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान्ब्रह्मदः पिता।
ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम्॥

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजरामरा॥ मनु, २.१४६,१४८.

२—ब्राह्मणो बैल्वपालासौ क्षत्रियो वाटखादिरौ॥
पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः॥

मौञ्जी त्रिवृत्समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला।
क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य शणतान्तवी॥

कार्ष्णरौरववास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः।
वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च॥ मनु, २.४५.४२.४१.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यज्ञोपवीत एवं केश आदि रखने के सम्बन्ध में भी नियम था। ब्राह्मण का यज्ञोपवीत कपास का, क्षत्रिय का सन का और वैश्य का यज्ञोपवीत भेड़ के बाल का बनता था।[1] ब्रह्मचारी को केश भी मनमाने ढंग से रखने का अधिकार नहीं था। या तो वह पूरे शिर का मुण्डन कराता था या सिर के समस्त बाल को जटा के रूप में रखता था।[2]

ब्रह्मचारी के समपरिधान एवं यज्ञोपवीत आदि की प्रतीकात्मक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। ब्राह्मण ब्रह्मचारी को ब्रह्मतेज, शांति और शुचिता प्राप्त करनी होती है इसलिए उसको उन वस्तुओं के वस्त्राभूषण का विधान किया गया है जिससे उसे अपने लक्ष्य प्राप्ति में सहयोग प्राप्त हो सके। क्षत्रिय को शौर्य और क्षामतेज प्राप्त करना होता है तथा वैश्य को सम्पत्ति। इसलिए उनमें आवश्यक क्षमता उत्पन्न करने हेतु भिन्न वस्तुओं के वस्त्रादि का विधान किया गया है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित है कि परिधान आदि के सम्बन्ध में यह उस युग की मुख्य मान्यता रही है। इन वस्त्र और उपकरणों से उस लक्ष्य का क्या सम्बन्ध है? इसका वैज्ञानिक विश्लेषण अभी तक नहीं किया जा सका है। अतः वैज्ञानिक दृष्टिकोंण से इसके सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से कुछ कहना सम्भव नहीं है।

उपनयन संस्कार के उपरान्त सम्यक् सम्परिधान धारण कर लेने के पश्चात् भी कुछ प्रारम्भिक योग्यताओं की परीक्षा ली जाती थी जिससे विद्यार्थी को गुरु अपने संरक्षकत्व में रखने के लिए आवश्यक समझता था।[3] इसके उपरान्त ब्रह्मचारी को, यदि वह प्रारंभिक योग्यता सम्पन्न होता था, तो उसे गुरु अपने संरक्षकत्व में प्रवेश कर लेता था और प्रवेश करने के बाद उसे आवश्यक निर्देश देता था।

१— कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत्।
शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम् ॥ मनु, २.४४

२—आपस्तम्ब सूत्र, १.२.३१-३२

३ आचार्यपुत्रः शुश्रूणुर्ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः।
आप्तः शक्तोऽर्थदः साधुः स्वोऽध्याप्या दश धर्मतः ॥ मनु, २.१०९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्मचारी विद्यार्थी के भोजन के सम्बन्ध में भी नियम और विधान किए गए हैं उसे स्वच्छ सुपाच्य निरामिष भोजन करने का विधान है। मनु ने ब्रह्मचारी के लिए मधु, मांस, सुगन्धित पदार्थ, रसभष्म आदि खाने के लिए वर्जित किया है।[१]

भिक्षाटन

ब्रह्मचारी विद्यार्थी के नियमित कार्यों में भिक्षाटन एक प्रधान कर्त्तव्य था। जब ब्रह्मचारी भिक्षाटन के लिए जाता था तो उसे एक विशेष प्रकार के शब्द से गृहस्वामिनी को सम्बोधित करना होता था। ब्राह्मण ब्रह्मचारी "माता भिक्षा दो"; क्षत्रिय ब्रह्मचारी "भिक्षा माता दो"; तथा वैश्य ब्रह्मचारी "भिक्षा दो माता" शब्द से सम्बोधन करता था।[२] मनु ने स्पष्ट किया है कि ब्रह्मचारी को कहाँ से भिक्षा लेनी चाहिए और कहाँ से भिक्षा नहीं लेनी चाहिए। वेदाध्ययन में तत्पर, पंचमहायज्ञों को विधिवत् सम्पादन करने वाले तथा अपने कर्म में श्रेष्ठ लोगों के घरों से ब्रह्मचारी को भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। किन्तु गुरु के कुल में अपने जाति वालों के घर में तथा कुल और बांधवों के यहाँ ब्रह्मचारी को भिक्षा लेने के लिए नहीं जाना चाहिए। यदि विशेष रूप से निर्धारित घर से भिक्षा प्राप्त करने की सम्भावना न हो तो मौन रूप से गाँव में कहीं से भी भिक्षा ली जा सकती है किन्तु महापातकियों के घर से भिक्षा कभी भी ग्रहण नहीं की जा सकती है।[३]

गुरु सेवा

विद्यार्थी का पूरा जीवन गुरु की सेवा पर आधारित था उसे वही कार्य करना था जिससे गुरु उसपर प्रसन्न रह सके। यह कहा गया है कि ब्रह्मचारी गुरु के यहाँ पुत्रवत्, दासवत् और अनुचरवत् व्यवहार करे तथा गुरु को अग्नि, देव, राजा और स्वामी समझकर उसके प्रति पूर्ण भक्तिभाव से व्यवहार करे। किन्तु यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि गुरु शिष्य

१—वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान्स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥ मनु, २.१७७

२—मातः भिक्षां देहि, भिक्षां मातः देहि, भिक्षां देहि मातः। पारस्कर, धर्मसूत्र, २.५, २-४

३—मनु, २.१८३-१८५,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का यह सम्बन्ध नैतिक और आध्यात्मिक आधार पर आधारित है। क्योंकि यह भी संकेत किया गया है कि यदि गुरु अनुचित कार्य करता है और शिष्य से अनुचित कार्य कराना चाहता है तो शिष्य को चाहिए कि वह उसे एकान्त में इस बात को स्पष्ट रूप से बतला दे कि यह कार्य उचित नहीं है।[१] गौतम ने ऐसे अधर्म के अनुसरण करने वाले गुरु से गुरु-शिष्य सम्बन्ध विच्छेद करने का विधान किया है।[२] अध्ययन, भिक्षाटन और गुरु सेवा के अतिरिक्त ब्रह्मचारी के कुछ और भी कर्तव्य अग्नि, ईंधन और जल से सबंधित थे। विद्यार्थी को प्रतिदिन जंगल से ईंधन लाना होता था और गुरु के घर में निश्चित स्थान पर उसे रखकर अग्नि प्रज्वलित करना होता था। यह कार्य वह सुबह शाम दोनों समय करता था। इसके अतिरिक्त उसे गुरु के उपयोग के लिए नदी, तालाब या कूप से जल भी लाना होता था।[३]

इस प्रकार विद्यार्थी के नियमित कार्य जो उसके गुरु के हित के लिए तथा उसके अपने नैतिक अनुशासित जीवन के लिए था उसमें भिक्षाटन, समिधा, आहरण, जल लाना, यज्ञ से सम्बन्धित उपकरणों को एकत्र करना और दोनों समय अग्नि प्रज्वलित करना आदि प्रमुख हैं।[४]

विद्यार्थी का कार्यक्रम सुबह से सन्ध्या तक का नियमित एवं निर्धारित था और उसे अनेक प्रकार के विधि निषेध का ध्यान रखना पड़ता था जिन कार्यों को करने का उन्हें विधान था उसे ही वह कर सकता था जो कार्य निषिद्ध थे उनसे अपने को बचाना अत्यन्त आवश्यक था। गुरु के सम्मुख बैठने, गुरु को सम्बोधित करने, गुरु से प्रश्न पूछने, अध्ययन आदि के लिए कार्य करने से सम्बन्धित नियम थे उनका पालन करना ब्रह्मचारी के लिए अत्यन्त आवश्यक था।[५]

१—प्रमादान आचार्यस्य रहसि बोधयेत्। आपस्तम्ब, १.२.६.१३,

२—गौतम, ३.१.१५

३—मनु, २.१८६, १८२

४—सवेतेमांस्तु नियमान्ब्रह्मचारी गुरौ वसन्।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्ध्यर्थमात्मनः॥
नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताऽभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च॥ मनु, २.१७५-१७६

५—मनु, २.१९२-१९९,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्ययन विषय

मनु ने ब्रह्मचारी के लिए रहस्य सहित समस्त वेद के अध्ययन को आवश्यक माना है।[१] वेद के ज्ञान की परिपक्वता के लिए षट् अंगों का अध्ययन भी आवश्यक था षट् अंगों में शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष की गणना की गयी है। वेद के रहस्य के रूप में उपनिषदों का अध्ययन भी आवश्यक था। आगे चलकर विद्या के चौदह या अठारह प्रस्थानों का अध्ययन आवश्यक हो गया था। चौदह विद्याओं में पुराण न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त छन्द और ज्योतिष तथा ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद की गणना की जाती थी। अठारह विद्या में उक्त चौदह विद्याओं के साथ आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्वेद तथा अर्थशास्त्र का भी समावेश होता था।[२]

वेदों और उनके शाखाओं के अतिरिक्त अध्ययन के विषयों को राधा कुमुद मुखर्जी ने निम्न प्रकार से वर्गीकरण किया है। अनुशासन—जिसके अन्तर्गत शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष आदि है। विद्या जिसके अन्तर्गत न्यायमीमांसा एवं सर्पविद्या आदि को रखा गया है। वाकोवाक्यम् इतिहास पुराण, आख्यान, अन्वाख्यान, अनुव्याख्यान, व्याख्यान, माला, नरशंसी, ब्राह्मण, क्षत्रविद्या, राशि, नक्षत्र विद्या, भूतविद्या, सर्पविद्या, अथर्वा अंगिरस, दैव, निधि, पितृ, सूत्र, उपनिषद्, श्लोक, वेदों का वेद, एकायन, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, देवज्ञानविद्या और परमज्ञान या पराविद्या।[३]

१—तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः।
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना॥ मनु, २.१६५

२—पुराण न्याय मीमांसा धर्मशास्त्रांग मिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विधानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

अंगानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः।
पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येता चतुर्दश॥

आयुर्वेदो धनर्वेदो गान्धर्वश्चैव ते त्रयः।
अर्थशास्त्रं चतुर्थं तु विद्या ह्यष्टा दशैव ताः॥ विष्णु पुराण, ३.६.२७-२९

३—एन्सियेन्ट इंडियन एजूकेशन, राधा कुमुद मुखर्जी, पृष्ठ १०६.११०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्ययन अवधि

अध्ययन अवधि के सम्बन्ध में भी धर्मशास्त्रों में विचार किया गया है। धर्मसूत्रों के अनुसार प्रत्येक वेद में निष्णात होने के लिए बारह वर्ष का समय आवश्यक माना गया है। मनु का कहना है कि प्रत्येक वेद के अध्ययन के लिए बारह वर्ष का समय अपेक्षित है अतः तीन वेद के लिए छत्तीस वर्ष का समय चाहिए। यदि इतना समय न मिल सके तो अठारह वर्ष या नौ वर्ष की अवधि में दो वेद या एक वेद का अध्ययन तो अवश्य कर लेना चाहिए।[१] इस सम्बन्ध में बोधायन का कहना है कि जीवन कम है और विद्या अधिक है इसलिए तभी तक किसी व्यक्ति को अध्ययन करना चाहिए जब तक कि उसके बाल काले रहते हैं। अर्थात् अध्ययन अवधि को बहुत अधिक बढ़ाना उनके मत में उचित नहीं है। किन्तु अध्ययन अवधि का निर्धारण केवल उनके लिए ही था जो ब्रह्मचर्य जीवन के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहते थे। जो गृहस्थ आश्रम में प्रवेश नहीं करना चाहते थे वे जीवन पर्यन्त ब्रह्मचर्याश्रम में गुरु के पास रहकर शिक्षा ग्रहण कर सकते थे।

अनेक गुरुओं से शिक्षा प्राप्त करना

आपस्तम्ब धर्मसूत्र को देखने से ऐसा लगता है कि ब्रह्मचारी एक गुरु से दूसरे गुरु के यहाँ और दूसरे गुरुओं से तीसरे गुरु के यहाँ जाकर शिक्षा ग्रहण करता था। इस प्रकार के गुरु प्रायः एक-एक वेद के ज्ञाता होते थे और विद्यार्थी को उनसे उस वेद का ज्ञान प्राप्त करना होता था जिस वेद के वे जानकार थे। इस सम्बन्ध में उस गुरु के यहाँ उतने दिन रहने का विधान था जितने दिन में उनसे अपेक्षित ज्ञान वह प्राप्त कर लेता था।[२]

गुरु की योग्यता एवं वर्ग

आपस्तम्ब धर्मसूत्र में अध्यापक की योग्यता के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए कहा गया है कि गुरु को ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जिसके घर में

१—षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्।
तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ॥ मनु, ३.१

२—आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १.२.७.१४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परम्परागत रूप से वेदों का अध्ययन होता रहा हो। जो स्वयं वेदों का भली-भाँति अध्ययन करने वाला हो और जो अध्यापक के लिए निर्धारित नियमों के प्रति आस्था रख सकता हो[१]। मनु ने विभिन्न वर्गों के अध्यापकों की चर्चा की है[२]। उनके अनुसार आचार्य वह है जो शिष्य का यज्ञोपवीत संस्कार कर उसे यज्ञ विद्या तथा रहस्य विद्या के साथ वेदों का अध्यापन कराता है। उपाध्याय—वह अध्यापक है जो वेद के किसी खण्ड को या वेद के अंगों को जीविका के लिए पढ़ाता है। गुरु—वह है जो शास्त्रानुसार गर्भाधान आदि संस्कारों को कराता है तथा अन्न आदि के द्वारा शिष्य का पालन-पोषण भी करता है।[३]

शिक्षा का मुख्य उद्देश्य

ब्रह्मचारी के जीवन को इतना नियमित, संयमित और व्यवस्थित इस लिए रखा जाता था कि ज्ञानार्जन के साथ-साथ उसके चरित्र में दृढ़ता और स्थायित्व का निर्माण हो सके। शिक्षण का उद्देश्य मानसिक परिपक्वता और बौद्धिक निपुणता मात्र न होकर नैतिक उत्थान और चारित्रिक दृढ़ता का विकास था। ब्रह्मचारी के आन्तरिक पवित्रता और चारित्रिक विकास शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य माना जाता था। शिक्षा के इस पहलू का संकेत मनु के इस कथन से भी स्पष्ट होता है कि मनुष्य वेदों का अध्ययन दान, यज्ञ, नियम और तपस्याएँ भले ही कर ले किन्तु यदि उसका स्वभाव दुष्ट है तो उसे सिद्धि नहीं मिल सकती[४]। इससे यह स्पष्ट होता है कि बौद्धिक विकास चारित्रिक विकास के अभाव में शिक्षा के उद्देश्य को

१—आपस्तम्ब, १.१.१.१२-१७,

२—उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
संकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ मनु, २.१४०,

३—एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः ।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते ॥
निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ।
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ॥ मनु, २.१४१-१४२,

४—वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥ मनु, २.९७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूरा करने के वदले अधूरा वना देता है। इसीलिए ब्रह्मचर्य आश्रम में नैतिक आचरण के लिए कहीं विश्राम नहीं था और अनुशासनिक नियम निरन्तर पालनीय थे। विद्यार्थी को अपने दिनचर्या का पालन उसके शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, नैतिक, चारित्रिक एवं आध्यात्मिक व्यक्तित्व के समुचित विकास और पूर्ण समन्वय के लिए आवश्यक था।

ब्रह्मचर्य आश्रम वह समय और गुरु का सान्निध्य ही वह स्थान था जहाँ तप, त्याग, संयम, यम, नियम, सदाचार, सद्व्यवहार के साथ विद्या का अध्ययन कर ब्रह्मचारी अपने को अपने आगे आनेवाले जीवन के दायित्वों के निर्वाह के योग्य बनाता था। इस समय पड़े हुए संस्कार उसके जीवनपर्यन्त रहते थे और वह सम्पूर्ण जीवन में चारित्रिक दृढ़ता के निर्वाह में सक्षम रहता था।

गृहस्थाश्रम

क्रम की दृष्टि से गृहस्थाश्रम द्वितीयाश्रम के रूप में आता है, परन्तु महत्त्व की दृष्टि से इसका प्रथम स्थान है। अन्य सभी आश्रम इसी आश्रम पर आधारित माने गये हैं। मनुस्मृति में कहा गया है कि जिस प्रकार प्राण-वायु का आश्रय लेकर सब प्राणी जीवित रहते हैं, उसी प्रकार गृहस्थ आश्रम का आश्रय लेकर सभी आश्रम (ब्रह्मचर्याश्रम, वानप्रस्थाश्रम तथा सन्यासाश्रम) चलते हैं[1]। धर्मसूत्रों के अनुसार आरम्भ में केवल एक ही आश्रम था वह था गृहस्थाश्रम[2]। पुराणों में प्राप्त कतिपय वर्णनों से ज्ञात होता है कि गृहस्था-श्रम को अन्य आश्रमों का स्त्रोत माना गया था[3]। मनु ने गृहस्थाश्रम को बहुत महत्त्व दिया है। मनु के अनुसार ये चार आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति (सन्यास) गृहस्थ आश्रम से उत्पन्न हुए हैं[4]। यह भी

१—यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥ मनु, ३.७७

२—तेषां गृहस्थो योनिरप्रजनत्वादितरेषाम् ॥ गौ० ध० सू०, ३.३
बौ० ध० सू०, २.६.२६;४२-४३,

३—ब्रह्माण्ड पुराण, २.७.१७२-७३; विष्णु पुराण, ३.९.११; वायु पुराण, ८.१७२

४—ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।
एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः मनु, ६.८७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहा गया है कि जिस प्रकार सभी नदी और नद समुद्र में स्थिति को पाते (मिलते) हैं उसी प्रकार सभी आश्रम वाले (ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और सन्यासी) गृहस्थ में ही स्थिति (भिक्षा लाभादि से आश्रय) को पाते हैं[१]। इस आश्रम में पति और पत्नी एक दूसरे के प्रति संयुक्त होकर धर्म के अनुसार व्यवहार करते हैं[२], इसीलिए इस आश्रम को ज्येष्ठ और श्रेष्ठ दोनों कहा गया है। व्यास जी का कहना है कि गृहस्थ धर्म का अनुसरण करने वाले को अपने गृह में ही कुरुक्षेत्र, नैमिषारण्य, हरिद्वार और केदार तीर्थ की प्राप्ति हो जाती है।[३] गृहस्थ आश्रम की तुलना माता से किया गया है और कहा गया है कि जिस प्रकार माता का आधार पाकर सभी प्राणी जीवित रहते हैं उसी प्रकार गृहस्थाश्रम के आधार से अन्य सभी आश्रम जीवित रहते हैं[४]। गृहस्थ आश्रम में ही देवताओं, पितरों और अतिथियों के लिए आयोजन होता है तथा त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम की पूर्ति होती है[५]।

गृहस्थ की आयु तथा अवधि

मनु ने पच्चीस वर्ष की आयु के बाद ब्रह्मचारी को गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का विधान किया है। यह कहा गया है कि ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रम में तब प्रवेश करे जब वह तीन वेदों का अध्ययन पूरा कर ले, यदि तीन वेदों का अध्ययन न पूरा कर सके तो, दो वेदों का अध्ययन पूरा कर ले, और यदि वह दो वेदों का भी अध्ययन न कर सके तो गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के

१— सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः ।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान्बिभर्ति हि ॥
यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति सस्थितिम् ।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥ मनु, ६.८९-९०,
भगवान दास—द साइन्स आफ सोशल आर्गनाइजेशन पृ० ११-६० खण्ड ३

२—गौतम धर्मसूत्र, ९.१

३—व्यासस्मृति, ४.२-४; १३-१४

४—अत्याश्रमानर्य सर्वानित्याहुर्वेदनिश्चयाः । महाभारत, शांतिपर्व, १२.६,

५—महाभारत, शांति पर्व, १२.१८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए कम से कम एक वेद का अध्ययन पूर्ण करना अनिवार्य है[१]। सामान्यतः पच्चीस पचास वर्ष के बीच का भाग गृहस्थाश्रम में व्यतीत करने का विधान है। पच्चीस वर्ष का समय धनोपार्जन, परिवार के भरण-पोषण, दान-पुण्य तथा अन्य सामाजिक कार्यों के लिए पर्याप्त माना गया है।

गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्य

गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते ही व्यक्ति के जीवन में उत्तरदायित्व और कर्त्तव्यों के प्रति जागरुकता की भावना का उदय होता है। मनु के अनुसार गृहस्थ को सामान्य धर्मों का सेवन करना अत्यन्त पावश्यक है धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, इन्द्रिय-निग्रह, ज्ञान, विद्या, सत्य और क्रोध-त्याग ये दस सामान्य धर्म माने गये हैं। याज्ञवल्क्य भी इस सामान्य धर्म के आचरण को स्वीकार करते हैं[२]। गृहस्थ को अपने परिवार के संचालन में धार्मिक आधार पर अर्थोपार्जन का निर्देश दिया गया है[३]। इस आश्रम के पालन से व्यक्ति धर्म का अर्जन करता है, क्योंकि परलोक में माता-पिता, पुत्र, भार्या और सम्बन्धी नहीं जाते, वह अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है तथा स्वयं ही पाप-पुण्य का फल भोगता है। उसके साथ केवल धर्म ही जाता है अतः परलोक में अपनी सहायता के लिए धर्म का उत्तरोत्तर संचय करना शुभ माना गया है।[४] इस प्रकार इस आश्रम में ज्ञान योग की अपेक्षा कर्मयोग को अधिक प्रधानता मिली है। गृहस्थ के लिए अतिथि सत्कार को बहुत महत्त्व दिया गया है, यदि कोई गृहस्थ किसी अतिथि को असन्तुष्ट लौटा देता है तो उसका सम्पूर्ण पुण्य नष्ट हो जाता है अतः

१—वेदानधीत्य, वेदौ वा वेदंवाऽपि यथाक्रमम्।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत्॥ मनु, ३.२

२—चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः।
दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः॥
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ मनु ६,९१-९२
याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय (गृहस्थधर्म प्रकरण) २२

३— विष्णुपुराण, ३, ६, ८,

४— नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः॥ मनु ४, २३९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतिथि की सेवा करना अनिवार्य माना गया है। मनुस्मृति में केवल अपने लिए ही भोजन बनाना अनुचित माना गया है।[1] जिस गृहस्थ के घर में शक्ति के अनुसार आसन, भोजन, शैय्या, जल, फल-फूल से अतिथि की पूजा नहीं होती, वहाँ कोई अतिथि निवास नहीं करता।[2] किन्तु इसके साथ ही साथ मनु ने पाखण्डी, विरुद्धकर्मी, शठ, हेतुवादी, बकवृत्ति जैसे अतिथियों की सेवा न करने का भी निर्देश दिया है।[3] इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्मशास्त्रों में गृहस्थ जीवन को श्रेयस्कट माना गया है। सदाचार, सच्चरित्रता, पवित्रता, सदायशता आदि गृहस्थ के आदर्श आचरण के रूप में स्वीकार हैं।

ऋणों से मुक्ति

गृहस्थाश्रम के अन्तर्गत व्यक्ति कई ऋणों से मुक्ति प्राप्त करता है। धर्मशास्त्रों में तीन ऋणों की चर्चा है-देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण। मनु ने गृहस्थ को यह निर्देश दिया कि वह उक्त तीन ऋणों को पूर्ण रूप से चुका कर मन को मोक्ष में लगावे। बिना इन ऋणों को चुकाए व्यक्ति नरक में जाता है। इन ऋणों के चुकाने की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि विधिपूर्वक वेदों को पढ़कर धर्मानुसार पुत्रों को उत्पन्न कर और शक्ति के अनुसार यज्ञों का अनुष्ठान कर, गृहस्थ ऋणों से मुक्त होता है।[4] वेदों का अध्ययन किये बिना पुत्रों को उत्पन्न किये बिना, यज्ञों का अनुष्ठान किये बिना अर्थात् तीनों ऋणों को पूर्णरूप से चुकाए बिना मोक्ष का इच्छुक व्यक्ति नरक प्राप्त करता है।[5] मनु और याज्ञवल्क्य दोनों

१— अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्।
यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते॥ मनु ३, ११८

२— आसनाशनशय्याभिरद्भिर्मूलफलेन वा।
नास्य कश्चिद्वसेद् गेहे शक्तितोऽनर्चितोऽतिथिः॥ मनु ४, २९

३— पाषण्डिनो विकर्मस्थान्वैडालव्रतिकाञ्छठान्।
हैतुकान्बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्॥ मनु ४, ३०

४— ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः॥
अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्॥ मनु ६, ३५, ३६

५— अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान्।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन्व्रजत्यधः॥ मनु ६, ३७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के मत में यम और नियम दोनों का पालन गृहस्थ के लिए आवश्यक है [१]

सामान्यतया यम के अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, तथा ब्रह्मचर्य को एवं नियम के अन्तर्गत शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्राणिधान को लिया जाता है।[२] किन्तु कुल्लूक ने अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य अकल्कता एवं अस्तेय को यम माना है। अक्रोध, गुरुसेवा, अल्पाहार तथा अप्रमाद को नियम माना है। याज्ञवल्क्य ने ब्रह्मचर्य, दया, क्षान्ति, ध्यान, सत्य, अकल्कता, अहिंसा, अस्तेय, माधुर्य और दम इनको यम कहा है, स्नान, मौन, उपवास, इज्या, स्वाध्याय, उपस्थनिग्रह, गुरुसेवा, शौच, अक्रोध और अप्रमाद को नियम माना है।[३] मनुस्मृति के क्षेपक अंश में अनृशंस्य, क्षमा, सत्य, अहिंसा, दम, अस्पृहा, ध्यान, प्रसाद, माधुर्य और आर्जव ये दस "यम" माने गए हैं। अहिंसा, सत्य वचन, ब्रह्मचर्य, आकल्कता, अस्तेय को यम और उपव्रत माना गया है। शौच इज्या, तप, दान, स्वाध्याय, उपस्थनिग्रह व्रत उपवास, मौन तथा स्नान ये दस नियम हैं। किन्तु अक्रोध, गुरुसेवा, शौच, अल्पाहार ये पाँच नियम और उपव्रत हैं।[४]

पंच महायज्ञ

गृहस्थ के लिए पञ्च महायज्ञों का अनुष्ठान आवश्यक माना गया है। इन यज्ञों के अनुष्ठान से व्यक्ति लौकिक और पारलौकिक दोनों जीवन को सुखी बनाता है। पंचमहायज्ञ (ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, नृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ) का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण,[५] तत्तिरीय आरण्यक[६] तथा वृहदारण्यकोपनिषद[७] आदि में मिलता है। इसकी व्याख्या करते हुये बतलाया गया है कि भूतों को (पशु-पक्षियों को) बलि (भोजन) देना भूतयज्ञ है। अतिथि को भोजन देना नृतज्ञ है। पितरों के लिए श्राद्ध करना पितृयज्ञ है।

१— यमान्सेवेत सततं न नित्यं नियमान्बुधः।
यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान्भजन्॥ मनु ४, २०४

२— पतञ्जलि योगसूत्र, २, ३०, ३२

३— याज्ञवल्क्य, प्रायश्चिताध्याय, ३१२, ३१३

४— मनु, क्षेपक ४, २०४ के बाद १० से १३ तक।

५— शतपथ ब्राह्मण, ११ ५.६.१

६— तैत्तिरीयआरण्यक, २.१०

७— वृहदारण्यकोपनिषद्, १.४.२६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अग्नि में समिधा छोड़ना देवयज्ञ है। तथा स्वाध्याय करना ब्रह्मयज्ञ है। इनका कारण यह बताया गया है कि गृहस्थ के यहाँ चूल्हा चक्की, झाड़ू, ओखली और जल के घड़ों का स्थान, ये पाँच पाप के स्थान माने गये हैं।[1] इन पाँचों पापों से छुटकारा पाने के लिए ही मनु ने गृहस्थ को पञ्च महायज्ञों के प्रतिदिन अनुष्ठान का आदेश दिया है। इसका तात्पर्य यह है कि गृहस्थ जीवन में अनेक स्थल ऐसे हैं जहां विभिन्न प्रणियों का वध एवं अनिष्ट हो जाता है। अपने जीवन में इन अपरिहार्य पापों का निवारण वह इन यज्ञों के अनुष्ठान द्वारा करता है। इन यज्ञो के द्वारा ऐहिकता और पारलौकिकता, पिण्ड और ब्रह्माण्ड, व्यक्ति और समाज के बीच अक्षुण्ण सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया गया है। इन यज्ञों में नृ यज्ञ या अतिथि सत्कार का सामाजिक एवं नैतिक दृष्टि से बहुत ही अधिक महत्त्व है। अतिथि के सत्कार के लिए उसके जाति, वंश आदि की जानकारी आवश्यक नहीं मानी गयी है, उसे देव तुल्य समझकर उसके सत्कार का विधान किया गया है।[2] इससे यह स्पष्ट है कि धर्मशास्त्रों की सामाजिक व्यवस्था में कोई व्यक्ति कहीं किसी ग्राम या नगर में अपने पास द्रव्य न रहने पर भी भूखा नहीं रह सकता है।

पञ्च महायज्ञों के विधान में गृहस्थ को प्रत्येक दृष्टि से उन्नतिशील बनाने का प्रयास किया गया है। नैतिक और धार्मिक धरातल पर स्थित ये पञ्च महायज्ञ जीवन के सांस्कृतिक पक्ष को विकसित करने वाले माने गये है। गृहस्थ को पञ्च महायज्ञों का अनुष्ठान इस उद्देश्य से करने के लिए कहा गया है कि वह अपने परिवार संस्कृति एवं धर्म के प्रति जागरूक रहे तथा उसमें अपना उचित योगदान करे। इन पञ्च महायज्ञों से एक ओर तो वह अपने को तीनों ऋणों से मुक्त करता है और दूसरी ओर लोक कल्याण और लोक संग्रह के साथ अपने अध्यात्म का मार्ग प्रशस्त करता है।

गृहस्थाश्रम में जब व्यक्ति जीवन के सर्व साधारण सुखों का तथा ऐश्वर्यों का संयमित उपभोग करके निवृत्त हो जाता है तब उसे वान-प्रस्थाश्रम में प्रवेश करना होता है। वानप्रस्थाश्रम, गृहस्थ और सन्यास के

१ - मनु, ३.६८,७०, ७१
२— बौधायन गृहसूत्र, २.९.२१
आपस्तम्ब धर्मसूत्र, २.४.९.५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मध्य की सीढ़ी है अतः व्यक्ति गृहस्थ आश्रम के बन्धनों को छोड़कर धीरे-धीरे तप और आत्मसंयम के मार्ग से सर्वस्व त्याग की ओर बढ़ता है।

वानप्रस्थ आश्रम

तृतीय आश्रम वानप्रस्थ आश्रम कहलाता है। मनु ने वानप्रस्थ आश्रम में रहने वाले को वैखानस शास्त्र के मत के अनुसार जीवन निर्वाह करने का निर्देश दिया है।[१] कालिदास ने कर्ण ऋषि के आश्रम में रहती हुई शकुन्तला के जीवन को भी वैखानस व्रत कहा है।[२] महाभारत के अनुसार वैखानसों का विचार यह है कि धन के पीछे पड़ने की अपेक्षा धन एकत्र करने की इच्छा न करना अधिक श्रेयस्कर है।[३] मिताक्षरा में वानप्रस्थ की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि वन में जो अधिकता से और नियम से रहता है, जीवन निर्वाह करता है वह वानप्रस्थ है और वनप्रस्थ को ही वानप्रस्थ कहते हैं। जो वनप्रस्थ की वृत्ति भविष्य में ग्रहण करना चाहता है उसे भी वानप्रस्थ कहा गया है।[४] इससे यह लगता है कि वानप्रस्थ और वैखानस दोनों में समानता है। प्राचीन काल में सम्भवतः वानप्रस्थ के लिए वैखानस शब्द का प्रयोग हुआ है। ऋग्-अनुक्रमणी में सौ वैखानस ऋग्वेद ९, ६६ के ऋषि कहे गए हैं और ऋग्वेद १०, ९९ के ऋषि वम्र वैखानस। लगता है कि अति प्राचीन काल में वैखानस शास्त्र नामक कोई ग्रन्थ था जिसमें वन के मुनियों के विषय में नियम लिखे गए थे।[५] गौतम ने वानप्रस्थ आश्रम के लिए वैखानस शब्द का प्रयोग किया है। बोधायन धर्मसूत्र में भी उसीको वानप्रस्थ माना है जो वैखानस शास्त्र से अनुमोदित नियमों का पालन करता है।[६] स्मृतियों में स्पष्ट रूप से वानप्रस्थ शब्द का प्रयोग तृतीय आश्रम के लिए हुआ है। वानप्रस्थ आश्रम यद्यपि तीसरा आश्रम है फिर भी इस

१—पुष्पमूलफलैर्वाऽपि केवलैर्वर्तयेत्सदा ।
कालपक्वैः स्वयंशीर्णैर्वैखानसमते स्थितः ॥ मनु, ६.२१

२—शाकुन्तलम्, १.२७

३—महाभारत, शांतिपर्व, २०.६ एव २६.६

४—मिताक्षरा याज्ञवल्क्य, प्रायश्चिताध्याय ४५

५—पी० वी० काणे, प्रथम भाग, पृष्ठ ४८२

६—बौधायन धर्मसूत्र, २.६.१९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्बन्ध में धर्मशास्त्रों में मतभेद है । धर्मशास्त्रों में आश्रमों को लेकर यह प्रश्न उठाया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए चारो आश्रमों का पालन करना अनिवार्य है अथवा नहीं । इस सम्बन्ध में जावाल का मत है कि ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थ आश्रम, गृहस्थ आश्रम के बाद वानप्रस्थ और वानप्रस्थ के बाद सन्यास यह क्रम ही संगत है। दूसरे लोगों का मत है ब्रह्मचर्य के बाद सीधे सन्यास लिया जा सकता है और तीसरा मत यह है कि गृहस्थ के बाद सीधे सन्यास लिया जा सकता है ।[1]

वानप्रस्थ में प्रवेश के लिए शारीरिक, पारिवारिक परिस्थिति तथा उम्र आदि के सम्बन्ध में धर्मशास्त्रों में मतभेद दीखता है। मनु का कहना है कि जब व्यक्ति के सिर के बाल सफेद हो जाँय, शरीर पर झुरियां पड़ने लग जाँय और उसके लड़के को लडका हो जाय तब उसे वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिए[2] । इस सम्बन्ध में टीकाकारों में मतभेद है, कुछ टीकाकार यह मानते हैं कि तीनों अवस्थाओं के (अर्थात् झुरियां, केश पक जाना और पौत्र का उत्पन्न हो जाना) पूर्ण होने पर ही वानप्रस्थ लेना चाहिए। कुछ के मत में इन तीनों में से एक की भी पूर्ति हो जाने पर वानप्रस्थ को स्वीकार करने का विधान है। अन्य इस मत के हैं कि पचास वर्ष की अवस्था प्राप्त हो जाने पर वानप्रस्थ ले लेना चाहिए । इस सम्वन्ध में कुल्लूक ने पचास पर्ष की अवस्था के समर्थन में एक स्मृति का उद्धरण भी दिया है[3] ।

वानप्रस्थ में प्रवेश के सम्बन्ध में तृतीय विवादास्पद प्रश्न यह है कि वानप्रस्थ में प्रवेश करने वाला व्यक्ति अपनी पत्नी के साथ वानप्रस्थ में प्रवेश करे या पत्नी को घर पर छोड़कर वानप्रस्थ में प्रवेश करे ? इस सम्बन्ध में मनु ने वानप्रस्थी और उसकी पत्नी, इन दोनों की इच्छा को

ब्राह्मचर्य परिसमाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत् ।
यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा' इति

१—याज्ञवल्क्य स्मृति, मिताक्षरा, प्रायश्चिताध्याय ५६

२—गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलिपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदाऽरण्यं समाश्रयेत् ।। मनु, ६.२

३—पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ ४८३ कुल्लूक मनु, ३.५० वनं पञ्चाशतो व्रजेत् ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेष महत्त्व दिया है। उनका कहना है कि वानप्रस्थ आश्रम में जाने के पहले ग्राम्य आहार तथा गाय, घोड़ा, हाथी, शैय्या आदि गृह सम्पत्ति को छोड़ना पड़ता है। ऐसी स्थिति में यदि पत्नी इन सबको परित्याग करने वाले पति के साथ रहना चाहती है तब तो उसे लेकर पति को वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना चाहिए, अन्यथा पत्नी को पुत्रों की देखरेख में सौंप कर वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिए[1]। इस विकल्प का समर्थन महाभारत में भी किया गया है[2]।

वानप्रस्थ के लिए यह विधान है कि यह तीनों वैदिक अग्नियों, गृहअग्नि तथा यज्ञ में काम आनेवाले पात्रों को साथ लेकर जंगल में जाय और वहाँ जितेन्द्रिय होकर निवास करे[3]। उसके लिए यह भी विधान है कि वह पञ्चमहायज्ञों को विधि पूर्वक करे। किन्तु इन महायज्ञों के लिए अनेक प्रकार के मुनिअन्न (निवार आदि) अथवा शाक, मूल और फल आदि का प्रयोग करे। इससे यह स्पष्ट होता है कि मनु के मत में वानप्रस्थ को गाँव वाला भोजन तथा अन्य सुख सुविधाओं का उपयोग नहीं करना चाहिए। उसे फूल, फल, कन्द, मूल, नीवार, श्यामाक, आदि अनाजों पर भी निर्भर रहना चाहिए। साथ ही साथ उसे मधु, मांस पृथिवी पर उगने वाले कुकुरमुत्ता, भूस्तृण, शिगृक तथा श्लेषातक फल का सेवन नहीं करना चाहिए[4]। याज्ञवल्क्य का कहना है कि वानप्रस्थ को बिना जोती हुई भूमि

१—सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम्।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ।। मनु, ६.३
याज्ञवल्क्य स्मृति, प्रायश्चिताध्याय ४५

२—जटाधरण संस्कारं द्विजातित्वमवाप्य च ।
आधानादीनि कर्माणि प्राप्य वेदमधीत्य च ।
सदारो वा प्यदारो वा आत्म वान्सं यतेन्द्रियः
वानप्रस्थाश्रमं गच्छेत कृतकृत्यो गृहाश्रमात्। महाभारत शांतिपर्व ६१.३.४

३—अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदं।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ।। मनु, ६.४

४—मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा ।
एतानेव महायज्ञान्निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ।।
वर्जयेन्मधु मांसं च भौमानि कवकानि च ।
भूस्तृणं शिग्रुकं चैव श्लेष्मातकफलानि च। मनु, ६.५,१४,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर स्वयं उत्पन्न (नीवार, वैणु, श्यामाक आदि) अन्न से अग्नियों पितरों अतिथियों एवं सेवकों को तृप्त करते हुए अपने शरीर पर दाढ़ी, मूँछ, जटा, और अन्य बालों को रखते हुए आत्म उपासना में रत रहना चाहिए। मनु और याज्ञवल्क्य दोनों ने वानप्रस्थ के लिए अन्य वानप्रस्थ आश्रमों के यहाँ से भिक्षा माँगकर जीवन निर्वाह करने का भी निर्देश दिया है। इसके अभाव होने पर वन में रहने वाले अन्य द्विजातियों के यहाँ से भी वह भिक्षा माँग सकता है[२]।

वानप्रस्थ के लिए प्रतिदिन पञ्च महायज्ञ करने का निर्देश दिया गया है। इन पञ्च महायज्ञों में देव, ऋषि, पितर, अतिथि एवं प्राणी सभीको योग्य भोजन देने का विधान है। इनके सत्कार के लिए उसे कन्द, मूल, फल तथा वनस्पति आदि को अर्पण करना चाहिए[३]।

मनु ने वानप्रस्थ आश्रमी के लिए मृगचर्म, पेड़ों के छाल पहनने, सायंकाल तथा प्रातः काल स्नान करने एवं दाढ़ी-मूँछ रखने का विधान किया है[४]। याज्ञवल्क्य का कहना है कि अपने निर्वाह के लिए वह एक दिन, एक मास, छः मास या वर्षभर के लिए धन का संचय भी कर सकता है किन्तु यदि वर्ष के अन्त में उसके खर्च से कुछ शेष बच जाता है तो उसका त्याग उसे आश्विन महीने में कर देना चाहिए। याज्ञवल्क्य के अनुसार उसे दर्परहित होकर रात मध्याह्न और सायं तीन बार स्नान करना चाहिए। स्वाध्याय में लगा रहना चाहिए। दान नहीं लेना चाहिए। स्वयं दान देना चाहिए और सदा सब प्राणियों के हित में रत रहना चाहिए। उसे सदा वेदाध्ययन करना चाहिए और वेदों में श्रद्धा रखनी चाहिए[४]। उसे संयमी, आत्मनिग्रही, हितैषी, सचेत तथा सदय (उदार) होना चाहिए कुल्लूक ने यह

१—तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्षमाहरेत्।
गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु ॥ मनु ६.२७
याज्ञवल्क्य प्रायश्चिताध्याय ५४

२—मनु, ६.५

३—वसीत चर्म चीरं वा सायं स्नायात्प्रगे तथा।
जटाश्च बिभृयान्नित्यं श्मश्रुलोमनखानि च ॥ मनु ६.६

४—याज्ञवल्क्य प्रायश्चिताध्याय ४७.४८;
त्यजेदाश्वयुजे मासि मुन्यन्नं पुर्वसञ्चितम्।
जीर्णानि चैव वासांसि शाकमूलफलानि च ॥ मनु, ६.१५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मत व्यक्त किया है कि वानप्रस्थ आश्रमी यदि पत्नी के साथ वन में रहता हो तो वह निर्धारित काल में पत्नी के साथ सम्पर्क भी कर सकता है। किन्तु अन्य लोग इस मत को भ्रामक मानते हैं। उनके अनुसार मनु वानप्रस्थ आश्रमी के लिए सुख-साधनों को छोड़ने, ब्रह्मचारी रहने, भूमि पर शयन करने, निवास स्थान में ममत्व रहित होने, पेड़ों के मूल को निवास स्थान समझकर निवास करने का विधान करते हैं। याज्ञवल्क्य ने भी इसका समर्थन किया है इससे लगता है कि उसे किसी भी दशा में पत्नी के साथ संसर्ग स्थापित नहीं करना चाहिए[1]।

वानप्रस्थ के लिए यह भी निर्देश दिया गया है कि वह वन में अन्न को पकाकर या जो फल स्वयं पक जाते हैं, उन्हें खा सकता है अथवा अन्न को पत्थरों से कुचल कर या अपने दांतों से चबाकर खा सकता है। वह अपने भोजन तथा धार्मिक कृत्यों में घी का प्रयोग भी कर सकता है। किन्तु वह केवल वन में ही उत्पन्न होने वाले तेल का प्रयोग कर सकता है।[2] उसके लिए यह भी विधान है कि वह रात में या दिन में केवल एक बार ही भोजन करे या एक दिन, दो दिन या तीन दिन के अन्तर पर भोजन करे। उसके लिए चन्द्रायण व्रत करने तथा अपने सामर्थ्य के अनुसार उपवास करने का भी विधान किया गया है।[3]

मनु और याज्ञवल्वल दोनों ने वानप्रस्थ आश्रमी के लिए अनेक प्रकार के शारीरिक कष्ट सहने का विधान किया है जैसे-उसे पञ्चाग्नि में खड़े रहना चाहिए, वर्षाकाल में बाहर भीगते रहना चाहिए तथा अनेक प्रकार से कष्ट देने वाले तपस्याओं को करते रहना चाहिए।[4] रात्रि में उसे

१—अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः।
शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः॥ मनु, ६.२६
याज्ञवल्क्य प्रायश्चिताध्याय, ४५

२—अग्निपक्वाशनो वा स्यात्कालपक्वभुगेव वा।
अश्मकुट्टो भवेद्वाऽपि दन्तोलूखलिकोऽपि वा॥ मनु, ६.१७
याज्ञवल्क्य, प्रायश्चिताध्याय ४६

३—मनु, ६.३१; ११.२१६

४—ग्रीष्मे पञ्चतपास्तु स्याद्वर्षास्वभ्रावकाशिकः।
आर्द्रवासास्तु हेमन्ते क्रमशो वर्धयंस्तपः॥
उपस्पृशंस्त्रिषवणं पितॄन्देवांश्च तर्पयेत्।
तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद् देहमात्मनः॥ मनु, ६.२३,२४
याज्ञवल्क्य, प्रायश्चिताध्याय, ५२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पृथिवी पर शयन करना चाहिए तथा जागरण की दशा में बैठकर या चलते हुए योगाभ्यास करते हुए समय बिताना चाहिए असे आनन्द देने वाली वस्तुओं के सेवन से दूर रहना चाहिए।[१] उसे अपने शरीर की पवित्रता, ज्ञान वर्धन एवं मोक्ष प्राप्ति के लिए उपनिषदों के पाठ आदि में सदा रत रहना चाहिए।[२]

यदि वानप्रस्थ आश्रमी किसी असाध्य रोग से पीड़ित हो जाए और कर्त्तव्यों का सम्यक पालन न कर पाता हो और अपने मृत्यु को सन्निकट समझता हो तो उसे उत्तर पूर्व की ओर मुँह करके महाप्रस्थान कर देना चाहिए। और केवल जल एवं वायु पर तब तक रहना चाहिए जब तक उसका अन्त न हो जाय।[३]

वानप्रस्थ के प्रकार

वानप्रस्थों के अनेक प्रकार बतलाए गए हैं। प्रथम भेद इस आधार पर किया गया है कि वानप्रस्थ भोजन किस प्रकार करता है अर्थात् जो वानप्रस्थ भोजन पकाकर करता है वह पचमानक कहलाता है और जो बिना पका हुआ भोजन करता है वह अपचमानक वानप्रस्थ कहलाता है। पचमानक के भेदों में सर्वारण्यक और वैतुषिक प्रमुख हैं। जो लोग केवल फलों, कन्द-मूलों अथवा केवल फलों पर या केवल शाक पर निर्वाह करते हैं वे सर्वारण्यक या वैतुषिक कहलाते हैं। इनमें सर्वारण्यक के दो भेद किए गए हैं। इन्द्रावसिक्त और रेतोवसिक्त। इन्द्रावसिक्त वे हैं जो लता, गुल्म आदि लाकर पकाते हैं उससे अग्निहोत्र करते हैं और उसे अतिथि को समर्पित कर स्वयं खाते हैं। रेतोवसिक्त वे हैं जो व्याघ्र, भेड़िए या बाज के द्वारा मारे गए पशुओं का मांस लाते हैं उसे पकाकर अग्नि को चढ़ाते हैं और उसके बाद स्वयं खाते हैं। अपचमानक के भेदों में उन्मज्जक, प्रवृत्ताशिन, मुखेनादायिनः, तौयाहार और वायुमक्ष है। "उन्मज्वक" वे वानप्रस्थ

१—भूमो विपरिवर्तेत तिष्ठेद्वा प्र वदैर्दिनम्।
स्थानासनाभ्या विहरेत्सवनेषूपतन्नपः॥
अप्रत्नतः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः।
शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः॥ मनु, ६.२२,२६
याज्ञवल्क्य, प्रायश्चिताध्याय, ५१

२—मनु, ६.२९,३०;

३—मनु, ६.३१; याज्ञवल्क्य, प्रायश्चिताध्याय, ५५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं जो भोजन रखने के लिए लोहे का या पत्थर का साधन नहीं रखते हैं। "प्रवृत्ताशिन" वे वानप्रस्थ हैं जो विना पात्र लिए केवल हाथ में ही लेकर खा लेते हैं। "मुखेनादायिन" वे वानप्रस्थ हैं जो हाथ के प्रयोग किए बिना पशुओं की भांति केवल मुँह से खाते हैं। "तोयाहार" केवल जल पीकर रहते हैं तथा "वायुमक्ष" पूर्ण रूप से उपवास करते हैं।[1]

वानप्रस्थीका उद्देश्य

वानप्रस्थी का उद्देश्य पारिवारिक सम्बन्धों से ऊपर उठकर जन साधारण के हित चिन्तन में लगना तथा समाज कल्याण में पवृत्त होना है। सत्य की खोज और आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति ही वानप्रस्थी का प्रमुख उद्देश्य है। मुखर्जी के शब्दों में सत्य और ज्ञान की खोज ही उसके जीवन का उद्देश्य होता था और जन सेवा उसके जीवन का व्रत।[2] यह आश्रम गृहस्थ और सन्यास के बीच सम्बन्ध जोड़ने वाली कड़ी का काम करता है। गृहस्थ आश्रम में अनेक राग द्वेष का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। परिवार, धन सम्पत्ति पुत्र पौत्रादि के प्रति आसक्ति और लगाव इतना दृढ़ रहता है कि इसे सहसा छोड़ना सम्भव नहीं। इसलिए सन्यास के पूर्व वानप्रस्थ का विधान किया गया है। वानप्रस्थ में व्यक्ति सन्यास के लिए आवश्यक यम, नियम व्रत आदि की साधना से अपने को सक्षम बनाता है जिससे सन्यास आश्रम में वह पूर्ण वीतराग का जीवन व्यतीत कर सके। दूसरी ओर यह आश्रम गृहस्थाश्रम के अनेक कार्यो से सम्बद्ध रहता है। वानप्रस्थी को पञ्चमहायज्ञ, अतिथि सत्कार आदि गृहस्थ के कर्त्तव्यों का पालन करना होता है। साथ ही साथ वानप्रस्थी अपने परिवार के सम्बन्ध से अत्यन्त विच्छिन्न भी नहीं हो जाता है। कहीं-कहीं तो वह अपने पत्नी के साथ भी रहता है और कहीं अकेले। उसके पुत्र पौत्रादि को भी यह पूरी जानकारी रहती है कि उनके पिता या पितामह अमुक स्थल पर व्रती वानप्रस्थी का जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

यह आश्रम स्वार्थ से परार्थ की ओर जाने का अभ्यास है। पूर्ण स्वार्थ से, पूर्ण परार्थ की ओर सहसा जाना सम्भव नहीं है। गृहस्थाश्रम जो स्वार्थ का साधन है और सन्यास पूर्ण परार्थ का। यह आश्रम स्वार्थ छोड़ने और परार्थ की ओर अग्रसर होने का अवसर प्रदान करता है। यह आश्रम

१—पी० बी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ ४८५-८६।

२—रविन्द्रनाथ मुखर्जी, भारतीय सामाजिक संस्थाएं, पृष्ठ ७४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लौकिकता या आध्यात्मिकता की और जाने का मार्ग प्रशस्त करता है अतः इसमें गृहस्थ और सन्यास दोनो के कर्त्तव्यों का मिश्रण दीख पड़ता है।

सन्यास आश्रम

सन्यासीके लिए भिक्षु, यति, परिव्राट तथा परिव्राजक आदि शब्दों का भी प्रयोग होता है।[१] आश्रमों में सन्यास अन्तिम या चतुर्थ आश्रम माना गया है। किन्तु इस सम्बन्ध में यह विवाद उठाया गया है कि क्या सन्यास आश्रम में प्रवेश करने के पूर्व तीनों आश्रम में रहना अनिवार्य है ? इस प्रश्न के सम्बन्ध में वानप्रस्थ आश्रम के प्रसंग में चर्चा की जा चुकी है। वहाँ यह स्पष्ट किया जा चुका है कि कुछ लोगों का मत है कि ब्रह्मचर्य के बाद सीधे सन्यास लिया जा सकता है। दूसरा मत यह है कि ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थ और गृहस्थ के बाद सन्यास लिया जा सकता है। तीसरा मत यह है कि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ के बाद ही सन्यास लिया जा सकता है।[२] दूसरी ओर कुछ उपनिषदों को देखने से ऐसा लगता है कि उनके मत में केवल तीन ही आश्रम मान्य हैं।ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ।[३] किन्तु सामान्यतया धर्मशास्त्रों की आश्रम प्रक्रिया को देखने से लगता है कि उन्हें चारो आश्रम मान्य हैं और सन्तास चतुर्थ आश्रम है।[४]

मनु तथा याज्ञवल्क्य यह मानते हैं कि सन्यास आश्रम ग्रहण करने वाले व्यक्ति को प्रजापति के लिए यज्ञ करना चाहिए और अपनी सम्पूर्ण संपत्ति पुरोहित, दरिद्रों एवं असहायों में बाँट देनी चाहिए[५]। नरसिंह पुराण में सन्यास आश्रम में प्रविष्ट होने के पूर्व आठ प्रकार के श्राद्ध करने

१—गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थो धमिक्षणः। वायु पुराण, ५६.२५,
राागिणां च विरागाणांयतीनां ब्रह्मचारिणाम् ॥ ,, १०४.१२
परिव्राजकः सर्वभूताभवदक्षिणांदत्वाप्रतिष्ठेत्। बौ० ध० सू०, १०.१

२—याज्ञवल्क्य, मिताक्षरा, प्रायश्चिताध्याय ५६ ५७

३—छान्दोग्योपनिषद्, २.२३.१

४—वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः !
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान्परिव्रजेत् ॥ मनु, ६.३३
गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थो यतिस्तथा। मत्स्य पुराण, ४०.२.५,

५—प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ॥ मनु, ६.३८
याज्ञवल्क्य, प्रायश्चिताध्याय ५६,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का विधान है आठ प्रकार के श्राद्धये है-देवश्राद्ध (वसुओं, रुद्रों एवं आदित्यों को), आर्षश्राद्ध (मरीचि आदि दस ऋषियों को), दिव्यश्राद्ध (हिरण्यगर्भ एवं वैराज को), मानुषश्राद्ध (सनक, सनन्दन आदि को भौतिकश्राद्ध (पञ्चभूतों, पृथ्वी आदि को), पैतृकश्राद्ध (कव्यवाह अग्नि सोम आदि पितरों को), मातृश्राद्ध (गौरी पद्मादि दस माताओं को तथा आत्मश्राद्ध (परमात्मा) को)[1]।

मनु ने यह स्पष्ट किया है कि वेदाध्ययन, सन्तानोत्पत्ति एवं यज्ञो के उपरान्त देव ऋण, ऋषि ऋण एवं पितृ ऋण से मुक्त हो जाने के बाद मोक्ष की चिन्ता करनी चाहिए। मनु ने यह भी स्पष्ट किया है कि जो द्विज विना वेद का अध्ययन किए, बिना पुत्रों को उत्पन्न किये और विना यज्ञां का अनुष्ठान किए सन्यास आश्रम में प्रवेश कर लेता है उसकी अधोगति होती है[2]। इसलिए अपने वय के तीसरे भाग को वानप्रस्थ में बिताकर परिव्राजक बनना चाहिए[3]। इससे यह स्पष्ट होता है कि अपने उम्र के पचहत्तरवें वर्ष में सन्यास लेने का समर्थन किया गया है। कुछ लोगों का मत है कि सत्तर वर्ष के बाद ही सन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए[4]।

सन्यास समस्त परित्याग का जीवन है इसलिए सन्यासी अपना घर, पत्नी, पुत्रों एवं सम्पत्ति का त्याग कर इस आश्रम में प्रवेश करता है। उसके लिए गाँव से बाहर रहने का विधान है तथा रात्रि आदि में पेड़ों के नीचे या परित्यक्त घर में रहने का निर्देश दिया गया है। उसे यह भी निर्देश दिया गया है कि वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर चलता रहे। वह केवल वर्षा

१--पी० वी० काणे, प्रथम भाग पृष्ठ ४९१

२--ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः॥
अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्॥
अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान्।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन्व्रजत्यधः॥ मनु, ६.३५-३७

३--मनु, ६.३३

४--सप्तत्या ऊर्ध्वं सन्यासमुपदिशन्ति। बौ० ध० सू०, २.१०.६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के मौसम में ही एक स्थान पर ठहर सकता है[1]। मिताक्षरा में उद्धृत शंख के वचन से पता चलता है कि सन्यासी वर्षा ऋतु में एक स्थान पर केवल दो मास तक रुक सकता है[2]।

धर्मशास्त्रों का कहना है कि सन्यासी को सदा अकेले घुमते रहना चाहिए अन्यथा वह मोह और विछोह से पीड़ित हो सकता है। दक्ष का मत है कि वास्तविक सन्यासी अकेला रहता है जब दो एक साथ टिकते हैं तो दोनों एक जोड़ा हो जाते हैं, जब तीन साथ टिकते हैं तो ग्राम के समान हो जाते हैं। जब तीन साथ टिकते हैं तो नगर के समान हो जाते हैं। तपस्वी को जोड़ा, ग्राम एवं नगर नहीं बनना चाहिए क्योंकि ऐसा करने पर वह धर्मच्युत हो जाता है। दो के साथ रहने से राजवार्ता होने लगती है, भिक्षा के विषय में चर्चा होने लगती है तथा स्नेह, ईर्ष्या, दुष्टता आदि मनोभावों की उत्पत्ति होने लगती है। तपस्वियों के लिए अकेले रहना और केवल चार प्रकार की क्रियाओं का करने का विधान है ध्यान, शौच, भिक्षा तथा एकान्तशीलता[3]। नारद के अनुसार सन्यासी के लिए छः प्रकार के अनिवार्य कार्य माने गए हैं, भिक्षाटन, जप, ध्यान स्नान, शौच और देवार्चन[4]। मिताक्षरा में यह भी स्पष्ट किया है कि सन्यास आश्रम परिव्राजक आश्रम है इसमें प्रवेश करने के लिए अहंकार, 'यह मेरा है यह मेरा नहीं है' इस प्रकार का अभिमान तथा अभिमान से होने वाले समस्त लौकिक कर्म एवं नित्य काव्य आदि वैदिक कर्म का परित्याग कर देना चाहिए।

१—अगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितो मुनिः।
समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥
अनग्निरनिकेतः स्याद् ग्राममन्नार्थमाश्रयेत्।
उपेक्षकोऽसंकुसुको मुनिर्भावसमाहितः॥
कपालं वृक्षमूलानि कुचेलमसहायता।
समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम्॥ मनु, ६.४१,४३,४४

२—याज्ञवल्क्य, मिताक्षरा, प्रायश्चिताध्याय ५८

३—याज्ञवल्क्य, मिताक्षरा, प्रायश्चिताध्ताय ५८
द्वावेव मिथुनं स्मृतम्। त्रयोग्रामः समाख्यात ऊर्ध्वं तु नगरायते।
द्रक्षः—'एको भिक्षुर्यथोक्तश्च
राजवार्तादि तेषा तु भिक्षावार्ता परस्परम्। अपि पैशुन्यमात्सर्यं सन्निकर्षान्न संशयः॥

४—पी० वी० काणे, पृथक खण्ड, पृष्ठ ४९२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्यासी को यह निर्देश दिया गया है कि वह सदा ब्रह्मचर्य का पालन करे। ध्यान एवं आध्यात्मिक ज्ञान के प्रति भक्ति रखे। इन्द्रिय सुख तथा आनन्दप्रद वस्तुओं से सदा दूर रहे।[१] सन्यासी को चाहिए कि वह इस बात का ध्यान रखे कि उसके घूमने फिरने से किसी जीव को कष्ट न हो जाय। यदि कोई उसका अपमान करे तो उसे उसके प्रति उदासीन रहना चाहिए। यदि कोई उस पर क्रोध प्रकट करे तो उसे क्रोध के आवेश में नहीं आना चाहिए। यदि कोई उसका बुरा करे तो भी उसे कल्याणप्रद शब्दों का ही उच्चारण करना चाहिए।[२] सन्यासी के लिए यह भी विधान किया गया है कि वह श्रौताग्नियों, गृह्याग्नि एवं लौकिकअग्नि को न जलावे। भोजन भिक्षा मांगकर करे।[३] उसे ग्राम में भिक्षाटन के लिए केवल एक बार जाना चाहिए। वर्षा को छोड़कर रात्रि के समय ग्राम में नहीं रहना चाहिए किन्तु यदि परवशता की स्थिति में उसे रुकना ही पड़े तो एक रात्रि से अधिक नहीं रुकना चाहिए।[४] सन्यासी को किस प्रकार कहां और किससे भिक्षा माँगनी चाहिए इस सम्बन्ध में धर्मशास्त्रों में पर्याप्त मतभेद हैं। वशिष्ठ के अनुसार उसे विना किसी पूर्व योजना या चुनाव के सात घरों से भिक्षा माँगनी चाहिए। बौधायन के अनुसार शालीन एवं यायावार प्रकार के

१—अगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितो मुनिः ।
समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ।। मनु, ६.४१

२—यस्मादण्वपि भूतानां द्विजान्नोत्पद्यते भयम् ।
तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन ।।
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन ।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ।।
क्रुद्ध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ।। मनु, ६,४०,४७,४८
याज्ञवल्क्य, प्रायश्चिताध्याय, ६१

३—प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ।
अनग्निरनिकेतः स्याद् ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् ।
उपेक्षकोऽसंकुसुको मुनिर्भावसमाहितः ।। मनु, ६.३८,४३

४—एककालं चरेद् भैक्षं प्रसज्जेत विस्तरे ।
भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति ।। मनु, ६.,५५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्राह्मण गृहस्थों के घर ही भिक्षा के लिए जाना चाहिए और उतने ही समय तक रुकना चाहिए जितने में एक गाय दुह ली जाती है। अन्य मतों के अनुसार सन्यासी किसी भी वर्ण के यहाँ भिक्षा माँग सकता हैं किन्तु भोजन केवल द्विजातियों के यहाँ कर सकता है। उशना ने भिक्षा से प्राप्त भोजन को पाँच वर्गों में विभक्त किया है। माधुकर (किन्हीं तीन, पाँच या सात घरों से प्राप्त भिक्षा, जिस प्रकार मधुमक्खी विभिन्न प्रकार के पुष्पों से मधु एकत्र करती है), प्रावप्रणीत (जब शयन स्थान से उठने के पूर्व ही भक्तों द्वारा भोजन के लिए प्रार्थना की जाती है), अयाचित (भिक्षाटन करने के लिए उठने के पूर्व ही जब कोई भोजन के लिए निमंत्रित कर दे), तात्कालिक (सन्यासी के पहुँचते ही जब कोई ब्राह्मण भोजन करने की सूचना दे दे), तथा उपपन्न (भक्त शिष्यों या अन्य लोगों के द्वारा मठ में लाया गया पका भोजन)।[१]

सन्यासी को सन्ध्या समय भिक्षा माँगनी चाहिए। सन्ध्या समय भी यह देखकर कि रसोई घर से धुँआ का निकलना बन्द हो गया है, अग्नि बुझ चुकी है, बर्तन आदि अलग रख दिए गए हैं, उसे भिक्षा के लिए निकलना चाहिए।[२] मनु ने यह स्पष्ट किया है कि सन्यासी को न तो भविष्यवाणी करके, न सगुन, अपशकुन बताकर, न ज्योतिष का प्रयोग कर, न विद्या ज्ञान आदि के सिद्धान्तों का उद्‌घाटन कर भिक्षा माँगने का प्रयत्न करना चाहिए। उसे ऐसे घर में भी भिक्षा के लिए नहीं जाना चाहिए जहाँ पहले से यति लोग ब्राह्मण, पक्षी एवं कुत्ते तथा भिखारी या अन्य लोग आ गए हों।[३] सन्यासी को भर पेट भोजन नहीं करना चाहिए उसे केवल उतना ही खाना चाहिए जिससे वह अपने शरीर और आत्मा को एक साथ रख सके। यदि उसे अधिक मिल जाय तो न तो उसे सन्तोष प्रकट करना चाहिए

१—पी० वी० काणे, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ४९२

२—विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने।
वृत्ते शरावसम्पाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत्॥ मनु, ६.५६
याज्ञवल्क्य, प्रायश्चिताध्याय, ५९

३—न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया।
नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित्॥
न तापसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपि वा श्वभिः।
आकीर्णं भिक्षुकैर्वाऽन्यैरगारमुपसंव्रजेत्॥ मनु, ६.५०,५१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और न प्रसन्नता, और कम मिलने पर उसे निराश भी नहीं होना चाहिए।[1]

सन्यासी को अपने पास कुछ भी नहीं रखना चाहिए उसके पास केवल जीर्ण-शीर्ण परिधान, जलपात्र एवं भिक्षापात्र होना चाहिए।[2] देवल के अनुसार उसके पास केवल जलपात्र, जल छानने के लिए वस्त्र पादुका, आसन एवं कन्धा (गुदड़ी) होनी चाहिए।[3] सन्यासी का भिक्षापात्र तथा जलपात्र मिट्टी लकड़ी, तुम्बी या बिना छेद वाले बांस का होना चाहिए। किसी भी दशा में उसे धातु के पात्र का प्रयोग नहीं करना चाहिए। उसे अपना जलपात्र या भोजन पात्र जल से धोकर स्वच्छ रखना चाहिए।[4] नाखून, बाल एवं दाढ़ी के सम्बन्ध में मनु का मत है कि उसे कटाकर रहना चाहिए किन्तु गौतम ने मुण्डित और जटा दोनों में से किसी को भी रखने का निर्देश दिया है। उसे केवल जमीन पर सोने का विधान किया गया है यदि रोग हो जाए तो भी उसे चिन्ता नहीं करनी चाहिए। न तो उसे मृत्यु का स्वागत करना चाहिए और न जीने पर प्रसन्नता प्रकट करनी चाहिए। उसे धैर्य पूर्वक मृत्यु की बाट उसी प्रकार जोहनी चाहिए जिस प्रकार नौकर नौकरी के समय का बाट देखता रहता है।

याज्ञवल्क्य ने सन्यासी को त्रिदण्डी अर्थात् तीन दण्ड धारण करने वाला कहा है। मनु के अनुसार वह एक दण्ड भी रख सकता है अतः उसे

१—अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत्।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गाद्विनिर्गतः ॥
अल्पान्नाभ्यवहारेण रहःस्थानासनेन च।
ह्रियमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्तयेत् ॥ मनु, ६.५७,५९

२—अनग्निरनिकेतः स्याद् ग्राममन्नार्थमाश्रयेत्।
उपेक्षकोऽसंकुसुको मुनिर्भावसमाहितः ॥
कपालं वृक्षमूलानि कुचेलमसहायता।
समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥ मनु, ६.४३,४४

३—याज्ञवल्क्य, मिताक्षरा प्रायश्चिताध्याय, ५८

४—अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निर्व्रणानि च।
तेषामद्भिः स्मृतं शौचं चमसानामिवाध्वरे ॥
अलाबुं दारुपात्रं च मृन्मयं वैदलं तथा।
एतानि यतिपात्राणि मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥ मनु, ६.५३,५४
याज्ञवल्क्य, प्रायश्चिताध्याय, ६०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दण्डी कहना ही उचित है।[१] दण्डी का अर्थ है दण्ड धारण करने वाला और दण्ड शब्द दो अर्थ में प्रयुक्त होता है, बाँस का दण्ड या छड़ी तथा नियंत्रण। बोधायन के अनुसार सन्यासी एक दण्डी या त्रिदण्डी हो सकता है। मनु एवं दक्ष के अनुसार जो व्यक्ति वाणी, मन एवं शरीर पर संयम एवं नियंत्रण रख सकता है वही त्रिदण्डी है। दक्ष का कहना है कि देव लोग जो सत्व गुण वाले होते हैं वे भी इन्द्रिय सुख के वशीभूत हो सकते हैं तो मनुष्यों का क्या कहना। अतः जिसने आनन्द का स्वाद लेना छोड़ दिया है वही दण्ड धारण कर सकता है। अन्य लोग ऐसा नहीं कर सकते। क्योंकि यह भोग विलास के वशीभूत हो सकते हैं। केवल बाँस के दण्ड धारण करने से कोई सन्यासी दण्डी या त्रिदण्डी नहीं हो सकता।[२] दण्डी या त्रिदण्डी वही है जो आध्यात्मिक दण्ड रखता हो। अधिकांश लोग तो दण्ड धारण केवल अपने जीविका चलाने के लिए ही करते हैं। त्रिदण्ड का तात्पर्य है वाणी, कर्म और मन पर नियंत्रण। वाणी के नियंत्रण का तात्पर्य है मौन धारण करना, कर्म के नियंत्रण का तात्पर्य है किसी जीव को हानि न पहुँचाना और मन पर नियंत्रण का तात्पर्य है प्राणायाम एवं अन्य यौगिक अभ्यास के साथ किसी प्राणी का अहित न चाहना।[3]

सन्यासी को अपने दैनिक जीवन में पूर्ण शुद्धि का ध्यान रखना चाहिए उसे भूमि निरीक्षण करके चलना चाहिए, पानी छानकर पीना चाहिए, सत्य से पवित्र हुए शब्दों का उच्चारण करना चाहिए और केवल उन्हीं कार्यों को करना चाहिए जिन्हें करने के लिए उसका अन्तःकरण स्वीकृति देता हो।[४] सन्यासी को अपने जीवन में वैराग्य या अकामता की प्राप्ति करनी होती है। इसके लिए उसे अपने इन्द्रियों पर निग्रह करना होता है और जगत् की सदोषता का चिन्तन करना होता है। उसे यह सोचना

१—याज्ञवल्क्य, प्रायश्चिताध्याय ५८

क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान् ।
विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ मनु, ६.५२

२—वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च ।
यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते ॥ मनु, १२.१०

३—पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ ४९४

४—दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनः पूतं समाचरेत् ॥ मनु, ६.४६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहिए कि यह शरीर नश्वर है, रोग होना स्वाभाविक है, वृद्धापन अनिवार्य है। शरीर में अनेक प्रकार के अपवित्र पदार्थ भरे हुए हैं। संसार क्षण-भंगुर है, गर्भाधान से लेकर मृत्यु तक अनेक परेशानियों का सामना करना पड़ता है।[१]

सत्यता, अप्रवन्चना, विनीनता, पवित्रता, शुभ-अशुभ-विवेक, मन की स्थिरता, मन नियंत्रण, इन्द्रिय-निग्रह आदि सभी वर्णों एवं आश्रमों के धर्म हैं। किन्तु सन्यासी के लिए तो ये अनिवार्य और अपरिहार्य हैं। इनके न रहने पर केवल वेशभूषा एवं कमण्डलु आदि से कोई सन्यासी नहीं हो जाता क्योंकि इन्हें तो वंचक भी धारण कर सकते हैं।[२]

सन्यासियों के प्रकार

सन्यासियों के प्रकार के सम्बन्ध में मनु तथा याज्ञवल्क्य ने कोई चर्चा नहीं की है। किन्तु धर्मशास्त्रों में अन्यत्र सन्यासियों के अनेक प्रकारों का वर्णन मिलता है। महाभारत-अनुशासन पर्व में कुटीचक्र, बहुदक, हंस एवं परमहंस चार प्रकार के सन्यासी बतलाए गए हैं। सूत संहिता भिक्षुकोपनिषद् आदि में इन चारो प्रकारों की परिभाषाएं भी दी गई हैं जिनमें बहुत मतभेद हैं। 'कुटीचक्र सन्यासी' वह है जो अपने घर में ही सन्यास कर रहता है। शिखा, जनेऊ, त्रिदण्ड, कमण्डलु धारण करता है तथा अपने पुत्रों एवं कुटुम्बियों से भिक्षा माँगकर खाता है। वह अपने पुत्रों द्वारा निर्मित कुटियों में ही रहता है। यह भी कहा गया है कि कुटीचक्र लोग गौतम, भारद्वाज, याज्ञवल्क्य एवं हारीत नामक ऋषियों के आश्रमों में भी

१—अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम् ।
चर्मावनद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ।।
जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् ।
रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत् ॥ मनु, ६.७६,७७

२—दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः ।
समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ।।
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ।।
दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन्समाहितः ।
वेदान्तं विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनृणो द्विजः ॥ मनु, ६.६६,९२,९४
याज्ञवल्क्य, प्रायश्चित्ताध्याय, ६५-६६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ठहरते थे । वे प्रतिदिन केवल आठ ग्राम भोजन करते थे, योगमार्ग जानते थे, और मोक्ष प्राप्ति के साधनों में लगे रहते थे । "बहुदक" सन्यासी वे हैं जो त्रिदण्ड, कमण्डलु एवं काषाय वस्त्र धारण करते हैं वे ऋषि तुल्य सात ब्राह्मणों के यहाँ से भिक्षा मांगते हैं किन्तु मांस, नमक एवं बासी भोजन नहीं लेते हैं । "हंस" सन्यासी वे हैं जो ग्राम में एक रात्रि और नगर में पांच रात्रियों से अधिक भिक्षा मांगने के लिए नहीं ठहरते हैं । वे गौमूत्र पी लेते हैं, गोबर भी खा लेते हैं । वे एक मास तक उपवास करते हैं या सदैव चान्द्रायण व्रत करते रहते हैं । "परमहंस" सन्यासी वे हैं जो सदैव पेड़ के नीचे या खाली मकान या श्मशान में निवास करते हैं या तो वे नंगे रहते हैं या वस्त्र धारण करते हैं वे धर्मा-धर्म, सत्यासत्य, पवित्रा--पवित्र के द्वन्द्वो या द्वैतो से परे रहते हैं । वे सबको एक समान मानते हैं, सबको आत्मा के समान समझते हैं और सभी वर्णों के यहां भिक्षा मांगते हैं ।[१]

सन्यास आश्रम का महत्त्व

सन्यासी का जीवन परम आदर्श का जीवन है उसका लक्ष्य जीवन में आध्यात्मिकता को पूर्ण रूप से उतारना होता है इस शरीर को कठोर तपस्या से पवित्र और शुद्ध कर मोक्ष के योग्य बनाना होता है । वह प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर अनुगमन करता है । वह पुत्र--पौत्र धन सम्पत्ति आदि का त्याग कर वाह्य सन्यास, इच्छा, कामनाओं और अभिलाषाओं को त्याग कर अन्तर्सन्यास और समस्त आसक्तियों का त्याग कर पूर्ण सन्यास के द्वारा अपने को मोक्ष के योग्य बनाता है। वह अपने आपको पहचानने के लिए अपने इन्द्रियों का दमन करता है और भौतिकता से आध्यात्मिकता में प्रवेश कर जीवन में समता का आदर्श प्रस्तुत करता है।[२] वह समाज से पूर्णतः अलग होकर भी अपने आचरण में दृढ़ अनुशासन, संयम, तपश्चर्या, निवृत्ति, अहिंसा, विराग, अनासक्ति आदि को प्रतिष्ठित कर समाज को सही मार्ग का निर्देश करता है । अपनी आध्यात्मिकता, निष्पक्षता, विवेकशीलता, प्रज्ञा तथा अपने मानवता वादी चिन्तन से वह अपने व्यक्तित्व को तो ऊपर उठाता ही है साथ ही साथ समाज को भी सन्मार्ग प्रदर्शन कर आदर्श की ओर उन्मुख करता है । समाज के लोग उसके अनुशासित एवं अनासक्त

१- पी० वी० काणे, प्रथम भाग, पृष्ठ ४६५

२- विद्याविनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि
शुनिचैव श्वपाके च पण्डिता: समदर्शिन: । गीता; ५; १८;

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन के आलोक से आलोकित होते हैं उसके सदाचार से शिक्षा ग्रहण करते हैं और उसके उद्देश्यों से प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

धर्मशास्त्रों में चार आश्रम के विवेचन, आश्रम के सम्बन्ध में विकल्प बाध और समुच्चय के सिद्धान्त, आश्रमों के कर्त्तव्य और परस्पर सम्बन्ध के उक्त निरूपण से यह स्पष्ट है कि धर्मशास्त्रों के दृष्टिकोण में मानव के समग्र विकासात्मक लक्ष्य की सिद्धि तभी सम्भव है जब व्यक्ति अपनी रुचि और क्षमता के अनुसार समाज--हित और समष्टि के कल्याण के लिए व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठने के लिए कृत संकल्प रहेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

षष्टम--अध्याय

सामाजिक-संस्था

-परिवार और विवाह-

परिवार

परिवार सभी सामाजिक संस्थाओं में सर्वाधिक सार्वभौम संस्था है। परिवार की उत्पत्ति मनुष्य को उत्पत्ति के साथ ही हुई है। वस्तुतः समाज का मूल परिवार में है। जिसकी रचना स्त्री तथा पुरुषों के नियंत्रित संसर्ग के द्वारा हुई है। सामाजिक मर्यादाओं से युक्त स्त्री-पुरुष के पारस्परिक यौन-सम्बन्धों अथा अधिकारों एवं कर्त्तव्यों की संस्कृति की पद्धति विवाह है। परिवार तथा विवाह को एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। विवाह परिवार का एक अभिन्न अंग है। सामान्य प्रचलित मान्यताओं के अनुसार मनुष्य विवाह करने के लिए गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है।

परिवार का विकास

परिवार के विकास के मूल में कुछ मानवीय प्रवृत्तियाँ रही हैं। मौरगां एवं वेस्टमार्क ने अपने सिद्धान्तों के द्वारा परिवार की उत्पत्ति को स्पष्ट करने को चेष्टा की है। मौरंगा के अनुसार एक ऐसी स्थिति भी मानवीय सभ्यता के ऊषाकाल में रही है, जब यौन सम्बन्ध बिल्कुल स्वच्छन्द थे। धीरे-धीरे इस प्रवृत्ति में सुधार हुआ और पितृमूलक परिवारों की उत्पत्ति हुई। वेस्टमार्क का विश्वास है कि आदिकाल में नारी ही बच्चों की उत्पत्ति का कारण मानी जाती थी। सम्बन्धों पर उतना नियन्त्रण नहीं था. अतः उत्तराधिकार के निर्धारण के लिए पहले मातृमूलक परिवारों की उत्पत्ति हुई। बाद में पितृमूलक परिवार भी अस्तित्व में आये। परिवार मानवीय प्रवृत्ति एवं सामाजिक आवश्यकताओं का फल है। इन्हीं प्रवृत्तियों एवं आवश्यकताओं के अनुसार इसमें परिवर्तन होता रहा है. परिवार के विकास के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि जितना परिवर्तन मानवीय समाज, उसकी प्रविधि एवं दूसरी अन्य संस्थाओं में हुआ है उतना परिवर्तन परिवार के कार्य प्रविधि एवं रचना में नहीं हुआ है।

परिवार के मूल में कुछ शारीरिक, मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक आवश्यकताएं हैं। ये आवश्यकताएं मनुष्य की प्रवृति के अंग के रूप में है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार परिवार ही एक ऐसी संस्था है जो प्राथमिक रूप से मनुष्य की तीन आवश्यकताओं की पूर्ति करती है।[1] यौन आवश्यकता सन्तानोत्पत्ति, पालन-पोषण एवं सामाजीकरण की आवश्यकता तथा पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता।

परिवार की परिभाषा

मैकाइवर तथा पेज ने परिभाषा देते हुए कहा है कि परिवार यौन सम्बन्धों से परिभाषित समूह है जो लघु होते हुए भी सन्तानोत्पत्ति एवं उनके पालन-पोषण के लिए सक्षम होता है।[2] मैकाइवर परिवार को एक समिति के रूप में मानते हैं। इनके अनुसार विवाह एक संस्था एवं परिवार एक समिति है।

वरजैस और लांक के अनुसार, परिवार एक ऐसा समूह है जो विवाह, रक्त, अथवा दत्तक सम्बन्धों द्वारा संगठित होता है। इस प्रकार एक कुटुम्ब की रचना होती है जिसमें पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र एवं पुत्री तथा भाई एवं बहन के बीच तथा उनके सामाजिक कार्यों के क्षेत्र में अन्तः क्रिया एवं अन्तः संचार होता है जिससे या तो एक सामान्य संस्कृति का जन्म होता है या उसमें निरन्तरता आती है[3]।

इन परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि परिवार पति-पत्नी के पारस्परिक सम्बन्धों एवं सहयोग, बच्चों के प्रजनन तथा पारस्परिक सहानुभूति को भावना पर आधारित समूह है। परिवार समाज की प्राथमिक इकाई है, जो व्यक्ति के चरित्र निर्माण एवं सामाजिक सुदृढ़ता को शक्तिशाली बनाए रखती है। परिवार में ही मनुष्य का जन्म होता है तथा इसी के माध्यम से उसमें पारस्परिक स्नेह, सहानुभूति, सहयोग तथा एकता का विकास होता है। परिवार के ही मध्य व्यक्तित्व की रचना होती है। व्यक्ति का सामाजीकरण परिवार से ही आरम्भ होता है। उचित-अनुचित का ज्ञान, नैतिक प्रवृत्ति, पूर्वकल्पित कार्य करने का ढंग तथा स्नेह सहानुभूति का प्रारम्भिक ज्ञान पारिवारिक पर्यावरण में ही आरम्भ होता है और व्यक्तित्व के विकास में इनकी अमिट छाप पड़ती है।[4]

१– मैकाइवर और पेज, सोसायटी, पृष्ठ २६२–२६४

२– वही, पृष्ठ २३८

३– वरजेस एण्ड लांक, "दि फैमिली" पृष्ठ ८

४– पी० एन० प्रभु, हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन, पृष्ठ २०४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिवार के द्वारा सामाजिक परम्पराएं एवं प्रथाएं सुरक्षित रहती हैं और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को प्रदान की जाती है। "यंग" के अनुसार परिवार के मध्य शारीरिक, मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक तत्त्वों का संगम होता है और वे व्यक्ति को जीवन आरम्भ करने तथा विकसित होने में सहायक होते हैं।[1]

भारतीय समाज व्यवस्था में गृहस्थाश्रम का बहुत बड़ा महत्त्व है इस आश्रम के द्वारा व्यक्ति पूर्ण पारिवारिक जीवन के मध्य अपने पुरुषार्थों को प्राप्त करने की चेष्टा करता है। आधुनिक विचारकों की दृष्टि में परिवार यौन एवं आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति की एक संस्था है। इस मत में अर्थ तथा काम को तुष्ट करने वाली संस्था के रूप में परिवार का लक्ष्य इतना सीमित हो जाता है कि उसमें अस्थिरता तथा अवांछित गतिशीलता का आ जाना आवश्यक सा प्रतीत होता है। धर्मशास्त्रों के दृष्टिकोण में परिवार के मूल में अर्थ तथा काम के साथ ही साथ धर्म तथा मोक्ष का विचार कुछ इस प्रकार की आध्यात्मिक उच्चता प्रदान करता है जो सामाजिक व्यवस्था को अधिक स्थिर तथा स्थायी बना देता है। धर्मशास्त्र की व्यवस्था में पत्नी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली एक नारी ही नहीं अपितु धर्मपत्नी तथा सहधर्मिणी है। पत्नी के अभाव में धर्म कार्य सम्पादित नहीं हो सकते हैं। दूसरी ओर पितृ ऋण से मुक्ति के लिए पुत्रोत्पत्ति आवश्यक है। धर्म की यह मान्यता धर्मशास्त्रीय परिवार प्रणाली का आधार है। व्यक्ति का स्वयं में कोई अस्तित्व नहीं है। सामाजिक एवं धार्मिक कृत्यों के सम्पादन के लिए उसे दूसरों का सहयोग अपेक्षित है। इस सन्दर्भ में धर्मशास्त्रों के समाज की इकाई व्यक्ति नहीं अपितु परिवार है। विवाह केवल दो व्यक्तियों का मिलन नहीं अपितु दो परिवारों का सम्बन्ध है जो एक दूसरे के सुख-दुःख के भागीदार एवं हितचिन्तक बनते हैं। भारतीय समाज व्यवस्था में सामान्य रूप से विवाह तथा परिवार को एकता में अग्नि का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और पाणिग्रहण संस्कार में अग्नि को ही साक्षी बनाया जाता है।

भारतीय समाज व्यवस्था में व्यक्ति का पारिवारिक जीवन दीक्षा के उपरान्त आरम्भ होता है। पाणिग्रहण संस्कार के उपरान्त व्यक्ति को उन सभी कृत्यों की पूर्ति करनी पड़ती है जिससे कुल धर्म का पालन हो

१– यंग, सोशल साइकालाजी, पृष्ठ २७४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवं उसका निरन्तर विकास हो। पारिवारिक जीवन में 'पंच महायज्ञ' का विशेष स्थान है। उसकी पूर्ति के द्वारा व्यक्ति तीनों ऋणों से मुक्त हो सकता है। मनु के अनुसार ब्रह्म यज्ञ, पितृ यज्ञ, देव यज्ञ, भूत यज्ञ तथा नृयज्ञ ये पंच महायज्ञ हैं[१]। एक और पंचमहायज्ञों के साथ सामाजिक पक्ष संयुक्त है जिसमें गृहस्थ अन्य भूतों अथवा प्राणियों की सुख-सुविधा के लिए अपनी सुविधा का त्याग करता है और दूसरी ओर वैयक्तिक पक्ष भी है यह आत्म शुद्धिकरण की एक प्रक्रिया है। मनु के अनुसार यज्ञ तथा इन्द्रिय निग्रह दम्पतियों के लिए अनिवार्य है। परिवार धर्म सम्पादन का एक स्थल है। मृत्यु के बाद गृहस्थ के साथ कोई सम्बन्धी नहीं जाता सब यहीं रह जाते हैं केवल धर्म ही उसके साथ जाता है। प्रत्येक व्यक्ति अकेला आया है, अकेला जायेगा। वह अपने शुभ या अशुभ कर्मों का फल भी एकाकी ही भोगता है[२]।

मनु की पारिवारिक व्यवस्था जहाँ एक ओर पूर्ण सुखवादी है और मनुष्य को गृहस्थ जीवन का पूर्ण आनन्द उठाने के लिए प्रेरित करती है वहीं दूसरी ओर त्याग एवं संयम की पथ प्रदर्शिका है क्योंकि इसके व्यवस्थापक इस बात से परिचित हैं कि पूर्ण सांसारिकता में लिप्त व्यक्ति अपने वास्तविक उद्देश्य को भूल सकता है। इस लिए उसे त्याग, संयम एवं नैतिकता के परिप्रेक्ष्य में अपने जीवन में सुखभोग का प्रयत्न करना चाहिए जिससे उसे अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष को ओर अग्रसर होने का समुचित अवसर प्राप्त हो सके।

पति-पत्नी

परिवार की रचना के मूल में पति-पत्नी का पारस्परिक सम्बन्ध है। इनके सम्बन्धों की मधुरता पर ही पारिवारिक जीवन की सफलता निर्भर करती है। मनु का कथन है कि मृत्यु पर्यन्त पारस्परिक विश्वास ही पति-पत्नी का सबसे बड़ा धर्म है। एक बार परिणय सूत्र में आबद्ध हो जाने के पश्चात् पति-पत्नी का यह कर्त्तव्य है कि उनमें कोई विभेद न उत्पन्न हो और

१—वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्म यथाविधि ।
पञ्चयज्ञविधानं च पक्तिं चान्वाहिकीं गृही ॥ मनु, ३.६७,

२—एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् । मनु, ४.२४०,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वे एक दूसरे के प्रति आस्थावान् बने रहें [१]। भारतीय शास्त्रकारों ने प्रायः एक पत्नी व्रत की सराहना की है। इनका विश्वास है कि वैवाहिक सम्बन्ध का महत्त्व मात्र लौकिक ही नहीं अपितु पारलौकिक भी है। मनुस्मृति में पति को निर्देशित किया गया है कि वह केवल अपनी पत्नी में ही अनुरक्त रहे[२]। सभी धार्मिक कृत्यों का सम्पादन पति-पत्नी को साथ करना चाहिए जिससे मृत्यु के पश्चात् भी उन्हें सुख प्राप्त हो सके[३]। मनुस्मृति में स्पष्ट रूप से उल्लेख है कि यदि पहली पत्नी धार्मिक कृत्यों के सम्पादन में पूर्ण सक्षम है और उससे पुत्रोत्पत्ति हो चुकी है तो पति को दूसरा विवाह नहीं करना चाहिए। सामान्य रूप से मनु की व्यवस्था में विवाह विच्छेद के लिए कोई स्थान नहीं हैं, क्योंकि विवाह दम्पति का पारस्परिक चयन एवं रुचि का प्रश्न न होकर कर्म, धर्म एवं संस्कार की देन है और यह जन्म-जन्मान्तर तक चलता रहने वाला सम्बन्ध है।

भारतीय समाज व्यवस्था में पत्नी के ऊपर पति के अधिकार की प्रायः विशेष चर्चा की जाती है ये अधिकार पति को अपने कर्त्तव्यों के बदले में प्राप्त होते हैं। पति का अर्थ है जो उसकी रक्षा करे। पति को भर्तृ भी कहा गया है जिसका अर्थ होता है जो भरण-पोषण करे। साथ ही साथ उसे स्वामी की भी संज्ञा दी गई है। इस प्रकार पत्नी को सम्पूर्ण दायित्व पति के ऊपर आ जाता है। इसलिए शास्त्रों ने यह निर्देश दिया है कि रक्षा, भरण पोषण आदिका पत्नी को पति की आज्ञाओं का पालन करना चाहिए एवं उसकी सेवा में निरत रहना चाहिए[४]। पत्नी का कल्याण उसकी पति-भक्ति एवं सेवा पर आधारित है। मनुस्मृति में कहा गया है कि

१—अन्योन्यस्याव्यभिचारो भवेदामरणान्तिकः।
एषः धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः॥
तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ।
यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्तावितरेतरम्॥ मनु, ९.१०१, १०२,

२—ऋतुकालभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा।
पववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया॥ मनु, ३.४५,

३—ब्राह्मदैवार्षगान्धर्वप्राजापत्येषु यद्वसु।
अप्रजायामतीतायां भर्तुरेव यदिष्यते॥ मनु, ९.१९६,

४—यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां भ्राता वाऽनुमते पितुः।
तं शुश्रूषेत जीवन्तं सस्थितं च न लङ्घयेत्॥ मनु ५.१५१,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पत्नी का कर्त्तव्य है कि वह पति की पूजा करे। यदि वह दुश्चरित्र एवं गुण रहित भी है तब भी उसे देवता की तरह समझना चाहिए[1]। इस बात की पुष्टि याज्ञवल्क्य ने भी की है। मनुस्मृति के अनुसार पत्नी के लिए न तो कोई यज्ञ है और न व्रत। पति की सेवा मात्र से ही उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है[2]।

पुत्र का स्थान

पति एवं पत्नी के यौन सम्बन्ध के मूल में केवल काम-भावना की तृप्ति ही नहीं, उस पितृत्व एवं मातृत्व भावना का भी महत्त्वपूर्ण अंश है जो सन्तानोत्पत्ति के सुख से ओत-प्रोत है। पुत्र की उत्पत्ति से पिता को 'पु' नामक नरक से त्राण मिलता है अतः उसे पुत्र की संज्ञा दी गई है[3]। परिवार में ज्येष्ठ पुत्र की स्थिति निश्चित रूप से महत्वपूर्ण है ज्येष्ठ पुत्र ही 'धर्मज' माना गया है। अन्य पुत्रों का मनु ने 'कामज' कहा है। कुल की उन्नति तथा अवनति ज्येष्ठ पुत्र पर ही निर्भर करता है तथा ज्येष्ठ पुत्र को ही धार्मिक कृत्यों की पूर्ति के लिए अधिकार दिया गया है। धर्मशास्त्रीय परिवार में उत्तराधिकार एवं महत्ता का निर्धारण 'पिण्डदान' के अधिकार से किया गया है। पूर्वजों के लिए पिण्डदान एवं पिता की मृत्यु के पश्चात् श्राद्ध का प्रथम अधिकार ज्येष्ठ पुत्र को ही प्रदान किया गया है। मनुस्मृति के अनुसार भाइयों में पारस्परिक पार्थक्य एवं सम्पत्ति का विभाजन धर्म-सम्मत है। मनुस्मृति ने धन का बीसवां भाग तथा समस्त संपत्ति में जो सर्वोत्तम पदार्थ है उसपर ज्येष्ठ पुत्र का अधिकार; चालीसवां भाग मझले भाई को तथा अस्सीवां भाग छोटे भाई को देकर शेष सम्पत्ति का समान वितरण का निर्देश दिया है।

पुत्रों के प्रकार

भारतीय धर्म शास्त्रों में बारह प्रकार के पुत्रों का उल्लेख मिलता है।

१—विशील: कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जित: ।
उपचर्य: स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पति: ॥ मनु ५.१५४,

२—नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम् ।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते ॥ मनु ५.१५५,

३—पुंनाम्नो नरकाद्यस्मात्त्रायते पितरं सुत:
तस्मात्पुत्र इति प्रोक्त: स्वयमेव स्वयम्भुवा । मनु ९.१३८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनेक धार्मिक प्रयोजनों को औरस पुत्र ही अच्छी तरह पूरा कर सकता है किन्तु उसके अभाव में स्थानापन्न, प्रतिनिधि या गौण पुत्रों द्वारा भी ये प्रयोजन कुछ अंशों में पूर्ण हो सकते हैं । मनु के अनुसार यदि गौण पुत्र न ग्रहण किए जाय तो धार्मिक क्रियाओं, सन्तानोत्पादन तथा श्राद्धादि के लोप होने की सम्भावना है अतः प्रतिनिधि पुत्रों को औरस पुत्र न होने की दशा में स्वीकार करना आवश्यक है।[१] प्रतिनिधि अथवा गौण पुत्रों के स्वरूप, संस्था क्रम तथा स्वत्वों के सम्बन्ध में धर्मशास्त्रकारों में पर्याप्त मतभेद है × मनु के अनुसार इन पुत्रों की निम्नलिखित संज्ञाएं हैं–औरस, क्षेत्रज, दत्रिम, कृत्रिम, गूढज, अपविद्ध, कानीन, सहोढ, क्रीतक, पौनर्भव, स्वयंदत्त और पारशव ।

औरस पुत्र

मनु का कहना है कि विधि पूर्वक विवाहित, समान जाति वाली स्त्री में पुरुष स्वयं जिस पुत्र को उत्पन्न करता है, उसे सभी प्रकार के पुत्रों में प्रधान औरस पुत्र कहा जाता है[२]। कुछ शास्त्रकारों ने ऐसे पुत्र के लिए

१ क्षेत्र जादीन्सुतानेतानेकादश यथोदितान् ।।
पुत्रप्रतिनिधीनाहुः क्रियालोपन्मनीषिणः ।। मनु ९. १८०

× गौण पुत्रों की संख्या के सम्बन्ध में निम्न पक्ष उल्लेखनीय है :—

गौतम, बौघायन, वशिष्ठ, विष्णु के मतानुसार इनकी संख्या बारह है। आपस्तम्ब एक ही प्रकार का पुत्र अर्थात् औरत ही मानते हैं। मनु ने यों तो बारह पुत्रों का उल्लेख किया है पर उन्होंने पुत्रि का पुत्रका भी वर्णन किया है। इस प्रकार उनके मत में तेरह प्रकार के पुत्र होते हैं। महाभारत ने पाँच प्रकार बारह प्रकार तथा बीस प्रकार के पुत्रों का निर्देश किया है। इस संस्था की वृद्धि का कारण है कि इसमें अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों से उत्पन्न छः-छः प्रकार के बारह पुत्र इस प्रकार बढ़ाये गये हैं। (क) छः अपध्वंसज अथवा अनुलोमज पुत्र ब्राह्मण के क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्णों की स्त्रियों से उत्पन्न तीन प्रकार के पुत्र; क्षत्रिय की वैश्य और शूद्र पत्नी की दो प्रकार की सन्तान और वैश्य का शूद्रा से उत्पन्न पुत्र। (ख) छः अपसद (प्रतिलोमज,-शूद्र के ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या से उत्पन्न तीन पुत्र, वैश्य के क्षत्रिया, ब्राह्मणी से पैदा हुए दो प्रकार के पुत्र और क्षत्रिय का ब्राह्मणी से उत्पन्न एक पुत्र।

० गौतम, २८.३३-३४; बोधायन, २.२. १४-३४; वशिष्ठ, १७.२२; विष्णु; १५.१-२

२—स्वक्षेत्रे, संस्कृतायां तु स्वयमुत्पादयेद्धियम् ।
तमौरसं विजानीयात्पुत्रं प्रथमकल्पितम्।। मनु ९, १६६,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सवर्णा अथवा सजातीय स्त्री से उत्पन्न होना आवश्यक बताया है। विज्ञानेश्वर और अपरार्क ने अनुलोम से भी केवल क्षत्रिय और वैश्य स्त्री से उत्पन्न पुत्र को औरस पुत्र माना है। शूद्रा स्त्री से उत्पन्न पुत्र को औरस पुत्र नहीं माना गया है। पिता की सम्पत्ति के वास्तविक उत्तराधिकारी के रूप में औरस पुत्र का स्थान प्रथम है[१]। अन्य प्रकार के पुत्रों के लिए केवल भोजन वस्त्र की व्यवस्था की गई है[२]। औरस पुत्र के अभाव में ही दूसरे पुत्र उत्तराधिकारी बन सकते हैं।

क्षेत्रज पुत्र

जो पुत्र मरे हुए नपुंसक असाध्य रोगी पुरुष की स्त्री में शास्त्र प्रतिपादित व्यवस्था के अनुसार नियुक्त अन्य पुरुष के सम्पर्क से उत्पन्न होता है उसे क्षेत्रज पुत्र कहते हैं[३]। इस प्रकार से उत्पन्न पुत्र को सामाजिक मान्यता भी है। अन्य प्रकार के पुत्रों में क्षेत्रज पुत्र का द्वितीय स्थान है तथा औरस पुत्र के बाद ही उसकी स्थिति मानी जाती हैं[४]।

दत्तक पुत्र

जिस पुत्र को माता-पिता आपत्तिकाल में अपने सदृश (समान जातीय) किसी मनुष्य को जल से संकल्प करके प्रीति पूर्वक दे देते हैं, उसे दत्तक पुत्र कहते हैं।[५] पुत्र को दत्तक रूप में प्रदान करने और स्वीकार करने में पति की सहमति आवश्यक है।[६]

१– औरसक्षेत्रजौ पुत्रौ पितृरिक्थस्य भागिनौ।
दशापरे तु क्रमशो गोत्ररिक्थांशभागिनः॥ मनु ९, १६५,
याज्ञवल्क्य स्मृति, व्यवहाराध्याय, १०५

२– एक एवौरसः पुत्रः पित्र्यस्य वसुनः प्रभुः।
शेषाणामानृशंस्यार्थं प्रदद्यात्तु प्रजीवनम्॥ मनु ९, १६३,

३– यस्तल्पजः प्रमीतस्य क्लीवस्य व्याधितस्य वा।
स्वधर्मेण नियुक्तायां स पुत्रः क्षेत्रजः स्मृतः॥ मनु ९, १६७,

४– यद्येकरिक्थिनौ स्यातामौरसक्षेत्रजौ सुतौ।
यस्य यत्पैतृकं रिक्थं स तद् गृह्णीत नेतरः॥ मनु ९, १६२,
कौटिल्य अर्थशास्त्र, ३, ७

५– माता पिता वा दद्यातां यमद्भिः पुत्रमापदि।
सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दत्त्रिमः सुतः॥ मनु९. १६८,

६– बोधायन धर्मसूत्र, १५. ५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृत्रिम पुत्र

जब किसी माता–पिता द्वारा अपनी परिस्थिति को ध्यान में रखकर गुण दोष के विचार में निपुण किसी सजातीय पुत्र को पुत्र बनाया जाता है तब उसे कृत्रिम पुत्र कहते हैं।[१]

गूढ़ज पुत्र

उस पुत्र को कहा जाता है जिसके विषय में यह ज्ञात नहीं हो पाता कि यह किसके वीर्य से उत्पन्न हुआ है। अर्थात् जिस पुत्र के विषय में संदिग्धता का विचार उत्पन्न हो।[२] कौटिल्य, याज्ञवल्क्य आदि ने भी ऐसे गूढ़ पुत्र की चर्चा की है।[३] अतः जिस स्त्री के गर्भ से उस बालक की उत्पत्ति होती है उसके पति का वह गूढ़ज पुत्र कहलाता है।

अपविद्ध पुत्र

उस पुत्र को कहते हैं जिसके अपने माता–पिता दोनों मिलकर या दोनों में से कोई एक परित्याग कर देता है और उसे कोई दूसरा व्यक्ति ग्रहण कर लेता है।[४]

कानीन पुत्र

वह पुत्र कहा गया है जो पिता के घर में रहने वाली कुंवारी कन्या से गुप्त रूप से उत्पन्न होता है और उस स्त्री से विवाह करने वाले पति का वह पुत्र माना जाता है।[५] ऐसे पुत्र नाना की सम्पत्ति में अधिकार पा सकते हैं

१– सदृशं तु प्रकुर्याद्यं गुणदोषविचक्षणम्।
पुत्रं पुत्रगुणैर्युक्तं स विज्ञेयश्च कृत्रिमः॥ मनु ९.१६९

२– उत्पद्यते गृहे यस्य न च ज्ञायेत कस्य सः।
स गृहे गूढ उत्पन्नस्तस्य स्याद्यस्य तल्पजः॥ मनु ९.१७०,
याज्ञवल्क्य, व्यवहाराध्याय, १२९;

३– कौटिल्य अर्थशास्त्र, ३. ७; बोधायन धर्मसूत्र, २. २. ६; गृहे गूढ़ौत्पन्नोऽन्ते ज्ञातौ गूढ़जः॥

४– मातापितृभ्यामुत्सृष्टं तयोरन्यतरेण वा।
यं पुत्रं परिगृह्णीयादपविद्धः स उच्यते॥ मनु, ९. १७१,

५– पितृवेश्मनि कन्या तु यं पुत्रं जनयेद्रहः।
तं कानीनं वदेन्नाम्ना वोढुः कन्यासमुद्भवम्॥ मनु ९. १७२,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और उसे पिण्ड दे सकते हैं।[1] पुत्र के अभाव में ऐसा पुत्र नाना और पिता दोनों का उत्तराधिकारी हो सकता है।

सहोढ पुत्र

बिना जाने अथवा जानकर जब गर्भवती कन्या से विवाह संस्कार किया जाता है तो उससे उत्पन्न पुत्र 'सहोढ' कहलाता है।[2]

क्रीतक पुत्र

पुत्र बनाने के लिए जिसे मूल्य देकर वास्तविक माता-पिता से खरीद लिया जाता है, ऐसा खरीदा हुआ पुत्र क्रीतक कहा जाता है। इस सम्बन्ध में मनु का विचार है कि माता-पिता को मूल्य प्रदान करके जो सजातीय अथवा असजातीय क्रीत पुत्र अपना मान लिया जाता है, वही क्रीतक पुत्र होता है।[3]

पौनर्भव पुत्र

पति से छोड़ी गई या विधवा स्त्री अपनी इच्छा से दूसरे को पति मानकर जिस पुत्र को उत्पन्न करती है उसे पौनर्भव पुत्र कहते हैं।[4] मनु इस सम्बन्ध में कहते हैं कि यदि अक्षत यौनि स्त्री दूसरे पति के पास जाकर उससे विवाह कर लेती है अथवा कुमारावस्था वाले पति को छोड़कर दूसरे पति के पास जाकर पुनः प्रथम पति आने पर उस स्त्री के साथ वह प्रथम कुमार पति विवाह कर लेता है तो वह उसकी पुनर्भू स्त्री कहलाती है।[5] इस पूनर्भू स्त्री का पुत्र भी पौनर्भव कहा जाता है।

स्वयंदत्त पुत्र

माता-पिता से हीन (अनाथ) या बिना कारण माता द्वारा छोड़ा

१- याज्ञवल्क्य, व्यवहाराध्याय, १२६

२- या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताज्ञातापि वा सती।
वोढुः स गर्भो भवति सहोढ इति चोच्यते ।। मनु ९, १७३,

३- क्रीणीयाद्यस्त्वपत्यार्थं मातापित्रोर्यमन्तिकात्।
स क्रीतकः सुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा।। मनु ९. १७४

४- या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया।
उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते ।। मनु ९, १७५,

५- सा चेदक्षतयोनिः स्याद्गतप्रत्यागतापि वा।
पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति ।। मनु ९, १७६,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ जो पुत्र स्वयं जाकर किसी का पुत्र बनता है तो वह उसे लेने वाले का स्वयंदत्त पुत्र होता है।[१]

पारशव पुत्र

ब्राह्मण पुरुष और शूद्र स्त्री के अनुलोम संयोग से उत्पन्न पुत्र पारशव पुत्र कहलाता है। मनु का कथन है कि ब्राह्मणशुद्रा से जिस पुत्र को उत्पन्न करता है वह जीता हुआ भी मरे के समान होने से पारशव पुत्र कहलाता है।[२] सभी पुत्रों में पारशव या निषाद पुत्र निम्नतम माना गया है।

पुत्रिका

इनके अतिरिक्त मनु ने कन्या को भी पुत्रिका बनाने की विधि का उल्लेख किया है।[३] अपुत्र व्यक्ति कन्या के विवाह के समय यह निश्चय करे कि इस पुत्री से जो पुत्र होगा, वही मेरा पिण्डदान आदि करने वाला होगा,[४] ऐसा जामाता (दामाद) से कहकर उस कन्या को "पुत्रिका" के रूप में स्वीकार करता है।

अन्य ग्रन्थों में उपर्युक्त प्रकार के पुत्रों का कुछ भिन्न नामों से उल्लेख है तथा कुछ अन्य भेदों का भी निर्देश है, जैसे–महाभारत के आदि पर्व में "औरस" और "पारशव" को स्वयंजात तथा हीन योनिधृत के नाम से कहा है। "गूढ़ज" के लिए स्वैरिणीजात शब्द का प्रयोग किया है। क्षेत्रज के लिए "प्रणीत" और "परिक्रीत" नामक दो भेद किए गए हैं। निःशुल्क रूप से उत्तम पुरुष के वीर्य से उत्पन्न किया पुत्र प्रणीत है और जब नियोग करने वाला कुछ प्रतिफल लेता है तो यह परिक्रीत कहलाता है।[५]

वर्गीकरण के कारण

पिण्डदान तथा धार्मिक कार्यों की दृष्टि से भी इस वर्गीकरण का

१– मातापितृविहीनो यस्त्यक्तो वा स्यादकारणात्।
आत्मानं स्पर्शयेद्यस्मै स्वयंदत्तस्तु स स्मृतः॥ मनु ९, १७७,

२– यं ब्राह्मणस्तु शूद्रायां कामादुत्पादयेत्सुतम्।
सपारयन्नेव शवस्तस्मात्पारशवः स्मृतः॥ मनु ९, १७८

३– मनु ९, १२७–१३५

४– अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम्।
यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात्स्वधाकरम्॥ मनु ९. १२७,

५– महाभारत, आदि पर्व, १२०. ३३–३४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेष महत्त्व नहीं प्रतीत होता क्यों कि इनमें अनेक ऐसे पुत्र हैं, जो यह कार्य नहीं कर सकते हैं। मनु ने पौनर्भव को श्राद्ध में बुलाने योग्य नहीं माना है। यद्यपि मनु ने क्रियालोप की आशंका से प्रतिनिधि पुत्रों की व्यवस्था की है किन्तु उसका सैद्धान्तिक पक्ष यह है कि क्षेत्रज आदि गौण पुत्र वास्तव में उत्पादक के ही हैं। उनके मत में एक मनुष्य (छेद आदि दोष वाली) खराब नौका से (नदी या समुद्र को) पार करता हुआ जैसा फल पाता है, वैसा ही फल वह इन कुपुत्रों (क्षेत्रजादि) की सहायता से (नरक से) अन्धकार को पार करता हुआ पाता है।[1] इससे यह स्पष्ट होता है कि मनु औरस से भिन्न पुत्रों को धार्मिक कार्यों के लिए विशेष महत्त्व नहीं देते हैं।

पुत्रों के वर्गीकरण का सबसे सरल और सबोध स्वरूप प्राचीन शास्त्रकारों में देवल के निरूपण में मिलता है। वह इन्हें चार भागों में बाँटते हैं— (१) आत्मज अर्थात् स्वयमुत्पादित पुत्र, जैसे औरस, पुत्रिका, पौनर्भव, पारशव या शौद्र। (२) परज–अपनी पत्नी में दूसरे के वीर्य से उत्पन्न जैसे क्षेत्रज। (३) लब्ध (दूसरे से प्राप्त) जैसे–दत्तक, कृत्रिम, क्रीत, स्वयंदत्त, अपविद्ध। (४) यादृच्छिक जैसे–गूढ़ज, कानीन और सहोढ।×

पुत्री का स्थान

जहां तक स्नेह एवं प्रेम प्रदर्शित करने का प्रश्न है, पुत्र एवं पुत्री में भारतीय शास्त्रों में कोई भेद नहीं किया गया है। लेकिन जहाँ पर सामाजिक स्तर एवं आर्थिक उत्तराधिकार का प्रश्न है, निश्चित रूप से दोनों की स्थितियों में अन्तर है। साधारण तौर पर माना गया है कि जिस प्रकार आत्मा एवं पुत्र में कोई भेद नहीं है, उसी प्रकार पुत्र एवं पुत्री में भेद नहीं है। किन्तु उत्तराधिकार आदि के सम्बन्ध में यह समानता नहीं है। यदि पुत्री परिवार में पुत्र से ज्येष्ठ है तब भी मनु सम्पत्ति के विभाजन में उसके अधिकार को स्वीकार नहीं करते हैं। विवाह के समय माता की जो सम्पत्ति अपने पिता के घर से प्राप्त होती है, उसपर अविवाहित कन्याओं का अधि-

---

१– य एतेऽभिहिताः पुत्राः प्रसङ्गादन्यबीजजाः।
यस्य ते बीजतो जातास्तस्य ते नेतरस्य तु॥
यादृशं फलमाप्नोति कुप्लवैः संतरञ्जलम्।
तादृशं फलमाप्नोति कुपुत्रैः सन्तरंस्तमः॥ मनु ९. १८१; १६१,

× पुत्रों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए द्रष्टव्य हरिदत्त वेदालंकार, हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० ३८१–४१७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार मनुस्मृति में स्वीकार किया गया है। मनुस्मृति का यह भी आवेश है कि अविवाहित बहनों के विवाह निमित्त प्रत्येक भाई अपनी सम्पत्ति में से कुछ अंश प्रदान करे। जो भाई चतुर्थांश तक उसके विवाह निमित्त नहीं प्रदान करते हैं, वे पतित होते हैं। विवाह के लिए वर पक्ष से कन्या के बदले में किसी प्रकार भी कोई धन लेना मनुस्मृति को अमान्य है। शूद्रों के लिए भी कन्या-विक्रय वर्जित है।[१]

माता-पिता का स्थान

मनु की समाज-व्यवस्था पितृमूलक है। पितृमूलक व्यवस्था के कारण स्वाभाविक रूप से स्त्रियों की सामान्य स्थिति पुरुष की तुलना में अवश्य कुछ हीन है। लेकिन जहाँ तक माता की स्थिति का प्रश्न है वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। ऋग्वेद काल से ही पिता की स्थिति भारतीय समाज में बहुत महत्त्वपूर्ण रही है। मनुस्मृति का मत है कि पिता के प्रति पूर्ण आदर व्यक्त किया जाना चाहिए। परिवार का वह प्रथम पुरुष है, जिसके प्रति बच्चों को पूर्ण प्रतिष्ठा की भावना रखनी चाहिए।[२] मनुस्मृति में यह भी कहा गया है कि पिता अपने पुत्र का गुरु है। माता-पिता अपने पुत्र के सुधार के लिए ताड़ना देने के अधिकारी माने गये हैं। परन्तु यह भी कहा गया है कि उसको पृष्ठ भाग में ही मारना चाहिए।[३] माता का स्थान अत्यन्त उच्च माना गया है। मनुस्मृति में स्पष्ट रूप से वर्णित है कि माता आदर में पिता से हजार गुना अधिक महत्त्वपूर्ण है और उसे अधिक प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए।[४] माता को पिता एवं आचार्य दोनों की तुलना में अधिक श्रद्धेया मानकर मनु ने स्त्री की दुर्बलता को नैतिक शक्ति का संबल दिया है।

स्त्री का स्थान

धर्मशास्त्रों में परिवार व्यवस्था पुरुष प्रधान है। इसलिए परिवार

१— आददीत न शूद्रोऽपि शुल्कं दुहितरं ददन् ॥
शुल्कं हि गृह्णन्कुरुते छन्नं दुहितृविक्रयम् ॥ मनु, ९, ९८,

२— उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्त्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥ मनु, २, १४५,

३— अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः।
गुरौ वसन्सञ्चिनुयाद् ब्रह्माधिगमिकं तपः ॥ मनु, २, १६४,

४— मनु, २, १४५,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में जो स्थान पुरुष को प्राप्त हुआ है वह स्थान स्त्रियों को प्राप्त नहीं है। परिवार में पुरुष, पति, पिता, ससुर, पुत्र, भाई, देवर आदि के रूप में आता है। जब कि परिवार में स्त्री, पत्नी, माता, सास, बहन, भाभी, नन्द आदि के रूप में आती है। इन दोनों के सम्बन्धों को देखने से ऐसा लगता है कि सर्वत्र नारी की अपेक्षा पुरुष को अधिक अधिकार मिला है।

परिवार में नारी की वास्तविक स्थिति का मूल्यांकन धर्मशास्त्रों के नारी के प्रति सामान्य दृष्टि को ध्यान में रखते हुए करना अधिक उपयुक्त लगता है। अतः संक्षेप में यहाँ धर्मशास्त्र के समाज में नारी की स्थिति का चित्रण करना अप्रासंगिक न होगा।

मनुस्मृति के अनुसार समाज में स्त्रियों का पद पुरुषों की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण माना गया है। मनु का कहना है कि स्त्री को पूर्ण स्वतन्त्र कभी नहीं छोड़ना चाहिए। बालपन में स्त्री, पिता के अधीन रहे, युवती होने पर पति के अधीन रहे. और जब उसके पति का देहान्त हो जाय तो वह अपने पुत्र के अधीन रहे।[१] इस प्रकार स्त्री कभी स्वतन्त्र नहीं रह सकती। परन्तु स्त्री को चाहिए कि वह पिता, पति और पुत्र, पुत्री तथा माता के प्रति अच्छा और उदार व्यवहार करे। मरण पर्यन्त स्त्री-पुरुष का धर्म, अर्थ और काम विषयक कार्यों में कभी पृथकत्व न हो। यही स्त्री-पुरुष का धर्म है। स्त्री का मुख्य कार्य घर की व्यवस्था करना है। मनु ने एक प्रकार से विवाह के अवसर पर धन ग्रहण करने अर्थात् पुत्री बेचने की खुली निन्दा की है परन्तु स्त्री धन पर स्त्री का पूर्ण अधिकार बताया है।

याज्ञवल्क्य के अनुसार भी कुमारी की रक्षा पिता करे, विवाहित होने पर पति, बुढ़ापे में पुत्र और इनमें से कोई न हो तो जाति के लोग रक्षा करें।[२] याज्ञवल्क्य के मत में स्त्रियों का उचित स्थान घर ही है। सेलेटोरे के अनुसार मनु ने स्त्रियों का पद पुरुषों से नीचा रखा है ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने स्त्री को जीवन भर आश्रित ही माना है।[3] प्रायः ऐसी ही स्थिति स्त्री को याज्ञवल्क्य ने भी प्रदान की है। किन्तु डा० जायसवाल का

१— पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥ मनु, ९, ३,

२— याज्ञवल्क्यस्मृति, आचाराध्याय, ८५

३— बी० ए० सेलेटोरे, एन्शियेन्ट इण्डिया पालिटिकल थाट एण्ड इंस्टीट्यूसन पृष्ठ १६१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मत है कि मानव-धर्मशास्त्र में स्त्री को प्रायः भुला सा दिया गया है। याज्ञवल्क्यस्मृति में स्त्री को कानूनी व्यक्ति माना गया है उसे सम्पत्ति के उत्तराधिकारिणी बतलाया गया है।[१]

स्त्रियों के सम्बन्ध में मनु के विचार बहुत उत्तम हैं। उन्होंने नारी को पूजनीय माना है, उनका कहना है कि अपना अधिक कल्याण चाहने वाले कन्या के पिता, भाई, पति और देवर को चाहिए कि वे सदा (विवाहोपरान्त भी) कन्या का पूजन, आदर सत्कार करें और उसे वस्त्राभूषण से अलंकृत करते रहें क्यों कि जिस कुल में स्त्रियों की पूजा होती है उस कुल पर देवता प्रसन्न हो जाते हैं। अतः स्त्रियों का अनादर कभी भी नहीं करना चाहिए। जिस कुल में स्त्रियां (स्त्री, पुत्रवधू, बहन, भाँजी, कन्या आदि) शोक करती हैं वह कुल शीघ्र ही नष्ट हो जाता है और जिस कुल में ये प्रसन्न रहती हैं, वह कुल सदा उन्नति करता है। ये स्त्रियां अनादर पाकर जिस घर को शाप देती हैं, उस घर के धन-धान्य, परिवार आदि सभी नष्ट हो जाते हैं, इसीलिए इनका अनादर कभी भी नहीं करना चाहिए। उन्नति चाहने वाले मनुष्यों को यज्ञोपवीत आदि उत्सवों पर इन स्त्रियों का वस्त्राभूषण और भोजन आदि से विशेष आदर सत्कार करना चाहिए।[२] जिस कुल में स्त्री से पति और पति से स्त्री सन्तुष्ट रहती है उस कुल में अवश्य ही सर्वदा कल्याण होता है। तथा उनके अप्रसन्न रहने पर सम्पूर्ण कुल मलिन हो जाता है।[३] स्त्रियों को साधारणतया प्रसङ्गो (दुःशीलता, सम्पादक अवसरों) में विशेष रूप से बचना चाहिए क्योंकि अरक्षित स्त्रियां पिता तथा पति दोनों कुलों को सन्तप्त करती हैं।[४] यही नहीं नारी की महत्ता इस प्रसंग से और भी स्पष्ट हो जाती है जब मनु यह कहते हैं कि केवल पुरुष कोई चीज नहीं होता है अर्थात् वह अपूर्ण रहता है। पुरुष अपने देह, पत्नी

1—"The Code of Manu practically ignores women, because that was the view of the old common law. The code of Yajnavalkya treats her as a useful legal person : it allows her to inherit." K. P. Jayaswal, Op. Cit, Introduction P. XXI.

२— मनु, ३, ५५—५९,

३— मनु ३, ६०—६२,

४— सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसङ्गेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः।
द्वयोर्हि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः ॥ मनु, ९, ५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और सन्तान इन तीनों से मिलकर बनता है, अकेला वह सम्पूर्ण पुरुष नहीं कहा जा सकता।[1]

अभी तक ऊपर जो भी कुछ कहा गया है, उसमें नारियों के विषय में बड़े सम्मान पूर्वक भाव प्रकट किये गये हैं। लेकिन धर्मशास्त्रों में कुछ ऐसे उद्धरण भी हैं जो स्त्रियों को नीच बतलाते हुये उसके प्रति तुच्छता और घृणाभाव उत्पन्न किये बिना नहीं रह सकते। मनु ने नारियों के स्वभाव पर बहुत कठोर लांछन लगाया है और कहा है कि नारियों में भोग करने की इच्छा इतनी प्रबल होती है कि वे रूप, सौन्दर्य, आयु किसी बात की परवाह किये बिना 'पुरुष' समझ कर भोग करने लग जाती हैं।[2] पुरुष को देखते ही उनका चित्त चंचल हो उठता है। उनका चित्त सदा अस्थिर रहता है उनमें स्नेह या प्रीति का सर्वथा अभाव रहता है। इसलिए कितनी भी इन स्त्रियों की रक्षा की जाय वे पतियों के ऊपर विकार भाव ही उत्पन्न करती हैं।[3] स्त्रियों का जात-कर्मादि संस्कार मन्त्रों से नहीं होता यह धर्मशास्त्र की मर्यादा है। धर्म प्रमाण श्रुति-स्मृति से हीन और पापनाशक मन्त्रों के जाप का अधिकार न होने से ये स्त्रियां असत्य के समान अपवित्र हैं।[4]

मनु की व्यवस्था में स्त्रियों के विषय में जो कुछ भी कहा गया है उसके विवेचन में एक तार्किक विरोधाभास सामान्य रूप से परिलक्षित होता है वह है मनु के प्रत्येक कथन का सामान्यीकरण। जैसे—यह कथन कि शैय्या, आसन, अलंकार, काम, क्रोध, कुटिलता, द्रोह एवं दुराचार स्त्रियों की विशेषता है।[5] इसका यह अर्थ नहीं कि मां के रूप में मनु स्त्री के वात्सल्य, करुण तथा स्वार्थहीनता एवं पत्नी के रूप में पूर्ण समर्पिता एवं प्रेयसी

१— एतावानेव पुरुषो यज्जायाऽऽत्माप्रजेति ह।
विप्राः प्राहुस्तथा चेतद्यो भर्ता सा स्मृताङ्गना॥ मनु, ९. ४५,

२— नैता रूपं परीक्षन्ते नासां वयसि संस्थितिः।
सुरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येव भुञ्जते। मनु, ९, १४,

३— पौंश्चल्याच्चलचित्ताच्च नैस्नेह्याच्च स्वभावतः।
रक्षिता यत्नतोऽपीह भर्तृष्वेता विकुर्वते॥ मनु ९, १५,

४— नास्ति स्त्रीणां क्रिया मन्त्रैरिति धर्मे व्यवस्थितिः।
निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च स्त्रीभ्योऽनृतमिति स्थितिः॥ मनु, ९, १८,

५— शय्याऽऽसनमलङ्कारं कामं क्रोधमनार्जवम्।
द्रोहभावं कुचर्यां च स्त्रीभ्यो मनुरकल्पयत्॥ मनु, ९, १७,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के रूप में अनेक आख्यानों में त्याग की देवी के रूप में वर्णित स्त्री के पक्षों की अवहेलना करते हैं । तार्किक रूप से इन कथनों का यही अर्थ है कि स्त्रियों में इन गुणो एवं इनमें से किसी एक गुण की प्रधानता की सम्भावना है ।

भाई, बहन तथा अन्य सम्बन्धी

धर्मशास्त्रों के परिवार की अवधारणा में पिता के बाद बड़े भाई का स्थान महत्वपूर्ण है । पिता के अभाव में सम्पूर्ण परिवार के भरण-पोषण का दायित्त्व बड़े भाई का है । इसलिए धर्मशास्त्रों में उसे पिता तुल्य माना गया है तथा उसे कुछ विशेषाधिकार भी दिया गया है । मनु ने यह स्पष्ट कहा है कि बड़ा भाई उसी प्रकार छोटे भाइयों का पालन करे जिस प्रकार पिता अपने पुत्रों का करता है ।[१] इस कर्त्तव्य के लिए बड़े भाई को यह अधिकार प्राप्त है कि वह छोटे भाइयों से उसी प्रकार सम्मान प्राप्त करे जिस प्रकार पिता पुत्रों से प्राप्त करता है ।[२] मनु ने यह भी कहा है कि ज्येष्ठ पुत्रों के उत्पन्न होने से ही मनुष्य पुत्रवान होता है अतः सम्पूर्ण पैतृक सम्पत्ति ज्येष्ठ पुत्र को ही प्राप्त होनी चाहिए । बड़े भाई को पिता की समस्त सम्पत्ति तथा उत्तराधिकार मिलना चाहिए तथा अन्य छोटे भाइयों को उसीपर अवलम्बित रहना चाहिए ।[३] बड़े भाई के विशेष अधिकार का समर्थन गौतम,[४] बौधायन[५] और आपस्तम्ब[६] ने भी किया है ।

१– पितेव पालयेत्पुत्रान्जयेष्ठौ भ्रतुन्यवीयसः ।
पुत्रवच्चापि वर्तेरन्ज्येष्ठे भ्रातरि धर्मतः ॥ मनु ९, १०८,

२– ज्येष्ठः कुलं वर्धयति विनाशयति वा पुनः ।
ज्येष्ठः पूज्यतमो लोके ज्येष्ठः सद्भिरगर्हितः ॥
यो ज्येष्ठो ज्येष्ठवृत्तिः स्यान्मातेव स पितेव सः ।
अज्येष्ठवृत्तिर्यस्तु स्यात्स संपूज्यस्तु बन्धुवत् ॥ मनु ९, १०९, ११०,

३– ज्येष्ठ एव तु गृहीयात्पित्र्य धनमशेषतः ।
शेषास्तमुपजीवेयुयथैव पितरं तथा ।
ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्रो भवति मानवः ।
पितृणामनृणश्चैव स तस्मात्सर्वमंहति ॥ मनु ९, १०५, १०६,

४– गौतम, २८, ३-४,

५– बो॰ ध॰ सू॰ २, ३, १३

६– आ॰ ध॰ सू॰, २, १४, ६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बड़े भाई का जिस प्रकार छोटे भाइयों के प्रति कर्त्तव्य है उसी प्रकार पिता के न रहने पर बहन के प्रति भी कर्त्तव्य है। पिता की अनुपस्थिति में बहन के विवाह सम्बन्धी सम्पूर्ण कार्य भाई को ही करना होता है। भाई का इतना महत्त्व है कि मनु ने मातृरहित कन्या से विवाह न करने का निर्देश दिया है।[१]

कुल्लूक ने भी यह स्पष्ट किया है कि जिस कन्या के पिता की जानकारी न हो और भाई न हो उससे विवाह नहीं करना चाहिए। भाई हीन कन्या से न विवाह करने का यह भी तर्क कुल्लूक ने दिया है कि ऐसी कन्या से प्रायः पुत्रियां जन्म लेंगी। इसलिए भ्रातृरहित कन्या से विवाह नहीं करना चाहिए। मनु की इस व्यवस्था का समर्थन याज्ञवल्क्य[२] तथा आश्वलायन[३] ने भी किया है।

ननद और भाभी का मधुर सम्बन्ध भारतीय संस्कृति में विशेषकर साहित्य और लोकगीतों में वर्णित है किन्तु धर्मशास्त्रों में इसकी कोई चर्चा उपलब्ध नहीं होती।

ननद, भाभी के समान देवर और भाभी का सम्बन्ध भी एक प्रिय सम्बन्ध है जिसमें परिवार की प्रतिष्ठा सुरक्षा और विनोद तीनों का समावेश है। यास्क ने तो देवर शब्द की व्याख्या करते हुए देवर–द्वितीयवर कहा है।[४] प्रायः धर्मशास्त्रकारों ने पति के अभाव में पुत्रहीन नारी को अपने देवर से नियोग कर पुत्र उत्पन्न करने की अनुमति प्रदान की है[५]। किन्तु धर्मशास्त्रकारों ने इस सम्बन्ध को मर्यादित करने के लिए यह प्रतिबन्ध लगाया है कि नियोग का प्रयोग केवल पुत्रोत्पत्ति मात्र के लिए किया जाना चाहिए, काम-वासना की तृप्ति के लिए नहीं[६]।

१– यस्यास्तु न भवेद् भ्राता न विज्ञायेत वा पिता।
नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशङ्कया॥ मनु ३, ११,

२– याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय, ५३

३– आश्वलायन, वीर मित्र संस्कार प्रकाश, पृष्ठ ४३४,

४– निरुक्त, ३; १५

५– देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ् नियुक्तया।
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये॥ मनु ९, ५९,
याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय ६८, ६९; बोधायन ध० सू० २. ४. १-९,

६– मनु ९. ६०-६८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी प्रकार परिवार के सम्बन्धों में बहू, का ससुर और सास के साथ सम्बन्ध भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। सास, ससुर के प्रति बहू के अनेक कर्त्तव्यों का उल्लेख किया गया है। जिसका वर्णन महाभारत के अनेक उपाख्यानों में उपलब्ध होता है[१]। किन्तु स्मृतियों में इसकी चर्चा उपलब्ध नहीं होती।

विवाह

धर्मशास्त्रों में विवाह एक धार्मिक संस्कार के रूप में स्वीकृत है। समाज दर्शन की दृष्टि से समाज की प्रथम इकाई परिवार के सर्जन में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। सभी प्रकार के समाज में सामाजिक व्यवस्था के लिए विवाह किसी न किसी रूप में स्वीकृत है। किन्तु धर्मशास्त्रों के समाज दर्शन में इसका न केवल शारीरिक, मानसिक और सामाजिक महत्त्व है। अपितु इसका धार्मिक और आध्यात्मिक महत्त्व भी स्वीकार किया गया है। आश्रम व्यवस्था में ब्रह्मचर्याश्रम से गृहस्थाश्रम में प्रवेश की प्रथम सीढ़ी विवाह है। इसके द्वारा ही व्यक्ति गृहस्थाश्रम में पदार्पण करता है। ऐसे तो धर्मशास्त्रों में आश्रमों के सम्बन्ध में विकल्प बाध और समुच्चय सिद्धान्तों की चर्चा की गई है और ब्रह्मचर्य के बाद कहीं-कहीं सीधे वानप्रस्थ या सन्यास को भी अनुमोदित किया गया है। किन्तु बहुमत आश्रमों के समुच्चय पक्ष का समर्थक प्रतीत होता है। इस दृष्टि से ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश के लिए विवाह एक अनिवार्य धार्मिक संस्कार का रूप धारण कर धर्मशास्त्रों के समाज-दर्शन में आता है।

मनु ने तो यहाँ तक कहा है कि पुरुष अकेले पूर्ण पुरुष नहीं है वह अधूरा है उसे पूर्ण होने के लिए अपने शरीर के साथ अपने अर्धांगिनी की आवश्यकता है और इन दोनों का मिल जाना ही पुरुष की पूर्णता नहीं है अपितु इन दोनों के सम्बन्ध से उत्पन्न पुत्र से ही इन्हें पूर्णता प्राप्त होती है। इस प्रकार स्त्री, स्वदेह और पुत्र ये तीनों मिलकर पूर्ण पुरुष बनता है। वास्तव में पति और पत्नी दो नहीं हैं जो पति है वही पत्नी है, और जो पत्नी है वही पति है ये दोनों एक ही पुरुष के दो अर्धाङ्ग हैं[२]। समस्त आश्रमों का मूल गृहस्थाश्रम और गृहस्थाश्रम का मूल विवाह है। इसलिए विवाह सभी आश्रमों को आश्रय देने वाला धार्मिक संस्कार और धार्मिक

१— हरिदत वेदालंकार, हिन्दू परिवार मीमांसा, पृष्ठ २१७-१८

२—एतावानेव पुरुषो यज्जायाऽऽत्मा प्रजेति ह।
विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्ता सा स्मृताङ्गना॥ मनु, ९.४५,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्था है। घर पुरुष से नहीं स्त्री से शोभा और सम्पन्नता प्राप्त करता है। स्त्री से ही बढ़ता और विकसित होता है। इसलिये गृहस्थ जीवन का मूल विवाह है। विवाह स्त्री और पुरुष का केवल मिलन ही नहीं है अपितु उन दोनों की सामाजिक और आध्यात्मिक पूर्णता का भी आधार है[१]

धर्मशास्त्रों में विवाह का शाब्दिक अर्थ वधू को उसके पिता के घर से विशेष रूप से ले जाना है अथवा वधू को किसी विशेष कार्य के लिए अर्थात् पत्नी बनाने के लिए ले जाना है।[२] धर्मशास्त्रों में विवाह के लिए अनेक शब्द प्रचलित हैं जिनका कुछ विशेष तात्पर्य है जैसे उद्वाह, परिणय, उपयम, पाणिग्रहण आदि।

उद्वाह का अर्थ है-वधू को उसके पिता के घर से ले जाना; परिणय का अर्थ है-चारो ओर घूमना अर्थात् अग्नि की परिक्रमा करना अथवा प्रदक्षिणा करना; उपयम का अर्थ है- किसी को निकट लाकर उसे अपना बनाना तथा पाणिग्रहण- का अर्थ है, वधू का हाथ ग्रहण करना ।[३] विवाह का मूल अर्थ वर द्वारा वधू को अपने घर ले जाने से है किन्तु अपने रूढ़िगत अर्थ में विवाह उन सभी समारोहों और कर्मकाण्डों का प्रतीक है जो वर-रक्षा से लेकर द्विरागमन और सुहाग रात तक किये जाते हैं तथा जिनके द्वारा नर नारी समाज द्वारा मान्य पति-पत्नी के सम्बन्ध में बधकर माता-पिता की भूमिका ग्रहण करते हैं और परस्पर सामाजिक आभारों और अधिकारों को निभाते हैं। विवाह का यह मूल रूप विभिन्न रूपों में विकसित हुआ।[४] धर्म शास्त्रों में विवाह साधारणतया प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य माना गया है क्यों कि इसके बिना अनेक धार्मिक कृत्यों का सम्पादन सम्भव नहीं है। पितृ ऋण से मुक्ति के लिए तथा गृहस्थ धर्म के पालन के लिए भी इसकी अनिवार्यता सिद्ध है।

१- प्रजनार्थ महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषुन न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥
यथा वायुं समाश्रित्य वर्वन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥ मनु, ९, २६, ३, ७७,

२- प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृष्ठ २५०

३- एवमुपयमन पाणिग्रहण शब्दात्परिणयन शब्दोऽपि दण्डिन्यार्थनेव कर्म समुदाये शास्त्रेषु प्रयुज्यते। अपरार्क, पृष्ठ ९५

४- ए० एम० कपाड़िया, मैरेज एण्ड फेमिली इन इण्डिया, पृष्ठ १६८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवाह के उद्देश्य

भारतीय सामाजिक परिवेश में विवाह का उद्देश्य अत्यन्त पवित्र एवं गौरवशाली है इसके माध्यम से मनुष्य अपने समस्त सामाजिक, धार्मिक एव आध्यात्मिक कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों का निर्वाह करता है । धर्मशास्त्रों में धर्म का अनुष्ठान, पुत्र की प्राप्ति एवं रति का सुख विवाह के प्रधान उद्देश्य माने गए हैं ।[1] वस्तुतः मनुष्य को धर्म सुख, पुत्र सुख, और रति सुख विवाह से ही समुचित रूप में उपलब्ध होते हैं ।

धर्म का अनुष्ठान

विवाह का प्रथम उद्देश्य धार्मिक कृत्यों का सम्पादन है, जो पत्नी के रहने पर ही सम्भव होता है। बिना पत्नी के व्यक्ति का कोई भी धार्मिक कृत्य पूरा नहीं माना जाता क्यों कि सभी धार्मिक कार्यों में पत्नी की उपस्थिति अपेक्षित है ।

ऋग्वेद काल से ही यह मान्यता रही है कि विवाह ही व्यक्ति को गृहस्थ बनाता तथा देवताओं के निमित्त यज्ञ करने की योग्यता प्रदान करता है ।[2] पति के जीवन में पत्नी की अनिवार्यता को देखते हुए याज्ञवल्क्य ने पत्नी के मरने के बाद धार्मिक कार्यों के निमित्त दूसरे विवाह का समर्थन किया है ।[3]

धार्मिक कार्यों में यज्ञों का महत्त्व सर्वाधिक है। गृहस्थाश्रम के लिए पांच प्रकार के यज्ञों का विधान किया गया है। जैसे- ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, नृयज्ञ और अतिथियज्ञ। इन यज्ञों के सम्पन्न करने में मनुष्य के साथ उसकी पत्नी का होना अनिवार्य माना गया है। इन पञ्च महायज्ञों के अतिरिक्त इष्टि के सम्पादन में भी पत्नी की आवश्यकता होती है। इष्टि वह यज्ञ है जिसको यजमान अपनी पत्नी के द्वारा चार पुरोहितों की सहायता से सम्पादित करता है ।[4] अग्निहोत्र के लिए भी पत्नी का होना आवश्यक माना गया है क्यों कि यह यज्ञ गृहस्थ ही कर सकता है। अग्निहोत्र को

१- अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह ॥ मनु, ९.२८

२- ऋग्वेद, ८, ३६

३- याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय, ६ ८९

४- पी० वी० काणे, प्रथम भाग, पृष्ठ ५१३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रातः एवं सायं दो बार जीवन पर्यन्त या सन्यासी होने तक करने का विधान है ।[१] इसी प्रकार अन्य यज्ञों और धार्मिक कृत्यों में पत्नी को पति के साथ बैठने का विधान किया गया है। पद्मपुराण में यह स्पष्ट किया गया है कि जो व्यक्ति अपनी गुणवती, सहधर्मिणी पत्नी को त्यागकर धार्मिक कृत्य करता है उसका समस्त धर्म निष्फल हो जाता है।[२] पाणिनी के प्रयोग से भी यह विदित होता है कि यज्ञ में साथ बैठने वाली स्त्री को ही पत्नी कहा जाता है।[३]

इन विशुद्ध धार्मिक कृत्यों के अतिरिक्त गृहस्थ जीवन में अनेक धार्मिक संस्कार अनुष्ठान, पूजा, व्रत आदि करने का विधान है। इन समस्त कृत्यों में पत्नी का होना अनिवार्य माना गया है तथा पत्नी हीन व्यक्ति को जब तक दूसरा विवाह न कर ले इन कृत्यों के अयोग्य कहा गया है।

पुत्र प्राप्ति

विवाह का दूसरा उद्देश्य पुत्र की प्राप्ति है। प्राचीन काल में जब स्नातक विद्या प्राप्त करके गुरुकुल से विदा होने लगता था तो उसको अन्य उपदेशों के साथ गुरु यह भी उपदेश देते थे कि "प्रजातन्तु मा व्यवच्छेत्सीः" अर्थात् प्रजातन्तु सन्तानोत्पादन के क्रम को मत काटना, जिस प्रकार तुम्हारे पूर्वज सन्तति छोड़ गए हैं वैसे तुम भी सन्तति का प्रसार करो।[४] शास्त्रकारों ने सम्भवतः सामाजिक हित को दृष्टि में रखकर ही पुत्र प्राप्ति को इतना धार्मिक महत्त्व दिया है। ऐसा कहा गया है कि पुत्रहीन व्यक्ति का समाज में कोई स्थान नहीं है और न उसका दूसरा उत्तम लोक ही है। इस लिए पुत्र को दूसरा लोक बनाने वाला भी कहा जाता है।[५] पुत्र उत्पन्न होने से ही वह पिता बनता है और पिता बनने से वह पितृ ऋण से मुक्त होता है। सन्तति के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए मनु ने कहा है कि पिता, पुत्र के होने से स्वर्ग आदि उत्तम लोकों को प्राप्त करता है, पौत्र से उन लोकों में अनन्तकाल तक निवास करता है तथा प्रपौत्र से सूर्यलोक को प्राप्त

१– पी० वी० काणे, प्रथम भाग पृष्ठ ५१७
२– पद्मपुराण, २, ५, ९, ८-३२
३– पाणिनी, ४, १, १३ पत्युर्नो यज्ञ संयोगे।
४– मुखर्जी, भारतीय सामाजिक संस्थाएं, पृष्ठ ३६४
५– तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३, ७, ७, १०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करता है।[१] वैदिक साहित्य, मनुसंहिता तथा महाभारत में पुत्र शब्द की व्युत्पत्ति से यह दिखलाया गया है कि पुत्र वह है जो पिता को "पुं" नामक नरक से त्राण दिलाए या बचाए। पुत्र ही तर्पण और पिण्डदान के द्वारा पितरों को शांति प्रदान करता है। इसलिए यह माना गया है कि पितृयज्ञ के लिए पुत्र का होना अनिवार्य है। पितृ यज्ञ का दूसरा नाम 'श्राद्ध' है। धर्मशास्त्रों में सामाजिक विकास तथा धर्म सम्पादन एवं पिण्डदान के द्वारा परलोक में शुभगति के लिए पुत्र की उत्पत्ति को अनिवार्य माना गया है। इसलिए सामाजिक कृत्य की अपेक्षा इसे धार्मिक कृत्य समझा जाता है। पुत्रोत्पत्ति और पुत्र की मान्यता विवाह द्वारा प्राप्त स्त्री से ही सम्भव है, इसलिए पुत्र उत्पत्ति या सन्तान उत्पत्ति को विवाह का एक प्रमुख लक्ष्य माना गया है।

रति

मैथुनेच्छा प्राणी मात्र की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। मानव अपने समाज में व्यवस्था लाने के लिए इसे एक नियन्त्रित रूप में स्वीकार करता है तथा इसे सामाजिक मान्यता प्रदान करता है। सभी समाजों में विवाह का प्रमुख उद्देश्य यही माना गया है क्योंकि यह स्वाभाविक सम्बन्ध पर आधारित है। मैथुनेच्छा की पूर्ति के लिए विवाह एक सुसभ्य और सुसंस्कृत माध्यम है। स्त्री-पुरुष के मिलन में जो आनन्द होता है उसे रतिसुख कहा जाता है। इस आनन्द को वैदिक युग से अत्यधिक महत्त्व प्राप्त है।[२] मनु ने भी विवाह के उद्देश्यों में रतिसुख के महत्त्व को स्वीकार किया है।[३] वात्स्यायन ने कामशास्त्र में रति के महत्त्व को तथा उसमें प्राप्त होने वाले सुख का विस्तार से वर्णन किया है। उन्होने काम की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों का विवेचन कर यह बतलाया है कि काम मानव जीवन का एक स्वाभाविक लक्ष्य होते हुए आदर्शात्मक लक्ष्य भी है।[४] धर्मशास्त्रों में धर्मानुमोदित काम सुख या रति सुख को ही महत्त्व दिया गया है जो विवाह द्वारा प्राप्त पत्नी

१– पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते।
अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम्॥ मनु ९, १३७,

२– बृहदारण्यक उपनिषद्, ४, ३, २१

३– अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह॥ मनु ९, २८,

४–वात्स्यायन, काम शास्त्र।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से ही सम्भव है।[1]

विवाह के प्रकार

धर्मशास्त्रों में विवाह के आठ प्रकार माने गए हैं, जैसे—ब्राह्मण, प्राजापत्य, आर्ष, देव, गान्धर्व, आसुर, राक्षस एवं पैशाच।[2] किन्तु इनके नाम और क्रम में धर्मशास्त्रों में काफी मतभेद है। कुछ स्थलों पर ब्राह्मदेव, आर्ष एवं प्राजापत्य, कुछ अन्य स्थलों पर ब्राह्मदेव, प्राजापत्य एव आर्ष आया है।[3] आश्वलायन ने पैशाच को 'राक्षस" से पहले रखा है। मानव गृहसूत्र में ब्राह्म और शौल्क (आसुर) दो ही नामों की चर्चा है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र ने प्राजापत्य और पैशाच को छोड़कर केवल छः प्रकार के विवाहों की चर्चा की है। वशिष्ठ धर्मसूत्र में ब्राह्म, देव, आर्ष, गान्धर्व, क्षात्र एवं मानुष (अन्तिम दो क्रमशः राक्षस एवं आसुर के सूचक हैं) का ही उल्लेख है। याज्ञवल्क्य ने प्राजापत्य को काय विवाह भी कहा है। इन आठ प्रकार के विवाहों में मनु ने ब्राह्मण के लिए प्रारम्भ से छः विवाह (ब्रह्म, देव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर और गान्धर्व), क्षत्रिय के लिए अन्त वाले चार प्रकार के विवाह (आसुर, गान्धर्व, पैशाच और राक्षस) तथा वैश्य एवं शूद्र के लिए राक्षस रहित केवल तीन प्रकार के विवाह (आसुर, गान्धर्व और पैशाच) का विधान किया है। मनु ने अन्य मत का उल्लेख करते हुए ब्राह्मण के लिए प्रथम चार विवाह (ब्राह्म, देव, आर्ष एवं प्राजापत्य) को प्रशस्त विवाह माना है। क्षत्रिय के लिए एक राक्षस विवाह तथा वैश्य एवं शुद्र के लिए केवल आसुर विवाह को श्रेष्ठ माना गया है। अन्त वाले विवाह के पांच प्रकारों में (प्राजापत्य, आसुर, राक्षस, पैशाच) से तीन प्रकार के विवाह (प्राजापत्य, गान्धर्व एवं राक्षस) धर्मयुक्त कहे गये हैं। दो प्रकार के विवाह आसुर और पैशाच अधर्मयुक्त माने गए हैं। इसलिए मनु का निर्देश है कि आसुर और पैशाच को कभी भी स्वीकार नहीं करना

१—परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च॥ मनु, ४.१७६,
कौटिल्य अर्थशास्त्र, १.७

२—ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥ मनु, ३.२१,
बौधायन, १.११, गौतम, ४.६; याज्ञवल्क्य, आचारा०, ५८

३—पी० वी० काणे, पृष्ठ २९६ प्रथम भाग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहिए। विकल्प के रूप में मनु ने गान्धर्व तथा राक्षस विवाह को अलग-अलग या मिले जुले रूप में क्षत्रिय के लिए धर्मयुक्त माना है।[१]

ब्राह्म विवाह

ब्राह्म विवाह वह है जिसमें पिता किसी योग्य वेद पारंगत, सच्चरित्र तथा श्रुतिशीलवान वर को आमन्त्रित कर आभूषणों से युक्त कन्या को दान में देता है।[२] इस सम्बन्ध में आपस्तम्ब का कहना है कि ब्राह्म विवाह मे वर के कुल आचरण, धर्म में आस्था, विद्या, स्वास्थ्य के विषय में जानकारी प्राप्त कर पिता अपनी शक्ति के अनुसार कन्या को वस्त्राभूषणों से अलंकृत करता है तथा प्रजा की उत्पत्ति तथा साथ-साथ धर्म सम्पादन के लिए वर को कन्या प्रदान करता है।[३] ब्राह्म विवाह में याज्ञवल्क्य ने वर को बुलाकर कन्या को यथा शक्ति आभूषण आदि से अलंकृत कर प्रदान करने की बात कही है। इस विवाह की प्रशंसा में याज्ञवल्क्य का कहना है कि इस विवाह से उत्पन्न पुत्र अपने से पूर्व दस पीढ़ी तथा आगे वाली दस पीढ़ी एवं अपने को स्वयं मिलाकर कुल इक्कीस पीढ़ियों को पवित्र करता है।[४]

ब्राह्म विवाह का विश्लेषण करने पर निम्नलिखित पहलू दृष्टिगोचर होते हैं। कन्या के माता-पिता के द्वारा वर का चयन तथा उसे आमन्त्रित करना;, कन्या को अपनी शक्ति के अनुसार वस्त्र आभूषण अलंकार आदि प्रदान करना तथा धर्म और सन्तानोत्पत्ति की विवाह का मुख्य प्रयोजन स्वीकार करना। इस विवाह में दोनों पक्ष में किसी पर किसी प्रकार का दबाव नहीं होता अपितु दोनों पक्षों की स्वतंत्र सहमति होती है।

देव विवाह

जब पिता यज्ञ कराने वाले किसी पुरोहित को वस्त्राभूषण से अलंकृत एवं सुसज्जित अपनी कन्या का दान करता है तो उसे देव विवाह कहा जाता है।[५] आपस्तम्ब के अनुसार इस विवाह में पिता कन्या को किसी एक

१-मनु, ३.२३-२६

२-आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम्।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः॥ मनु, ३.२७

३-ब्राह्मे विवाहे बन्धुशील लक्षण सम्पन्न श्रुतारोग्याणि बुध्वा प्रजां सहत्वकर्मभ्यः प्रतिपादयेच्छक्ति विषयेणाऽलंकृत्य॥ आपस्तम्ब ध० सू०, २.१७,

४-याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय, ५८

५-यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते।
अलङ्कृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते॥ मनु, ३.२८,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऋत्विज को प्रदान करता है जो श्रौतयज्ञ का पुरोहित होता है।[1] याज्ञवल्क्य ने केवल इतना ही कहा है कि यज्ञ में अनुष्ठान कराने वाले ऋत्विज को कन्या का दान करना देव विवाह कहलाता है।[2] इस विवाह की प्रक्रिया के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि इस विवाह में कन्या पिता के द्वारा दी जाती है तथा जिस व्यक्ति को दी जाती है, वह व्यक्ति यज्ञ कराने में दक्ष होता है। कन्या के देने का अवसर भी यज्ञ ही होता है। कुछ लोगों ने उस यज्ञ को "श्रौतयज्ञ" स्वीकार किया है किन्तु मनु उसे ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ मानते हैं। याज्ञवल्क्य ने अत्यधिक सामान्य रूप से उसे केवल यज्ञ कहा है। मनु ने कन्या को वस्त्राभूषण से अलंकृत करने की बात कही है किन्तु याज्ञवल्क्य इस सम्बन्ध में मौन हैं। याज्ञवल्क्य इस विवाह की महत्ता बताते हुए कहते हैं कि इस विवाह से उत्पन्न पुत्र अपने से पूर्व सात पीढ़ियों और अपने से बाद जिसमें स्वयं भी शामिल हो, कुल चौदह पीढ़ियों को पवित्र करता है।[3]

आर्ष विवाह

जब कन्या का पिता धर्म कार्य की सिद्धि के लिए वर से एक बैल और एक गाय अथवा इनकी दो जोड़ी लेकर विधि पूर्वक कन्या का दान कर देता है तब उसे आर्ष विवाह कहते हैं।[4] यहां यह एक विचारणीय प्रश्न है कि वर से लिया गया पशु कन्या का मूल्य है अथवा नहीं। मनु के टीकाकार कुल्लूक इसे कन्या का मूल्य नहीं मानते। उनके अनुसार ये पशु या तो धर्म आदि की सिद्धि के लिए दिये जाते हैं अथवा कन्या को ही देने के लिए दिए जाते हैं, इसलिए इसे मूल्य या शुल्क मानना उचित नहीं है। जैमिनी, शबर और आपस्तम्ब भी इसे मूल्य के रूप मे स्वीकार नहीं करते हैं।[5] साधारणतया उस युग के माता-पिता के मन में यह इच्छा रहती थी कि उनकी कन्या का विवाह किसी ऋषि से हो जाए। इस बात का पता लगाना कि ऋषि विवाह के लिए उत्सुक हैं अथवा नहीं यह एक कठिन

१-आप० ध० सू०, २.१६

२-याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय, ५६

३-याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय, ५६

४-एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ॥ मनु, ३.२६,

५-वीरमित्रोदय, पृष्ठ ८५०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार्य था। उक्त दोनों में सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए धर्मशास्त्रों ने विवाह के लिए इच्छुक ऋषि से एक गाय या बैल अथवा इनके जोड़े, लेने का विधान किया है। जिससे यह प्रमाणित हो जाय कि ऋषि विवाह के लिए उत्सुक हैं। अतः वर द्वारा प्राप्त वह उपहार मूल्य नहीं कहा जा सकता। आर्ष विवाह की महत्ता बतलाते हुए याज्ञवल्क्य का कहना है कि इस विवाह से उत्पन्न पुत्र तीन पहले और तीन बाद की कुल छः पीढ़ियों को पवित्र करता है।[1]

इस विवाह की विशेषता यह है कि इसमें कन्या माता-पिता के द्वारा किसी ऋषि को दी जाती है तथा विवाह की स्वीकृति के रूप में ऋषि से कन्या का पिता बैल या गाय के जोड़े लेता है।

प्राजापत्य विवाह

इस विवाह के अन्तंगत वर की विधिवत् पूजा करके कन्या का दान दिया जाता है। तथा वर-वधू को यह निर्देश दिया जाता है कि गृहस्थ जीवन में दोनों मिलकर धर्म का आचरण करें। याज्ञवल्क्य इसे 'काय विवाह' भी कहते हैं तथा यह मानते हैं कि इस विवाह से उत्पन्न पुत्र अपनी पीढ़ी को तथा अपने पहले के छः पीढ़ी को तथा अपने बाद की छः पीढ़ी को पवित्र करता है।[२] जीवन पर्यन्त पत्नी के साथ धर्म की अभिवृद्धि की कामना, बिना पत्नी की अनुमति से दूसरा विवाह न करना तथा पारिवारिक जीवन की स्वस्थता प्राजापत्य विवाह का मूलाधार माना गया है।

आसुर विवाह

जब कन्या के माता-पिता कन्या के बदले में वर से धन या द्रव्य प्राप्त कर कन्या को विवाह के लिए उसे समर्पित करते हैं और वह उस कन्या को स्वीकार करता है तो उसे आसुर विवाह कहा जाता है।[3] आसुर और आर्ष दोनों में वर पक्ष से कुछ लेने को बात कही गई है। किन्तु आर्ष में इस बात का निषेध किया गया है कि वर से प्राप्त धन कन्या का शुल्क है। परन्तु आसुर विवाह की प्रक्रिया को देखने से यह लगता है कि यहां द्रव्य कन्या

१–याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय ५६

२–याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय, ६०

३–ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते॥ मनु, ३.३१;
याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय ६१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के मूल्य से रूप में लिया जाता है। महाभारत में यह कहा गया है कि प्रायः धन से कन्या को खरीद कर और उसके सम्बन्धियों को धन का प्रलोभन देकर जो विवाह सम्पन्न किया जाता है वह आसुर विवाह है।[१]

गान्धर्व विवाह

जब युवक और युवती परस्पर प्रेमवश अपने माता-पिता की उपेक्षा करके विवाह कर लेते हैं तब उसे गान्धर्व विवाह कहा जाता है।[२] मनु का कहना है कि वर और कन्या अपनी इच्छानुसार काम के वशीभूत होकर संयुक्त हो जाते हैं तो उसे गान्धर्व विवाह कहा जाता है। यह विवाह वर और कन्या के कामुक अभिलाषा से सम्पन्न होता है। अतः इसे मैथुन्य विवाह भी कहा गया है।[३] दुष्यन्त और शकुन्तला का विवाह गान्धर्व विवाह का महत्त्वपूर्ण उदाहरण है।[४] मनु गान्धर्व विवाह को सभी वर्णों के लिए धर्म सम्मत मानते हैं। वात्स्यायन इस विवाह को आदर्श विवाह या सर्वश्रेष्ठ विवाह मानते हैं।[५]

राक्षस विवाह

शक्ति या बल प्रयोग के द्वारा सम्बन्धियों को मारकर, घायल कर, घर द्वार तोड़कर जब रोती विलखती हुई कन्या को बल पूर्वक छीन लिया जाता है तो इस प्रकार से प्राप्त कन्या से सम्बन्ध स्थापित करने को राक्षस विवाह कहा जाता है।[६] कुल्लूक ने इस विवाह को स्पष्ट करते हुए कहा है कि कन्या का बल पूर्वक अपहरण कर लेना और उसके साथ विवाह कर लेना ही राक्षस विवाह है किन्तु यदि अपहरणकर्ता के बल और शक्ति से डर कर कन्या के माता-पिता, भाई-बन्धु अपहरणकर्ता का विरोध नहीं करते

१-महाभारत, अनुशासन पर्व ४७.३

२-बौ० ध० सू० १.११.६

३-इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः ॥ मनु, ३.३२,

४-कालीदास, अभिज्ञान शाकुन्तल

५-षडानुपूर्व्या विप्रस्य क्षत्रस्य चतूरोऽवरान्।
विट्शूद्रयोस्तु तानेव विद्याद्धर्म्यानिराक्षसान् ॥ मनु, ३.२३;
सुखस्वादवहुक्लेशादपि चावरणादिति।
अनुरागात्मकत्वाच्च गान्धर्वः प्रवरोमतः ॥ कामसूत्र, ३.५.३०,

६-मनु, ३.३३,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो ऐसी स्थिति में माता-पिता, भाई-बन्धु को मारना-पीटना आवश्यक नहीं है। किन्तु यदि कन्या पक्ष के लोग विरोध करते हैं तब अपहरणकर्ता को उन्हें मारने-पोटने की आवश्यकता होती है अथवा कन्या पक्ष के पूर्ण विनाश को भी आवश्यकता हो सकती है। ऐसी स्थिति में वह मकान तोड़कर रोती बिलखती कन्या का अपहरण कर उसके साथ विवाह कर सकता है।[१]

पैशाच विवाह

यह विवाह अत्यन्त निन्दनीय और गर्हित माना गया है। इस विवाह में सोती हुई, मदहोश, अथवा उन्मत्त कन्या के साथ जब कोई कामुक व्यक्ति मैथुन कर उसे अपवित्र कर उसके साथ विवाह कर लेता है तो वह पैशाच विवाह कहा जाता है।[२] स्मृतियों में इस विवाह की बड़ी भर्त्सना की गई है। याज्ञवल्क्य ने इसे छल और कपट पर आधारित विवाह बतलायाघ है[3]। मंशास्त्रों में इसे अत्यन्त जघन्य और अधम बताया गया है। मनु ने भी इसे निकृष्ट ही माना है।[४]

उक्त आठ प्रकार के विवाहों में प्रथम चार विवाह पिता द्वारा या किसी अभिभावक द्वारा कन्यादान देकर सम्पन्न किए जाते हैं। यहां 'दान' शब्द का प्रयोग गौण अर्थ में किया गया है जिसका तात्पर्य है कि पिता अपने उत्तरदायित्व का भार तथा कन्या के नियंत्रण का भार पति को सौंप देता है। मनु ने यह स्पष्ट किया है कि सभी प्रकार के दान ब्राह्मणों में जल के साथ किया जाता है इसीलिए प्रथम चार प्रकार के विवाहों में कन्या का दान भी संकल्पयुक्त होने से दान माना जाता है।[५] प्रथम प्रकार के विवाह को सम्भवतः ब्राह्म इसलिए कहा जाता है कि यह विवाह अत्यधिक पवित्र या वेद स्वीकृत है। यहाँ ब्रह्म शब्द का अर्थ पवित्र, वेद या धर्म किया गया है। आर्ष विवाह में वर से एक जोड़ा पशु लिया जाता है अतः ब्राह्म विवाह की अपेक्षा यह कम महत्त्व का है। देव विवाह केवल ब्राह्मणों में ही अधिक

१-कुल्लूक, मनुस्मृति ३.३२ की टीका

२-सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ।। मनु, ३.३४,

३-याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय, ६१

४-पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या द्वावधर्म्यौ स्मृताविह।
पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्तव्यौ कदाचन ।। मनु, ३.२५,

५-मनु, ३.३५४,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रचलित रहा होगा क्योंकि पौरोहित्य का कार्य प्रायः ब्राह्मण ही करते थे। इस विवाह को देव नाम इसलिए दिया गया होगा कि यज्ञ में देवों की पूजा होती है और यह विवाह यज्ञ में ही सम्पन्न होता है। यह विवाह भी ब्रह्म विवाह की अपेक्षा कम महत्व का है क्योंकि इस विवाह में कन्या का पिता कन्या का दान कर अपने मन में इस लाभ की भावना रखता है कि उसका यज्ञ भली भांति सम्पादित हो जाय उसको यह विश्वास है कि कन्या पाकर पुरोहित प्रसन्न होगा और अत्यधिक निष्ठा से यज्ञ में लगा रहेगा। विवाह के सभी प्रकारों में कन्या एवं वर को सभी धार्मिक कृत्य साथ-साथ करने पड़ते हैं। पत्नी, पति में कभी पृथकत्व नहीं पाया जाता। पाणिग्रहण के उपरान्त वे सारे धार्मिक कृत्य के साथ साथ ही सम्पादित करते हैं। प्राजापत्य विवाह में पत्नी के जीते जी पति को गृहस्थ रहने सन्यासी न बनने, दूसरा विवाह न करने आदि का वचन देना पड़ता है। प्राजापत्य विवाह भी ब्रह्म विवाह से निम्न स्तरका है। क्योंकि इसमें कन्या पक्ष की ओर से शर्त लगी रहती है जबकि ब्राह्म विवाह में वर स्वयं प्रतिवचन देता है कि धर्म, अर्थ एवं काम तीनों पुरुषार्थों में वह सदैव अपनी पत्नी के साथ रहेगा।

आसुर विवाह में कन्या तथा कन्या के मूल्य द्रव्य का सौदा होता है। इस सौदे में कन्या पक्ष को वर तथा वर के कुल और गुण की अपेक्षा द्रव्य पर ध्यान अधिक रहता है। इस लिए यह विवाह स्वीकृत नहीं माना गया है। आर्ष और आसुर विवाह में मुख्य अन्तर यह है कि आर्ष विवाह में एक जोड़ा पशु देने की एक व्यवहारिक सीमा बाँध दी गई है किन्तु आसुर विवाह में कन्या के मूल्य के रूप में प्राप्त होने वाले द्रव्य की कोई सीमा नहीं है। वह कन्या के रूप तथा वर पक्ष की आवश्यकता के आधार पर निर्धारित किया जा सकता है। गान्धर्व में पिता द्वारा दान की कोई बात नहीं है प्रत्युत उस काल तक के लिए कन्या पिता को उसके अधिकार से वंचित कर देती है। धर्मशास्त्रों में ऋषियों ने विवाह को एक संस्कार का रूप दिया है। इसके मुख्य उद्देश्यों में धार्मिक कृत्यों द्वारा सद्गुणों की प्राप्ति एवं सन्तानोत्पत्ति तथा काम की तृप्ति की चर्चा की जाती है। किन्तु गान्धर्व विवाह में केवल काम पिपासा की शान्ति की बात प्रमुख है अतः प्रथम चार प्रकार के विवाहों (ब्राह्म, देव, आर्ष और प्राजापत्य) की तुलना में इसे निकृष्ट माना गया है और कुछ सीमा तक अस्वीकृत भी किया गया है। इसका नाम गान्धर्व इस लिए पड़ा है कि गन्धर्वों को कामातुर माना गया है जैसा कि तैत्तिरीय संहिता के इस कथन से कि गन्धर्व लोग स्त्रियों की अत्यधिक कामना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने वाले होते हैं (स्त्री कामा वै गन्धर्वाः) स्पष्ट होता है। गान्धर्व विवाह में इतना अवश्य है कि इसमें कन्या की स्वीकृति ले ली जाती है। राक्षस और पैशाच विवाह में कन्यादान का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि इन दोनों विवाहों में कन्यादान का विरोध स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। राक्षस विवाह में यह स्पष्ट दीखता है कि कन्या को लुटेरे की भाँति ववंश उठाकर ले जाया जाता है। राक्षस लोग अपने क्रूर एवं शक्तिशाली कार्यों के लिए अत्यधिक प्रसिद्ध रहे हैं। इसलिये विवाह को जिसमें बल प्रयोग होता है राक्षस विवाह की संज्ञा दी गयी है। पिशाच लोग लुक-छिप कर ही दुष्कर्म करते हैं अतः धोखा देकर किए जाने वाले विवाह को पैशाच विवाह की संज्ञा दी गई है।

धर्मशास्त्रों में राक्षस विवाह और पैशाच विवाह की मान्यता से यह प्रमाणित हुहीं होता कि किसी भ्रष्ट कन्या के विवाह को ऋषियों ने वैधता प्रदान की है। उससे केवल इतना ही प्रकट होता है कि उस युग में कन्या के अपहरण के ये दोनों प्रकार प्रचलित थे किन्तु ये विवाह के वास्तविक प्रकार नहीं थे। यही कारण है कि ऋषियों ने पैशाच विवाह की बहुत ही भर्त्सना की है। आपस्तम्ब एवं वशिष्ठ ने पैशाच एवं प्राजापत्य के नाम को विवाहों की सूची से निकाल दिया है इससे यह प्रकट होता है कि उनके काल में विवाहों के इन प्रकारों का अन्त हो चुका था। वशिष्ठ के मत में अपहृत कन्या यदि मन्त्रों से अभिसिक्त होकर विवाहित न हो सकी हो तो उसका पुनर्विवाह किया जा सकता है[१]। स्मृतियों में कन्या के भविष्य एवं कल्याण के लिए अपहरणकर्ता एवं बलात्कार करने वाले को होम एवं सप्तपदी करने को कहा गया है जिससे कन्या को विवाहित होने की वैधता प्राप्त हो जाए। यदि अपहरणकर्ता या बलात्कार कर्ता ऐसा करने को तैयार न हो तो कन्या का विवाह दूसरे से किया जा सकता है तथा अपहरणकर्ता तथा बलात्कारकर्ता को भीषण दण्ड भुगतना पड़ता है[२]। मनु का कहना है कि यदि कोई व्यक्ति अपनी जाति की किसी कन्या से संभोग करता है तो उसे लड़की के पिता को यदि पिता चाहे तो शुल्क देना पड़ सकता है। इस सम्बन्ध में मेधातिथि ने यह स्पष्टीकरण किया है कि यदि पिता धन नहीं चाहता है तो प्रेमी को चाहिए कि वह राजा को धन, दण्ड के रूप में दे। कन्या उसे दी जा सकती

१–पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ २९८

२–उत्तमां सेवमानस्तु जघन्यो वधमर्हति।

शुल्कं दद्यात्सेवमानः समामिच्छेत्पिता यदि ॥ मनु, ८.३६६;
याज्ञवल्क्य व्यावहाराध्याय, २८७-८८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है किन्तु यदि कन्या का प्यार उस व्यक्ति से न रह गया हो तो उसका विवाह दूसरे व्यक्ति से हो सकता है। किन्तु यदि प्रेमी स्वयं उसे स्वीकार करना न चाहता हो तो बल प्रयोग के साथ उसे स्वीकृत कराया जाए।[1]

अन्य धर्मग्रन्थों में गान्धर्व, आसुर, राक्षस एवं पैशाच विवाह के लिए होम और सप्तपदी को आवश्यक माना गया है। महाभारत में यह स्पष्ट किया गया है कि स्वयंवर के पश्चात् भी धार्मिक कृत्य किया जाना चाहिए। सर्व प्रथम आश्वलायन ने ही आठ प्रकार के विवाहों का वर्णन किया है तथा होम और सप्तपदी की व्यवस्था दी है।

विविध वर्णों के लिए इन आठ प्रकार के विवाहों के सम्बन्ध में कतिपय मत प्रकाशित किए गए हैं। अधिकांश धर्मशास्त्रों में प्रथम चार अर्थात् ब्राह्म, देव, आर्ष और प्राजापत्य को स्वीकृत किया है इन्हें प्रशस्त या धर्म माना है। प्रायः सभी ने ब्राह्म विवाह को श्रेष्ठ और उसके बाद वाले को क्रमशः कम श्रेष्ठ बतलाया है। सभी के मत में पैशाच को निकृष्टतम माना गया है। एक मत से ब्राह्मणों के लिए प्रथम चार उपयुक्त विवाह हैं। पर दूसरे मत से प्रथम छः ब्राह्मणों के लिए उपयुक्त माने गए हैं। अन्तिम चार क्षत्रियों के लिए गान्धर्व, आसुर एवं पैशाच, वैश्यों और शूद्रों के लिए स्वीकृत विवाह है। तीसरे मत के अनुसार प्राजापत्य एवं गान्धर्व सभी वर्णों के लिए है तथा पैशाच एवं आसुर किसी वर्ण के लिए नहीं है। किन्तु मनु के मत में आसुर, वैश्य और शूद्रों के लिए मान्य है। मनु ने यह भी कहा है कि गान्धर्व एवं राक्षस क्षत्रियों के लिए उपयुक्त हैं। इन दोनों का मिश्रण भी क्षत्रियों के लिए ठीक है। मनु ने वैश्यों और शूद्रों के लिए आसुर एवं पैशाच की व्यवस्था की है। और यह कारण बतलाया है कि वैश्य एवं शूद्र अपनी स्त्रियों को नियंत्रण में नहीं रख पाते और स्वयं खेती बारी या सेवा कार्य में लगे रहते हैं। कामसूत्र के आरम्भ में ब्राह्मण को सर्वश्रेष्ठ माना गया है किन्तु अंत में अपने विषय के प्रतिपादन के लिए गान्धर्व को ही सर्वश्रेष्ठ कहा गया है[2]।

एक विवाह एवं बहु विवाह

धर्मशास्त्रों को देखने से ऐसा लगता है कि यद्यपि एक पत्नी विवाह एवं एक पति विवाह आदर्श विवाह के रूप में स्वीकृत था तथापि बहुपत्नी विवाह व्यवहारिक रूप से और बहु पति विवाह परिस्थितिवश मान्य था।

१–पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ २९८
२–पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम खण्ड, पृष्ठ २९९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक विवाह की आदर्श रूपता के अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। धर्मपत्नी (दम्पति) आदि शब्द से भी यही ध्वनित होता है कि एक पति की एक ही पत्नी हो सकती है और एक ही पत्नी धर्मपत्नी का स्थान ग्रहण कर सकती है। यही कारण है कि पत्नी को पुरुष की अर्द्धंगिनी माना गया है[1]। वेद-काल में भी एक विवाह को आदर्श की दृष्टि से देखा जाता रहा है[2]। आपस्तम्ब ने भी धर्म-प्रजा-युक्त पत्नी के रहते हुए दूसरी स्त्री से विवाह करने का निषेध किया है[3]। नारद का कहना है कि जो पति अपनी अनुकूल मधुभाषिणी गृहकार्य में कुशल साध्वी सन्तानयुक्त पत्नी का परित्याग करता है उसे कठोर राजदण्ड मिलना चाहिए[4]। इससे यह स्पष्ट होता है कि एक पत्नी और एक पुरुष का सम्बन्ध मणिकाञ्चन संयोग माना जाता था जो जन्म-जन्मान्तर तक के लिए मान्य था।

किन्तु भारतीय समाज के इतिहास को देखने से ऐसा लगता है कि आदिकाल से बहु विवाह (बहु पत्नी विवाह) की प्रथा प्रचलित रही है। धर्मशास्त्रों में भी किसी परिस्थिति विशेष में पुरुष को एक से अधिक पत्नियां रखने का विधान किया गया है। तैत्तिरीय सहिता में कहा गया है कि, एक यूप में दो रसनाएँ बाँधी जा सकती हैं अतः एक पुरुष की दो पत्नियां हो एक रसना दो यूपों में नहीं बांधी जा सकती इसलिए एक पत्नी के दो पति नहीं हो सकते[5]। पुरुष को एक से अधिक पत्नी रखने का विधान विशेषकर पुत्र के अभाव की स्थिति में था किन्तु बहुपत्नीत्व प्रथा राजाओं और सम्पन्न व्यक्तियों के यहाँ अधिक प्रचलित थी। राजाओं की साधारणतया चार प्रकार की पत्नियों का उल्लेख मिलता है। महिषी (प्रधान रानी), परिवृक्ता (प्रभावशालिनी), वावाता (व्यक्तिगत रूप से प्रिय) तथा पालागली (सबसे निम्न व्यक्ति की कन्या)[6]।

१–महाभारत, आदिपर्व, ७४.४०
२–ऋग्वेद, १०.८५.४६
३–आप० ध० सू० २.५.१२
४–डा० जयशंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृष्ठ २८४
५–तास्मादेको वहवीर्जाया विन्दते।
तस्मादेकस्य वहवयो जाया भवन्ति नेकस्येवहवः सहपतयः।। तैत्तिरीय संहिता,
६.५.४.१; ऐतरेय ब्राह्मण, १२.११,
६–चलस्त्रो जाया उपवलृप्ता भवन्ति।
महिषी वावाता परिवृक्ता पालागली।। शतपथ ब्राह्मण, ५.२.१.१०तथा १३.४.१.७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परवर्ती धर्मशास्त्रों को देखने से यह स्पष्ट होता है कि पत्नी का महत्त्व धर्म और सन्तान दोनों के लिए था अतः यदि पत्नी धर्म और प्रजा दोनों से युक्त हो तो पुरुष को दूसरी शादी करने का निषेध किया गया है। किन्तु धर्म अथवा प्रजा दोनों में से एक का भी अभाव हो तो दूसरी स्त्री से विवाह करने की अनुमति प्राप्त थी[1]।

कौटिल्य ने पुत्रहीन पति को दूसरी पत्नी करने तक आठ वर्ष की प्रतीक्षा करने के लिये कहा है[2]। स्मृतियों में बहुभार्या पर कोई विशेष प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया है। मनु और याज्ञवल्क्य दोनों का विचार है कि विवाह धर्म कार्य के अतिरिक्त काम का भी शमन करता है, इसलिए अनुलोम के अनुसार ब्राह्मण चार, क्षत्रिय तीन, वैश्य दो और शूद्र एक पत्नी रख सकता है[3]। याज्ञवल्क्य ने विवेचन किया है कि रोगग्रस्त, धूर्त, वन्ध्या, मदिरा सेवन करने वाली, अत्यधिक व्यय करने वाली, अप्रियवादिनी, पति से द्वेष रखने वाली पत्नी के रहते हुए भी पुरुष दूसरी शादी कर सकता है[4]। रामायण[5] और महाभारत[6] के अध्ययन से विदित होता है कि उस युग में एक से अधिक पत्नी वाले पतियों की बहुलता थी।

हिन्दू समाज में बहुपतित्व का उतना प्रचलन नहीं था जितना कि बहुपत्नीत्व का। वैदिक ग्रन्थों से ऐसा विदित होता है कि उस युग में सम्भवतः एक पत्नी के अनेक पति हो जाया करते थे। वेदों में बहुपतित्व को स्पष्ट करने वाले अनेक उदाहरण मिलते हैं। अथर्व वेद में एक स्थल पर

१–धर्मप्रजा सम्पन्ने दारेनान्या कुर्वीत।
अन्यतराभावे कार्या प्रागान्याधेयात् ।। आ० ध० सू०, १.१०.२८.२९,

२–वर्षाण्यष्टावप्रजायमानामपुत्रां वन्ध्यां
चाकांक्षेतदश विन्दुम। कौटिल्य अर्थशास्त्र, ३.२

३–शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते।
तै च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः ।। मनु, ३.१३,

४–सुरापीव्याधिताधूर्ता वन्ध्यार्थघ्न्यप्रियम्वदा।
स्त्री प्रसूश्चाधिवेत्तव्या पुरुष द्वेषिणी तथा ।। याज्ञवल्क्य, १.७३-८०,
त्रिरात्रमाहुराशौचमाचार्ये संस्थिते सति।
तस्य पुत्रे च पत्न्यां च दिवारात्रमिति स्थितिः ।।
श्रोत्रिये तूपसंपन्ने त्रिरात्रमशुचिर्भवेत्।
मातुले पक्षिणीं रात्रिं शिष्यर्त्विग्बान्धवेषु च ।। मनु, ५.८०,८१

५–रामायण, २.२०.३७-५५,

६–महाभारत, आदिपर्व, १११.८-९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक स्त्री के ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य पतियों में ब्राह्मण पति को अत्यन्त माननीय कहा गया है।[१] महाभारत में भी पाँच पाण्डवों के साथ द्रौपदी का विवाह बहुपतित्व का उदाहरण है।

अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह

प्राचीन काल में अनुलोम विवाह विहित माने जाते थे किन्तु प्रतिलोम विवाह की भर्त्सना की जाती थी। आपस्तम्ब धर्म सूत्र में अपने ही वर्ण की कन्या से विवाह करने का विधान किया गया है तथा असवर्ण विवाह की भर्त्सना की गयी है।[२] मनु ने अपने ही वर्ण में विवाह करने को सर्वोत्तम माना है किन्तु अनुलोम विवाह की स्वीकृति देकर असवर्ण विवाह का भी समर्थन किया है।[३] अनुलोम विवाह की स्वीकृति के साथ यह प्रश्न विवादास्पद रहा है कि ब्राह्मण तथा क्षत्रिय पुरुष शूद्र स्त्री को पत्नी बना सकता है अथवा नहीं विष्णु धर्मसूत्र में कहा गया है कि द्विजाति यदि शूद्रा से विवाह करता है तो ऐसे विवाह से धार्मिक गुण नहीं प्राप्त होते। इससे केवल कामुकता की तुष्टि हो सकती है।[४] याज्ञवल्क्य ने ब्राह्मण या क्षत्रिय के अपने या अपने से नीचे के वर्ण से विवाह सम्बन्ध करने को तो कहा है किन्तु द्विजातियों को शुद्र कन्या से विवाह का निषेध किया है।[५] साथ ही साथ मनु और याज्ञवल्क्य ने यह भी कहा है कि यदि किसी ब्राह्मण को चारो वर्ण वाली पत्नियों से पुत्र हो तो ब्राह्मणी पुत्र को दस में चार भाग मिलते हैं, क्षत्रिणी पुत्र को तीन, वैश्या पुत्र को दो तथा शूद्रा पुत्र को एक भाग मिलता है।[६] इससे यह

१—उतयत्पतयो दश स्त्रियां पूर्वे अब्राह्मणः ब्रह्मावेद भरत्तम ग्रहीत्स एव पतिरेकया।
ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यः नवैश्चः।। अथर्ववेद, ५.१७.८-६,

२—आ० ध० सू०, २.६.१३.१-३

३—सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि।
कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशो वराः।।
शुद्रव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते।
तॆ च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः।। मनु, ३.१२,१३,

४—विष्णु धर्मसूत्र, २६.५-६

५—याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय, ५७

६—सर्वं वा रिक्थजातं तद्दशधा परिकल्प्य च।
धर्म्यं विभागं कुर्वीत विधिनाऽनेन धर्मवित्।।
चतुरोंऽशान् हरेद्विप्रस्त्रीनंशान्क्षत्रियासुतः।
वैश्यापुत्रो हरेद् द्वयंशमंशं शूद्रासुतो हरेत्।। मनु, ९.१५२-१५३;
याज्ञवल्क्य, व्यवहाराध्याय, १२५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्पष्ट होता है कि मनु और याज्ञवल्क्य ब्राह्मण एवं शूद्रा के विवाह का समर्थन करते हैं तथा उनकी सन्तान को पारशव नाम से सम्बोधित करते हैं।[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन स्मृतिकारों ने ब्राह्मण का क्षत्री या वैश्य कन्या से विवाह सम्बन्ध बिना किसी सन्देह एवं विवाद के मान लिया है। किन्तु ब्राह्मण एवं शूद्र कन्या के विवाह सम्बन्ध के विषय में मतैक्य नहीं है। ऐसे विवाह होते अवश्य थे। किन्तु उसकी मान्यता नहीं थी अत. उसकी भर्त्सना की जाती थी। प्रतिलोम विवाह धर्मशास्त्रों को मान्य नहीं था इस विवाह में उच्च वर्ण की कन्या का निम्न वर्ण के पुरुष के साथ विवाह होता था इससे उत्पन्न सन्तान को वर्णसंकर, निकृष्ट और अस्पृश्य कहा जाता था[2]। धर्मशास्त्रों के इतिहास में इस प्रकार के विवाह के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। इससे लगता है कि समाज में ऐसे विवाह हो जाया करते थे किन्तु सामाजिक मान्यता न मिलने के कारण ऐसे विवाहों को कभी भी प्रोत्साहन नहीं मिल सका।

सवर्ण और असवर्ण विवाह

धर्मशास्त्रों में सवर्ण और असवर्ण दोनों प्रकार की कन्याओं के साथ विवाह करने का विधान मिलता है। जहाँ वर और कन्या दोनों एक वर्ण के होते हैं वहाँ विवाह सवर्णविवाह कहलाता है। किन्तु वर और कन्या के वर्ण में अन्तर होने पर विवाह असवर्ण विवाह कहलाता है। यद्यपि धर्मशास्त्रों में सवर्ण विवाह को आदर और महत्त्व की दृष्टि से देखा गया है फिर भी असवर्ण विवाह की यथार्थता को अस्वीकार नहीं किया गया है असवर्ण विवाह के सामान्यतया दो भेद हो जाते हैं, अनुलोम विवाह और प्रतिलोम विवाह। अनुलोम विवाह में उच्च वर्ण का वर अपने से निम्न वर्ण की कन्या के साथ विवाह करता है किन्तु प्रतिलोम विवाह में निम्न वर्ण का वर अपने से उच्च वर्ण की कन्या से विवाह करता है। इनकी सामाजिक स्थिति और स्वरूप के सम्बन्ध में ऊपर चर्चा किया जा चुका है। जहाँ तक सवर्ण विवाह का प्रश्न है वह प्रारम्भ से मान्य रहा और उसकी मान्यता धीरे-धीरे और भी दृढ़ होती

१–याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय, ९१-९२,

शरः क्षत्रियया ग्राह्यः प्रतोदो वैश्यकन्यया।
वसनस्य दशा ग्राह्या शूद्रयोत्कृष्टवेदने॥ मनु, ३.४४,

२–क्षत्रियाद्विप्रकन्यायां सूतो भवति जातितः।
वैश्यान्मागधवैदेहौ राजविप्राङ्गनासुतौ॥ मनु, १०.११-१२,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गई है। इस सवर्ण विवाह के अन्तर्गत तीन प्रमुख निषेध आते हैं, अर्थात् सवर्ण होते हुए भी जहाँ वर और कन्या में विवाह को शास्त्र द्वारा स्वीकृति नहीं प्राप्त होती। एक है–सगोत्र विवाह और दूसरा है सपिण्ड विवाह तथा तीसरा है सप्रवर विवाह। इन तीनों विवाहों पर धर्मशास्त्रों ने विशेष रूप से प्रतिबन्ध लगाया है[१]।

सगोत्र विवाह का निषेध

धर्मशास्त्रों में सगोत्र विवाह का निषेध किया गया है। गोत्र शब्द का अर्थ साधारणतया पूर्व पुरुष समझा जाता है[२]। किन्तु गोत्र शब्द के और भी अर्थ होते हैं जैसे गौशाला, व्यक्तियों का समूह आदि। पाणिनी ने गोत्र शब्द की व्याख्या वंश या कुल के अर्थ में किया है[३]। वस्तुतः गोत्र उस आदि पुरुष के लिए प्रयुक्त किया गया है जिसके नाम पर कुल या वश का प्रचलन होता है तथा जो विद्या, धन, शौर्य, उदारता आदि गुणों के लिए विख्यात होता है[४]। धर्मशास्त्रों के इतिहास को देखने से ऐसा लगता है कि गोत्र की अवधारणा का विकास उत्तर वैदिक काल तक पूर्ण हो चुका था तथा धर्मशास्त्रों ने सगोत्र विवाह को वर्जित कर दिया था। उपनिषदों में अनेक स्थलों पर भारद्वाज, गार्ग्य, आश्वलायन, भार्गव, कात्यायन, गौतम, कश्यप आदि ऋषियों के नाम पर गोत्रों की चर्चा की गई है[५]। लगता है कि कालांतर में इन्हीं ऋषियों के नाम पर वंशागत गोत्र का विकास हुआ है। प्रायः सभी धर्मशास्त्रों में समान गोत्र वाली कन्या से विवाह करना वर्जित माना गया है। उनके अनुसार द्विजातियों को अपने गोत्र से बाहर ही विवाह करने का विधान किया गया है[६]।

सपिण्ड विवाह का निषेध

धर्मशास्त्रों ने सपिण्ड विवाह का भी निषेध किया है पिण्ड का अर्थ

१–आ० ध० सू० २.११.१५, सगोत्राय दुहितरं न प्रयच्छेद्।
असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ।। मनु, ३.५,

२–शब्द कल्पद्रुम द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ३५५

३–अष्टाध्यायी, ४.१.६३

४–मेधातिथि मनु, ३.५ तथा ३.१६४

५–प्रश्नोपनिषद्, १.१

६–आ० ध० सू०, २.१५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है शरीर। इस प्रकार सपिण्ड का अर्थ समान शरीर के अंश वाले व्यक्ति लिया जाता है। व्यक्तियों में सपिण्डता का सम्बन्ध इस तथ्य से उत्पन्न होता है कि दोनों में एक ही शरीर के अंश विद्यमान हैं। इस प्रकार बालक अपने पिता, पितामह, प्रपितामह आदि के साथ सपिण्ड सम्बन्ध से सम्बन्धित होता है। उसी प्रकार बालक अपनी माता, मातामह, मातुल, मौसी आदि के साथ सपिण्ड सम्बन्ध से सम्बन्धित होता है। यही बात बालिका के पक्ष में भी लागू होता है। रक्त सम्बन्ध से सम्बद्ध व्यक्ति सपिण्ड के अन्तर्गत आते हैं प्रायः पिता से सात पीढ़ी और माता से पाँच पीढ़ी के भीतर के लोग सपिण्ड कहे जाते हैं। विवाह निश्चित करते समय इसका ध्यान रखना आवश्यक होता है। वर से सात पीढ़ी और कन्या से पाँच पीढ़ी का अन्तर अपेक्षित माना गया है। इस नियम के अन्तर्गत ममेरे, फुफेरे, मौसेरे भाई बहन के विवाह पर प्रतिबन्ध लगाया गया है। इसीलिए मनु ने इन तीनों प्रकार के बहनों के साथ विवाह करने का निषेध किया है[१]। धर्मसूत्रों में सपिण्ड विवाह का स्पष्ट निषेध मिलता है[२]। इनके अनुसार पिता के पक्ष में सात पीढ़ी तथा माता के पक्ष में पाँच पीढ़ी तक विवाह वर्जित माना गया है[३]। गौतम ने सपिण्डता के नियम का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति को भ्रष्ट और पतित माना है[४]। बौधायन ने दक्षिणात्यों में प्रचलित ऐसे विवाहों का संकेत किया है जहाँ लोग मामा और बुआ की लड़की से विवाह करते हैं[५]। मनु ने भी सपिण्ड विवाह का निषेध किया है तथा सपिण्ड में पिता के पक्ष से सात और माता के पक्ष से चार पीढ़ी की गणना की है[६]। याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट रूप से पिता से सात पीढ़ी तथा माता से पाँच पीढ़ी तक विवाह न करने का संकेत किया है[७]। अन्य स्मृतियों में भी प्रायः इसी का समर्थन प्राप्त होता है[८]।

१–एतास्तिस्त्रस्तु भार्यार्थे नोपयच्छेतु बुद्धिमान् ।
ज्ञातित्वेनानुपेयास्ताः पतति ह्युपयन्नधः ।। मनु, ११.१७२,

२–आ० ध० सू०, २.५.११-१६

३–गौ० ध० सू०, १.४३,

४–गौ० ध० सू०, ३.२.१

५–बौ० ध० सू०, १.१.२१-२२

६–असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ।। मनु, ३.५; ९.१८६,

७–याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय ५३

८–विष्णु, ३६.४-७; नारद, १२.७३-७५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्मृतियों के टीकाकार भी असपिण्ड विवाह का समर्थन करते हुए उसका तार्किक आधार प्रस्तुत करते हैं। ऐसे टीकाकारों के दो वर्ग पाए जाते हैं। एक वर्ग उत्तर के टीकाकारों का है और दूसरा वर्ग दक्षिण के टीकाकारों का है उत्तर के टीकाकारों ने सपिण्ड विवाह का विरोध किया है जबकि दक्षिण के टीकाकारों ने सपिण्ड विवाह का समर्थन किया है। देवण्ण भट्ट, पराशर तथा माधव जैसे टीकाकारों ने सपिण्ड विवाह का समर्थन किया है। तथा मेघतिथि, विश्वरूप और विज्ञानेश्वर आदि टीकाकारों ने सपिण्ड विवाह का प्रबल विरोध किया है और ऐसे विवाह करने वाले को अधम बताया है[१]।

सप्रवर विवाह का निषेध

धर्मशास्त्रों में सप्रवर विवाह का भी निषेध किया गया है। सप्रवर विवाह सगोत्र विवाह से मिलता-जुलता है। प्रवर आर्षेया के रूप में प्रारम्भ हुआ जो होता के याज्ञिक कार्य से सम्बद्ध था। साधारणतया प्रवर का अर्थ वरण करने योग्य आह्वान करने योग्य याप्रार्थनीय है। धीरे-धीरे यह शब्द पूर्वज ऋषि नामों से सम्बद्ध होता गया[२], पुरोहित याज्ञिक कार्य करते समय अपने सर्वश्रेष्ठ ऋषि पूर्वज के नामों का स्मरण करते थे। जो उनके समुदाय के प्रतीक होते थे। ये ऋषि व्यक्ति के पूर्वज के रूप में उसके आध्यात्मिक सांस्कारिक और सामाजिक व्यवस्थाओं से धीरे-धीरे जुड़ते गए जो बाद में चलकर प्रवर के जनक के रूप में विकसित हुए। इस प्रकार प्रवर का सम्बन्ध रक्त से न होकर व्यक्ति की पारस्परिक, धार्मिक और सामाजिक प्रक्रियाओं से हुआ। साधारणतया प्रवर ब्राह्मण समाज में ही अधिक विकसित हुआ। क्योंकि धार्मिक, याज्ञिक, और आध्यात्मिक कार्य विशेष रूप से ब्राह्मण ही किया करते थे। समान प्रवर में विवाह करने को पाप माना गया है।[३] ऐसा विवाह करने वाले ब्राह्मण को चण्डाल उत्पन्न करने वाला कहा गया है।[४]

परपूर्वा स्त्री अथवा पुनर्विवाह करने वाली स्त्री

धर्मशास्त्रों में स्त्री के लिए पुनर्विवाह करना वर्जित है। किन्तु कुछ

१–मेधातिथि मनु, ९.१८६

विश्वरूप, याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय, ५३; विज्ञानेश्वर

२–गोत्रप्रवर निबन्ध कदम्ब, पृष्ठ २६९

३–बौ० ध० सू०, ४.२ तथा २३.१२

४–समानगोत्रप्रवराम् कन्यामूढ़ोपगम्यं च।

तस्यामुत्पाद्य चाण्डालं ब्रह्मण्यादेव हीयते॥ आपस्तम्ब द्वारा उद्धृत, पृष्ठ ११६,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेष परिस्थितियों में स्त्री को पुनर्विवाह करने का अधिकार प्राप्त था। यद्यपि इस विवाह के बाद समाज में उसका स्थान समान्यतया निम्न स्तर का ही रहता था। ऐसी स्त्री को परपूर्वा स्त्री कहा जाता था। जिन विशेष परिस्थितियों में स्त्री को पुनर्विवाह करने की अनुमति प्राप्त थी उनमें पति का मर जाना, बहुत दिनों तक प्रवास में रहना, सम्बन्ध विच्छेद हो जाना या संतान उत्पन्न करने में असमर्थ हो जाना प्रमुख थे। वैदिक साहित्य को देखने से तो ऐसा लगता है कि उस काल में पुनर्विवाह का प्रचलन था। पति की मृत्यु पर स्त्री को दूसरा विवाह करने का पूर्ण अधिकार था।[1] धर्मशास्त्रकारों ने भी स्त्री को यह राय दी है कि पति के मरने पर अपने देवर को अपना पति बना ले।[2] ऐसी स्त्री को 'पुनर्भू' कहा जाता था।[3] कौटिल्य का मत है कि पति के विदेश चले जाने पर या सन्यास ले लेने पर या उसकी मृत्यु हो जाने पर सात बार रजस्वला होने के बाद अपुत्रवती स्त्री को पुनर्विवाह करने का अधिकार है। कौटिल्य ने यह भी व्यवस्था दी है कि पति के विदेश चले जाने पर सात तीर्थों तक अगर उससे कह कर गया हो तो एक वर्ष तक, विदेश से उसका समाचार न मिलने पर पांच तीर्थों तक और समाचार मिलने पर दस तीर्थों तक प्रतीक्षा करने के बाद धर्माधिकारी की अनुमति से स्त्री पुनर्विवाह अपने मन के अनुसार कर सकती है।[4] मनुस्मृति के देखने से ऐसा लगता है कि मनु पुनर्विवाह के प्रति बहुत उदार नहीं हैं। उन्होंने स्त्रियों के लिए कठोर नियमों का विधान किया है। वे यह मानते हैं कि पति के पतित, क्लीव, और उन्मत्त होने पर स्त्री को उसकी सेवा ही करनी चाहिए। उसका परित्याग नहीं करना चाहिए।[5] नारद के मत में पति के नपुंसक होने पर स्त्री को पुनर्विवाह करने का अधिकार है।[6]

याज्ञवल्क्य ने अन्य पूर्विका स्त्री को दो प्रकार का माना है—एक पुनर्भू और दूसरी-स्वैरिणी। वैवाहिक विधि से जिसका संस्कार होता है

१—ऋग्वेद, १०.४.२

२—वशिष्ठ धर्म सूत्र, १७.७५-८०

३—वशिष्ठ ध० सू०, १६.१९-२०

४—कौटिल्य अर्थशास्त्र, ३.४

५—उन्मत्तं पतितं क्लीबमबीजं पापरोगिणम्।
न त्यागोऽस्ति द्विषन्त्याश्च न च दायापवर्तनम्॥ मनु, ९.७९,

६—अपत्यार्थ स्त्रियः सृष्टाः स्त्रीक्षेत्रं बीजिनो नराः।
क्षेत्रं बीजवते देयं नाबीजो क्षेत्रहर्हति॥ डा० जयशंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृष्ठ २९० में उद्धृत,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह पुनर्भू कहलाती है। किन्तु जो स्त्री अपने प्रथम पति का त्यागकर बिना विवाह की विधि के किसी सवर्ण पुरुष का आश्रय ले लेती है वह स्वैरिणी कहलाती है। याज्ञवल्क्य ने पुनर्भू के भी दो भेद माना है। क्षता (पुरुषोपभुक्ता) और दूसरी अक्षता (अभुक्ता)। जो विवाहित स्त्री वास्तविक रूप में कन्या और अक्षत योनि होती है किन्तु मात्र परिणय के कारण दूषित मानी जाती है। वह दुबारा विवाह संस्कार कराने के कारण अक्षता पुनर्भू कहलाती है। यदि स्त्री प्रथम विवाह के बाद पुरुष के द्वारा उपयुक्त हो चुकी है और किसी कारणवश पुनर्विवाह करती है तो उसे क्षतापुनर्भू कहा जाता है।[१] बौधायन ने पुनर्भू के सात प्रकार होने की चर्चा की है: वाग्दता, मनोदत्ता, वर के साथ अग्नि परिगता, भुक्ता, सप्तपदगता, गृहीतगर्भा तथा प्रसूता।[२] पराशर ने पति के विनष्ट होने, मरने, पतित होने, नपुंसक होने, सन्यासी हो जाने पर स्त्री को दूसरे पति के साथ विवाह करने की अनुमति प्रदान की है।[३]

इन तथ्यों से ऐसा लगता है कि विधवा अथवा सधवा दोनों प्रकार की स्त्रियों को पुनर्विवाह की अनुमति प्राप्त थी किन्तु इस प्रकार के विवाह की सामाजिक मान्यता होते हुए भी सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं थी इसलिए इस प्रकार का विवाह व्यापक प्रचलन का स्वरूप ग्रहण न कर सका और धीरे-धीरे लुप्त प्रायः हो गया।

वर एवं वधू की अपेक्षित विशेषताएं

वर-वधू का चुनाव उसकी योग्यता एवं गुणों के आधार पर किया जाता है। मनु का कहना है कि श्रेष्ठ सुन्दर और योग्य वर मिल जाय तो कन्या का विवाह, विवाह की अवस्था होने के पूर्व भी किया जा सकता है।[४] वर के गुणों में उसका वंश, उत्तम चरित्र, सुन्दरता, यश, विद्या, सनाथता

१—याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय, ६७

२—बौधायन स्मृतिचन्द्रिका से उद्धृत १.७५, वाग्दत्ता मनोदत्ता अग्नि परिगता सप्तं पदं नीता भुक्ता गृहीतगर्भा प्रसूता चेति सप्तविधानुनर्भूर्भवति। अतस्तां गृहीत्वा न प्रजां धर्मं च विन्देत्।

३—नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ। पराशर स्मृति, ४.३०,

४—उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च।
अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्यथाविधि॥ मनु, ९.८८,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवं धन आदि सात गुण आवश्यक माने गए हैं।[1] वर के अन्य गुणों में उसका अखण्ड ब्रह्मचारी होना अत्यन्त आवश्यक माना गया है।[2] वर के अन्य गुणों में उत्तम स्वास्थ्य, सर्वप्रियता, नवयौवन, बुद्धिमत्ता आदि प्रमुख माने गए हैं।[3] मनु ने वेदाध्ययन पर विशेष बल दिया है उनके अनुसार सभी वेदों का पण्डित दो वेद अथवा कम से कम एक वेद का पण्डित जिसका ब्रह्मचर्य लुप्त न हुआ हो वर के लिए श्रेष्ठ माना गया है।[4] शास्त्रकारों ने वर के चुनाव में उसके पुरुषत्व पर अधिक बल दिया है। नारद का कहना है कि स्त्री की सृष्टि सन्तान के लिए हुई है, स्त्री क्षेत्र है पुरुष बीजी। क्षेत्र बीजवान को प्राप्त होना चाहिए अबीजी को क्षेत्र कभी भी नहीं देना चाहिए।[5] मनु का कहना है कि क्षेत्र और बीज में बीज की प्रधानता है क्योंकि समस्त प्राणियों की उत्पत्ति बीज से ही होती है।[6] मनु ने तो यहां तक कहा है कि यदि योग्य वर न मिले तो भले ही कन्या पिता के घर आजीवन रह जाए किन्तु गुणहीन वर को उसे कदापि नहीं देना चाहिए।[7]

वर के समान वधू के गुण और योग्यताओं पर धर्मशास्त्रों ने प्रकाश डाला है। कन्या के गुणों में बुद्धिमत्ता, सुन्दरता, सुशीलता, स्वास्थ्य तथा

१–कुलं च शीलं च वपुर्वयश्च विद्यां च वित्तं च सनाथनां च।
एतान्गुणान्सप्त परीक्ष्य देया कन्या बुधैः शेषमचिन्तनीयम्॥ डा० जयशंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास से उद्धृत

२–वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम्।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत्॥ मनु ३.२,
याज्ञवल्क्य आचाराध्याय, ५२

३–याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय, ५५

४–मनु, ३.२

५– अपत्यार्थं स्त्रियः सृष्टा स्त्री क्षेत्रं बीजिनोनराः॥
क्षेत्रं बीजवते देयं नाबीजी क्षेत्रमर्हति॥ स्त्री पुंसयोग १२. १९. (नारद)

६–क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान्।
क्षेत्रबीजसमायोगात्सम्भवः सर्वदेहिनाम्।
बीजस्य चैव योन्याश्च बीजमुत्कृष्टमुच्यते।
सर्वभूतप्रसूतिर्हि बीजलक्षणलक्षिता॥ मनु, ९ ३३,३५,

७–काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्॥ मनु, ९.८९,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्कृष्ट विचार आदि प्रमुख हैं। कन्या की योग्यताओं का निर्धारण तीन आधारों पर किया जाता है। उसकी शारीरिक विशेषता, बौद्धिक विशेषता एवं आचरणगत विशेषता। मिताक्षरा ने कन्या के तीन गुणों को विशेष महत्त्व दिया है। प्रथम वर से कम आयु का होना, द्वितीय अनन्य पूर्विका अर्थात् किसी अन्य के साथ यौन सम्बन्ध स्थापित न होना और तीसरा माता बनने की क्षमता रखना।[1] भारद्वाज का कथन है कि विवाह के लिए चयन करते समय कन्या के वित्त, रूप, प्रज्ञा और बान्धव इन चार गुणों पर विचार करना चाहिए। कन्या के गुणों का निर्देश करते हुए मनु ने स्पष्ट किया है कि कन्या को अतिरिक्त अंगों से रहित अविकलांगी, सुन्दर नाम वाली, हंसगामिनी, गजगामिनी, सूक्ष्म रोमवाली, पतले-पतले दातों वाली तथा सुकुमार शरीर वाली होना चाहिए।[2]

विवाह के अयोग्य वर एवं वधू

धर्मशास्त्रों में जिस प्रकार वर और वधू की अपेक्षित अर्हताओं का वर्णन मिलता है, उसी प्रकार उनकी अयोग्यताओं का जिनके कारण उन्हें विवाह के लिए वर्जित किया गया है का निरूपण भी प्राप्त होता है। साधारणतः वर के लिए शरीर, मन और बुद्धि से भयंकर रोग ग्रस्त होने पर विवाह करने का निषेध किया गया है। नपुंसक और पतित वर को भी विवाह के अयोग्य माना गया है। नारद ने चौदह प्रकार के अयोग्य वरों का उल्लेख किया है प्रव्रजित (सन्यस्त) लोकविद्विष्टः, मित्रों तथा सम्बन्धियों से परित्यक्त, विजातीय, क्षयरोगी, लिंगस्थ (गुप्तवेशधारी , उदरी (पेटू या बड़े पेट वाला), प्रमत्त (पागल), पतितकुष्ठी, सगोत्र, अन्ध-बधीर, अपस्मार रोगी आदि।[3] मनु ने सामान्य नियम के अनुसार नपुंसक, पतित, जन्मान्ध, बहरा, पागल, जड़, गूंगा और किसी इन्द्रिय से शून्य को विवाह के अयोग्य माना है क्योंकि ये वास्तव में पैतृक धन के भागीदार नहीं होते है इन्हें केवल भोजन, वस्त्र का ही अधिकार प्राप्त है। पर इनके सम्बन्ध में मनु ने यह उदारता दिखलाई है कि यदि यह विवाह करना चाहें तो विवाह कर सकते हैं और नपुंसक का क्षेत्रज पुत्र तथा पतित का औरस पुत्र पैतृक धन का

१–याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय, मिताक्षरा ५१

२–अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम्।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत्स्त्रियम्॥ मनु, ३.१०,

३–डा० जयशकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृष्ठ २५८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तराधिकारी हो सकता है[1]।

धर्मशास्त्रों में दोष युक्त कन्या को विवाह के लिए अयोग्य माना है। कन्या के दोषों या अवगुणों का वर्णन करते हुए मनु ने कहा है कि भूरे वर्ण वाली, न्यूनाधिक अंगोंवाली, नित्य रोगी रहने वाली, बिल्कुल रोम रहित अथवा अत्यधिक रोम वाली, वाचाल तथा भूरी आँखों वाली कन्या विवाह के लिए अयोग्य है। इसी प्रकार नक्षत्र, पेड़, नदी, पहाड़, पक्षी, सर्प, दूत या दासी के नामों वाली तथा भयंकर नाम वाली कन्या को भी विवाह के लिए अयोग्य माना है[2]। विष्णु पुराण में कन्या की अयोग्यताओं की चर्चा करते हुए कहा गया है कि कम या अधिक केश वाली, अत्यन्त साँवली या पाण्डु-वर्ण वाली, अधिक या कम अंगों वाली, अपवित्र, अकुलीन या रोगिणी कन्या विवाह के अयोग्य होती है। साथ ही साथ दुष्ट स्वभाव वाली, कटुभाषिणी, मूँछ-दाढ़ी वाली, पुरुष के समान आकार वाली, कर्ण कटु स्वर वाली, गोल नेत्र वाली, जाँघों पर बाल वाली, ऊँच गुल्फे वाली, तथा हँसते समय जिसके गाल में गड्ढे पड़ जाते हैं, जिसकी कान्ति अत्यन्त मलिन हो, आँख रक्त-वर्ण के हों, हाथ-पैर भारी हो, अत्यन्त नाटी हो, दाँतों में अधिक अन्तर हो, दाँत बाहर निकले हों, ऐसी कन्या भी विवाह के लिए अयोग्य मानी गई है[3]।

विवाह की आयु

वर-वधू के विवाह की आयु के विषय में धर्मशास्त्रों में मतभेद मिलता है। यद्यपि वर की आयु के विषय में कोई विशेष मतभेद नहीं है क्योंकि उसे प्रथम आश्रम के कर्त्तव्यों को समाप्त करके ही द्वितीय आश्रम में प्रवेश करने का अधिकार है अतः इसके लिए यह कहा जा सकता है कि वह लगभग

१–अनंशौ क्लीबपतितौ जात्यन्धबधिरौ तथा।
उन्मत्तजडमूकाश्च ये च केचिन्निरिन्द्रियाः॥
यद्यर्थिता तु दारैः स्यात्क्लीबादीनां कथंचन।
तेषामुत्पन्नतन्तूनामपत्यं दायमर्हति॥ मनु, ९.२०१,२०३,

२–अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम्।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत्स्त्रियम्॥
नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गीं न रोगिणीम्।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिङ्गलाम्॥
नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम्॥ मनु, ३.१०,८,९,

३–विष्णु पुराण, ३.१०.१६-२२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पच्चीस वर्ष की आयु ब्रह्मचर्याश्रम में पूर्ण करके ही गृहस्थ होने की आज्ञा गुरु से प्राप्त करेगा। तथापि कन्या की आयु के विषय में कोई निश्चित मत प्राप्त नहीं होता। मनु ने तीस वर्ष के पुरुष के लिये बारह वर्ष की कन्या के साथ तथा चौबीस वर्ष के पुरुष को आठ वर्ष की कन्या के साथ विवाह करना अच्छा समझा है[1]।

धर्मसूत्रों[2] और स्मृतियों[3] में अल्प वय वाली कन्या के विवाह का विधान मिलता है। धर्मशास्त्रों में यह कहा गया है कि कन्या का विवाह रजोदर्शन अथवा वस्त्र पहनने (लज्जा करने) की अवस्था के पूर्व ही कर देना चाहिए।

कन्या के विवाह के लिए कम आयु के निर्धारण के दो कारण प्रतीत होते हैं। एक तो उसके मानसिक विकास न होने से अपने भावी पति के सम्बन्ध में विशेष कल्पना का न होना और दूसरा पारिवारिक अभियोजन की क्षमता और पवित्रता। कन्या यदि अधिक उम्र की हो जाती है तो उसके मन में अपने भावी पति के प्रति एक कल्पनात्मक चित्र अंकित हो जाता है और यदि उस चित्र के अनुरूप उसे पति नहीं मिल सका तो उसे असन्तोष होता है उसके आदर्श के अनुकूल पति न होने से पति के प्रति होने वाले कर्त्तव्यों में उतनी जागरुकता सम्भव नहीं हो पाती जितना अपेक्षित है। साथ ही साथ पति से अतिरिक्त यदि कोई पुरुष उसकी कल्पना से मिलता है तो उसके मन में आकर्षण का हो जाना स्वाभाविक है। स्त्री को पति के प्रति अत्यधिक अनुरक्त बनाने के लिए ही धर्मशास्त्रों ने अल्प वय की कन्या के विवाह का निर्देश किया है। दूसरी ओर अधिक उम्र हो जाने के कारण कन्या को अपने पति के परिवार में अभियोजन की कठिनाई होती है। क्योंकि अपने माता-पिता के घर में उसके अनेक ऐसे अभ्यास हो जाते हैं जिन्हें पति घर में छोड़ना कठिन हो जाता है और जिन्हें छोड़े बिना वहां अभियोजन होना सम्भव नहीं लगता। धर्मशास्त्रों की दृष्टि में स्त्री को योग्य सन्तान उत्पन्न करने का एक मात्र आधार माना गया है जिसके लिए धर्मशास्त्रों में स्त्री के यौन पवित्रता पर विशेष ध्यान दिया गया है। विवाह के लिए कम वय का निर्धारण इस दृष्टि से भी उपयुक्त माना गया है।

१–त्रिंशद्वर्षोद्वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम्।
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वरः॥ मनु, ६.६४,

२–गौ० ध० सू०, १८.२०.२३; बौ० ध० सू०, ४.१.१२-१४

३–मनुस्मृति, ६.९०,९१; याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय, ६४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सप्तम--अध्याय

धार्मिक–संस्था

संस्कार एवं पञ्चमहायज्ञ

यज्ञ एवं प्रायश्चित

धार्मिक संस्थाओं का स्थान एवं महत्त्व

समाज-दर्शन में मानव के सामाजिक जीवन के लिए विविध संस्थाओं का विवेचन किया जाता है। साधारणतया इन सस्थाओं को हम दो वर्गों में रख सकते हैं। कुछ संस्थाएँ स्वाभाविक होती हैं जिनमें व्यक्ति उत्पन्न होता है और यह पाता है कि वह इन सस्थाओं का अंग है। जैसे-परिवार। किन्तु कुछ संस्थाएँ मानव जीवन के विविध आवश्कताओं की पूर्ति के लिए बनती हैं जिन्हें हम मोटे तौर पर तीन वर्गों में रख सकते हैं। मानव अपनी आन्तरिक और वाह्य सुरक्षा के लिए राजनैतिक, अपनी जीविका और निर्वाह के लिए आर्थिक तथा अपने विश्वास, अपनी आस्थाओं तथा अपनी भावनाओं की संतुष्टि के लिए धार्मिक एव मनोरजनात्मक संस्थाओं का निर्माण करता है।

जहाँ तक धर्मशास्त्रों के समाज-दर्शन का प्रश्न है इसमें धार्मिक संस्था का सबसे अधिक महत्त्व है यहाँ सामाजिक व्यवस्था पूर्ण रूप से धार्मिकता के ऊपर आधारित हैं। ऐसी स्थिति में धार्मिक संस्थाओं को अन्य सामाजिक सस्थाओं से अलग करना सम्भव नहीं लगता, फिर भी विचार के लिए कुछ संस्थाओं को जिनका स्वरूप मुख्य रूप से कर्म-काण्डीय है, धार्मिक संस्थाओं में रखकर यहां विचार करने का प्रयास किया गया है यहां धार्मिक संस्थाओं के अन्तंगत मुख्य रूप से सस्कार, पञ्चमहायज्ञ, यज्ञ, प्रायश्चित आदि का संक्षिप्त विवेचन किया गया है। जिससे इनके दार्शनिक आधार और सामाजिक जीवन पर इनके प्रभाव की जानकारी प्राप्त हो सके।

धार्मिक संस्थाओं की आधारभूत मान्यताएँ

धर्मशास्त्रों के समाज-दर्शन में संस्कार एक महत्त्वपूर्ण धार्मिक कृत्य के रूप में स्वीकृत है। किन्तु इसका सामाजिक जीवन के साथ बहुत ही गहरा सम्बन्ध है। संस्कारों के स्वरू। और उद्देश्यों को देखने से उनमें कुछ ऐसी मान्यतायें परिलक्षित होती हैं जिन्हें संस्कारों की आधारभूत मान्यता कहा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जा सकता है । इन मान्यताओं में निम्नलिखित का विशेष महत्त्व दीख पड़ता है :-

संस्कारों के भीतर यह आस्था एवं विश्वास निहित है कि मानव में स्वाभाविक स्वच्छता एवं पवित्रता है, किन्तु परिवेश एवं संसर्ग के कारण उसमें अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं, इन दोषों को निवारण करना उसके स्वाभाविक गुण को अभिव्यक्त करने के लिए आवश्यक है। दूसरी आस्था यह है कि धार्मिक कृत्यों के द्वारा दोषों का निवारण और अपेक्षित गुणों का विकास किया जा सकता है। व्यक्ति में जन्म से सामाजिक जीवन के लिये अपेक्षित गुण अवश्य रहते हैं किन्तु उनमें कमी-अधिक का होना सम्भव है अतः उनको विकसित करना सामाजिक जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है संस्कार शब्द की शाब्दिक व्याख्या से भी ये दोनों मान्यताएँ स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती हैं। संस्कार शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि संस्कार दोषनिःस्सारण पूर्वक गुणाधान की क्रिया है।

इसी प्रकार पञ्चमहायज्ञों की अवधारणा से यह स्पष्ट होता है कि पञ्चमहायज्ञ गृहस्थ के जीवन के वे धार्मिक कृत्य हैं जिनमें समाज की समग्रता के कल्याण में व्यक्ति के कल्याण की भावना निहित है साथ ही साथ उनसे यह भी स्पष्ट होता है कि व्यक्ति को अपने कल्याण के लिए समग्रता के कल्याण का ध्यान रखना परमावश्यक है।

धर्मशास्त्रों में यज्ञ-याग आदि भी धार्मिक संस्थाओं के अन्तर्गत माने गए हैं। यज्ञों की अवधारणा कुछ विश्वासों पर आधारित है। इनको देखने से यह स्पष्ट होता है कि उस समाज का मानव इस विश्वास या आस्था से परिचालित है कि मानव कि आकांक्षाओं की पूर्ति विभिन्न दैवी शक्तियों के अधीन है। व्यक्ति उन दैवी शक्तियों को सन्तुष्ट कर अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति कर सकता है। अपनी आकाक्षाओं की पूर्ति हो जाने पर भी वह उन शक्तियों की सन्तुष्टि के लिए जिनकी कृपा से उसकी आकांक्षाओं की पूर्ति हुई है, कार्य करना अपना कर्त्तव्य समझता है।

धर्मशास्त्रों में धार्मिक कृत्यों के अन्तर्गत प्रायश्चित कर्मों का भी विशिष्ट स्थान है। इस अवधारणा के अन्तर्गत यह मान्यता परिलक्षित होती है कि व्यक्ति से जाने-अनजाने ऐसे अनेक कार्य हो जाते हैं जिनका सामाजिक एवं धार्मिक नियमों से अनुमोदन नहीं हो पाता अपितु वे कार्य धार्मिकता और सामाजिकता के विरोधी होते हैं। ऐसे कार्यों के हो जाने से व्यक्ति अपने आप को और समाज के अन्य व्यक्ति ऐसे कार्य करने वाले व्यक्ति को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोषी, पापी या अपराधी समझने लगते हैं। इससे ऐसे कार्य करने वाले व्यक्ति का सामाजिक स्तर गिरने लगता है और उस व्यक्ति के मन में एक द्वन्द्व और तनाव का जन्म होता है। जिसके निवारण के लिए प्रायश्चित्त कर्म एक प्रकार के शुद्धिकरण की प्रक्रिया है। जिसके द्वारा व्यक्ति अपने किए हुए अनुचित कर्मों के द्वारा उत्पन्न दोष या कलंक से अपने को शुद्ध करता है। अपनी पूर्व सामाजिक स्थिति को पुनः प्राप्त करता है तथा मानसिक द्वन्द्व से छुटकारा पाता है।

इस प्रकरण में धार्मिक संस्थाओं के अन्तर्गत संस्कार, पञ्चमहायज्ञ, यज्ञ एवं प्रायश्चित्त आदि का संक्षिप्त विवरण उक्त स्थापनाओं को स्पष्ट करने के लिए दिया गया है।

संस्कार शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ

संस्कार शब्द की व्युत्पत्ति सम् पूर्वक 'कृञ्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय करने पर होती है। (सम्+कृ+घञ्=संस्कार) विभिन्न स्थलों पर भिन्न सन्दर्भों में इसका प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है[1]। प्रसंग के अनुसार संस्कार शब्द के अर्थ शिक्षा, संस्कृति, प्रशिक्षण, व्याकरण सम्बन्धी शुद्धि, संस्करण, परिष्करण, शोभा, आभूषण, प्रभाव स्वरूप, स्वभाव आदि किए जाते हैं। धर्मशास्त्रों में इसका तात्पर्य धार्मिक विधि-विधान एवं क्रियाओं से लिया गया है[2]। इससे यह स्पष्ट होता है कि धर्मशास्त्रों में संस्कार धार्मिक आधार पर किए जाने वाले उन अनुष्ठानों से सम्बन्धित है जो व्यक्ति के शारीरिक, बौद्धिक तथा आत्मिक विकास और शुद्धि के लिए जन्म से मृत्यु तक समयान्तर से सम्पन्न किए जाते हैं।

संस्कारों की संख्या

संस्कारों की संख्या के विषय में धर्मशास्त्रों में एकमत नहीं है। कुछ धर्मशास्त्रों में संस्कारों की संख्या सोलह मानी गई है और कुछ में चालीस। गौतम धर्मसूत्र में आठ आत्मगुणों के साथ चालीस संस्कारों का विवरण मिलता है[3]। मनु स्मृति में गर्भाधान से लेकर मृत्यु पर्यन्त तक किए जाने-

---

१–डा० राजबलि पाण्डेय, हिन्दू संस्कार, पृष्ठ १८

२–वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥ मनु, २.२६,

३– गौतम धर्म सूत्र, डा० राजबलि पाण्डेय, हिन्दू संस्कार, पृष्ठ २२–२३।
गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौल, उपनयन, चारवेद व्रत, स्नान, सहधर्मचारिणी, संयोग, पञ्चमहायज्ञ, अष्टकपार्वण, श्राद्ध, अग्निहोत्र, श्रावणी, आग्रहायणी, चैत्री, दर्शपौर्णमास्य, चातुर्मास्य, आग्रयणेष्टि, आश्रमुजी–इति सप्त पाकयज्ञ–निरूढ़–पशुबन्ध, सौत्रामणि–इति।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाले संस्कारों का विवरण इस प्रकार है[१]। गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामधेय, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, उपनयन, केशान्त, समावर्तन, विवाह एवं श्मशान।

याज्ञवल्क्य स्मृति में भी 'केशान्त' को छोड़कर मनु के द्वारा दिए गए सस्कारों की चर्चा मिलती है[२] परवर्ती स्मृतियों में सोलह संस्कारों की सूची दी गयी है। व्यास स्मृति के अनुसार निम्नलिखित संस्कार मान्य हैं। गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्त, जातकर्म, नामक्रिया, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, वयनक्रिया, कर्णभेद, व्रतादेश, वेदारम्भ, केशान्त, स्नान, उदाह, विवाहाग्नि-परिग्रह तथा त्रेताग्नि संग्रह[३]। गौतम ने अड़तालिस सस्कारों का विवेचन किया है किन्तु उसमें अन्त्येष्टि सम्मिलित नहीं है। उनकी धारणा है कि अन्त्येष्टि एक अशुभ संस्कार है और शुभ सस्कारों के साथ इसका वर्णन नहीं करना चाहिए[४]। मन तथा याज्ञवल्क्य स्मृति में संस्कारों की गणना में अन्त्येष्टि समन्त्र संस्कारों में से एक है[५]।

संस्कारों का प्रयोजन

धर्मशास्त्रों को देखने से पता चलता है कि संस्कारों का मुख्य प्रयोजन देवों की आराधना तथा व्यक्तित्व के समग्र एवं पूर्ण विकास के लिए शारीरिक, मानसिक आदि दोषों को हटाकर अपेक्षित गुणों का आधान करना है[६]।

गर्भाधान संस्कार

मनुष्य के जन्म होने से पूर्व उसके निमित्त जिस प्रथम संस्कार को सम्पन्न किया जाता है, उसे गर्भाधान संस्कार कहते हैं। जिस कर्म के द्वारा पुरुष स्त्री में अपना वीर्य स्थापित करता है उसे गर्भाधान संस्कार कहा जाता

१— निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः।
तस्य शास्त्रे धिकारो स्मिन्ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित्॥ मनु, २. १६,

२— याज्ञवल्क्यस्मृति, आचाराध्याय २

३— डा० राजबलि पाण्डेय, हिन्दू संस्कार, पृष्ठ २४

४— डा० राजबलि पाण्डेय, हिन्दू संस्कार, पृष्ठ २६

५— निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः।
तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिन्ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित्॥ मनु २. १६

६— वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥ मनु २. २६,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। इस संस्कार के द्वारा समाज की निरन्तरता तथा पितृ ऋण से उऋण होने के लिए सन्तानोत्पादन का संकल्प करके पति स्नानादि से शुद्ध हुई समान विचार से प्रेरित पत्नी के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित करता है। इस संस्कार के स्वरूप, समय आदि के विषय में धर्मशास्त्रों में मतैक्य नहीं है। मनु एवं याज्ञवल्क्य के अनुसार रजोदर्शन के दिन से सोलह रात्रियाँ (दिन-रात) स्त्रियों का स्वाभाविक ऋतुकाल है। उनमें समागम के अयोग्य प्रथम चार (दिन-रात) भी सम्मिलित है[1]। उन सोलह रात्रियों में प्रथम चार, ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्रियां (अर्थात् छः रात्रियां) स्त्री सम्भोग के लिए निन्दित मानी गयी हैं, शेष दस रात्रियाँ स्त्री सम्भोग के लिये उपयुक्त मानी गई है[2]। कात्यायन, पराशर तथा अन्य लोगों के मत से रजस्वला स्त्री चौथे दिन स्नान करके पवित्र होती है[3]। मनु एवं याज्ञवल्क्य के अनुसार गर्भाधान के लिए अमावस्या, अष्टमी, पूर्णिमा और चतुर्दशी तिथियाँ श्रेष्ठ नहीं हैं[4]। मनु[5], याज्ञवल्क्य[6] दोनों की मान्यता है कि लड़के की उत्पत्ति के मासिक धर्म के चौथे दिन के उपरान्त सम दिनों में तथा लड़की की उत्पत्ति के लिए विषम दिनों में सम्भोग करना चाहिए। वैखानस[7] का कहना है कि गर्भाधान के लिये तत्पर स्त्री को चाहिए कि वह अंगराग लेप करे, किसी नारी या शूद्र से बात न करे, पति को छोड़कर किसी अन्य को न देखे, क्यों कि स्नानोपरान्त वह जिसे देखेगी, उसीके समान उसकी सन्तान होगी।

गर्भाधान के लिए केवल रात्रिकाल ही विहित है और दिन का समय

१– ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः।
चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्विगर्हितैः ॥ मनु ३. ४६,
याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय, ७९

२– तासामाद्याश्चतस्त्रस्तु निन्दितैकादशी च या।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः॥ मनु ३. ४७,

३– पराशर, ७. १७,

४– अमावास्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम्।
ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः॥ मनु ४. १२८,
याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय, ७९

५– युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु।
तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम्॥ मनु ३. ४८,

६– याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय, ७९

७– वैखानस, ३. ९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्जित है[१]। इसका कारण यह दिया गया है कि दिन में सम्भोग करनेवाले पुरुष का प्राणवायु अधिक तेज चलने लगता है। दिन में सम्भोग का निषेध का दूसरा कारण यह दिया गया है कि इससे अभाग्यशाली, शक्तिहीन और अल्पायु सन्तति उत्पन्न होती है। स्मृतिकारों ने इस विचार की पुष्टि की है कि पिछली रात्रियों में धारण हुई सन्तति अधिक भाग्यवान और गुण सम्पन्न होती हैं। धर्मशास्त्रों की मान्यता है कि गर्भाधान की रात्रियों के अनुसार शिशु में गुण, दोष उत्पन्न होते हैं। सोलह रात्रियों में से चौथी रात्रि में धारण हुआ पुत्र अल्पायु और धनहीन होता है। पञ्चम रात्रि में धारण की हुई कन्या स्त्री सन्तति को ही उत्पन्न करती है। छठीं रात्रि का बच्चा मध्यम श्रेणी का (उदासीन) होता है। सप्तम रात्रि की कन्या वन्ध्या होती है। आठवीं रात्रि का लड़का संपत्ति का स्वामी होता है। नवीं रात्रि के गर्भ से शुभ स्त्री उत्पन्न होती है, दसवीं का पुत्र बुद्धिमान होता है, ग्यारहवीं रात्रि की कन्या अधार्मिक होती है और बारहवीं रात्रि का पुत्र श्रेष्ठ पुरुष होता है। तेरहवीं रात्रि की कन्या व्यभिचारिणी होती है, चौदहवीं रात्रि का पुरुष धार्मिक, कृतज्ञ, संयमी और दृढ़ प्रतिज्ञ होता है, पन्द्रहवीं रात्रि की कन्या बहुत पुत्रों की माता और पतिव्रता होती हैं, सोलहवीं रात्रि का पुत्र विद्वान, श्रेष्ठ, सत्यवादी, जितेन्द्रिय और समस्त प्राणियों के लिए शरण देने वाला होता है[२]।

मनु[३] तथा अन्य स्मृतियों में विधवा, नपुंसक की स्त्री या अयुक्त पति की पत्नी को देवर, सगोत्र या ब्राह्मण से नियोग के द्वारा सन्तति प्राप्त करने की अनुमति दी गयी है। नियोग के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य का कहना है कि वृद्धों की आज्ञा से मृत पति का भाई उसकी पत्नी के साथ ऋतुकाल में अपने शरीर पर घी मलकर सहवास करे। उसके न होने पर सगोत्र या सपिण्ड का कोई दूसरा व्यक्ति ऐसा करे[४]। मनु स्मृति में नियोग को पशुधर्म बताया गया और प्रतिनिधित्व का विरोध भी किया गया है[५]। नियोग एवं

१– याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय, ७९

२– डा० राजबलि पाण्डेय, हिन्दू संस्कार, पृष्ठ ६४–६५

३– देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया।
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ॥ मनु ९. ५९,

४– याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय, ६८

५– अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः।
मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति ॥
ततः प्रभृति यो मोहात्प्रमीतपतिकां स्त्रियम्।
नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः ॥ मनु ९. ६६. ६८,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिनिधित्व के समर्थन और विरोध से ऐसा लगता है कि समर्थन में लोक कल्याण, धर्मरक्षा आदि का भाव निहित है। किन्तु स्मृतिकारों को इसके दुष्परिणाम का भय भी है जो इसके विरोध में स्पष्ट दीखता है। कहने का तात्पर्य यह है कि यह व्यवस्था एक पुत्र उत्पन्न करने मात्र के लिए थी किन्तु इसकी स्वीकृति से कामुकता पर बन्धन लगाना कठिन था अतः आगे चलकर इसका विरोध भी किया गया।

पुंसवन संस्कार

गर्भ धारण का निश्चय हो जाने के पश्चात् गर्भस्थ शिशु को पुंसवन नामक संस्कार के द्वारा अभिषिक्त किया जाता है। पुंसवन का तात्पर्य सामान्यतः उस कार्य से है जिसके अनुष्ठान से पुं-पुमान् (पुरुष) का जन्म हो[1]। स्मृतियों में इस संस्कार के अनुष्ठान के लिए उचित समय का विचार किया गया है। याज्ञवल्क्य[2] के अनुसार गर्भाशय में गर्भ के गतिशील होने के पूर्व यह संस्कार सम्पन्न होना चाहिए। परन्तु वृहस्पति, जातुकर्ण्य तथा शौनक का मत है कि गर्भ धारण के स्पष्ट हो जाने पर उसके तीसरे मास में यह संस्कार होना चाहिए। आश्वलायन गृहसूत्र में इस संस्कार के सम्बन्ध में कहा गया है कि गर्भ के तीसरे महीने तिष्य (अर्थात् पुष्य) नक्षत्र के दिन स्त्री को गत पुनर्वसु नक्षत्र में उपवास कर लेने के उपरान्त अपने ही रंग के बछड़े वाली गाय के दही के साथ दो कण शिम्बिक (सेम) और जौ का एक दाना तीन बार लेना चाहिए। यह पूछने पर कि तुम क्या पी रही हो, स्त्री उत्तर देती है कि पुंसवन (पुत्र की उत्पत्ति)। यहाँ यह प्रश्न उठाया गया है कि पुंसवन प्रत्येक गर्भ धारण में किया जाना चाहिए अथवा नहीं ? शौनक का मत है कि यह संस्कार प्रत्येक गर्भ धारण पर किया जाना चाहिए। इसके करने से गर्भ पवित्र एवं शुद्ध हो जाता है[3]। पर याज्ञवल्क्य का कहना है कि इस सस्कार का सम्पादन एक ही बार प्रथम गर्भ के समय होना चाहिए। प्रत्येक गर्भ धारण में नहीं[4]।

इस संस्कार का महत्त्व उसके प्रमुख तत्त्वों में निहित है। यह कृत्य उस समय किया जाता है जब चन्द्रमा किसी पुरुष नक्षत्र में होता है। यह

१– शौनक, वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश, भाग–१, पृष्ठ १६६ पर उद्धृत।
२– याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय, ११,
३– डा० राजबलि पाण्डेय, हिन्दू संस्कार, पृष्ठ ७६
४– याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय, मिताक्षरा, ११

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काल पुंसन्तति के जन्म में सहायक माना जाता है। गर्भिणी स्त्री को प्राणेन्द्रिय के दाहिने रन्ध्र में वट वृक्ष का रस गर्भपात के निरोध तथा पुंसन्तति के जन्म के निश्चय के उद्देश्य से छोड़ा जाता है[1]।

सीमन्तोन्नयन संस्कार

गर्भ का तीसरा संस्कार सीमन्तोन्नयन है। सीमन्तोन्नयन शब्द का अर्थ है स्त्री के केशों को ऊपर उठाकर विभाजित करना। याज्ञवल्क्य[2] ने इस संस्कार को सीमन्त की संज्ञा दी है। मानव गृह सूत्र[3] ने इसे सीमन्त-करण कहा है। आश्वलायन ने गर्भाधान के चौथे मास में सीमन्तोन्नयन कृत्य करने का निर्देश दिया है। इस संस्कार का प्रयोजन विश्वासमूलक लगता है। लोगों को ऐसा विश्वास है कि गर्भिणी को अमंगलकारिणी शक्तियाँ ग्रस्त कर सकती हैं, अतः उनके निराकरण के लिए यह संस्कार आवश्यक माना गया।

यह संस्कार किसी पुरुष नक्षत्र के समय सम्पन्न किया जाता है, भावी माता को उस दिन उपवास करना होता है। धार्मिक विधि विधान के साथ यह कृत्य आरम्भ होता है। पत्नी अग्नि के पश्चिम में एक आसन पर बैठ जाती है और पति उदुम्बर के समसंख्यक कच्चे फलों के गुच्छों, कुश के तीन गुच्छों, तीन श्वेत चिह्न वाले साही के कांटे, वीरव्रत काष्ठ की यष्ठि तथा पूर्ण तकुवे के साथ 'भूर्भुवः स्वः" आदि मन्त्रों का उच्चारण करता हुआ पत्नी के शिर के अग्रभाग को ऊपर करके उसे संवारता है[4]। गृहसूत्रों में इस संस्कार के लिये उचित काल गर्भ के चतुर्थ या पञ्चम मास माना गया है। किन्तु स्मृतियों में यह काल छठवें अथवा आठवें मास तक माना गया है[5]। कुछ लोगों का विचार है कि यह संस्कार शिशु के जन्म तक कभी भी किया जा सकता है।

जातकर्म संस्कार

बच्चा जब जन्म लेता है, उस समय यह संस्कार सम्पन्न किया जाता

१– डा० राजबलि पाण्डेय, हिन्दू संस्कार, पृष्ठ ७६
२– याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय, ११
३– मानव गृह सूत्र, १. १२. २
४– डा० राजबलि पाण्डेय, हिन्दू संस्कार पृष्ठ ८१
५– बौ० गृ० सू०, १. १०. १; आपस्तम्ब गृ० सू०, १४. १

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। दूसरे शब्दों में प्रसव की पीड़ा के समय से लेकर बालक का जन्म होने पर उसके नाल छेदन के समय तक जो क्रियाएं सम्पन्न की जाती हैं, उन्हीं के योग को जात कर्म संस्कार कहते हैं। पीड़ा के समय स्त्री के शरीर पर जल मार्जन किया जाता है। पुत्र का जन्म होने पर उसके शरीर को स्वच्छ करके पिता की गोद में दिया जाता है। पिता यज्ञवेदी के पास जाकर एक सलाका पर घी तथा शहद लगाकर मन्त्रोच्चारण के साथ बालक को चटाता है। इसके बाद चावल तथा जौ के दानों को पीसकर जल में छान लिया जाता है और एक बर्तन में रखकर पिता अपने अंगूठे तथा अनामिका अंगुली से बालक के मुख में एक बूँद डाल देता है। इसके पश्चात यज्ञ, हवन करके विद्वान ब्राह्मण बालक को शतायु होने का आशीर्वाद देते हैं[१]।

नामकरण संस्कार

संस्कार के अन्तर्गत नामकरण संस्कार भी महत्त्वपूर्ण है, इस संस्कार में सन्तान को नाम प्रदान किए जाने का विधान है इसके निमित्त किसी शुभ मुहूर्त में देवपूजन और यज्ञादि का आयोजन किया जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों[२] गृहसूत्रों[३] एवं स्मृतियों[४] आदि में नामकरण संस्कार का विस्तार पूर्वक वर्णन मिलता है। मनु के अनुसार दसवें या बारहवें दिन शुभ तिथि, नक्षत्र और मुहूर्त में नामकरण संस्कार का आयोजन करना चाहिए[५]। याज्ञवल्क्य[६], विश्वरूप[७] और कुल्लूक[८] के अनुसार इसे ग्यारहवें दिन सम्पन्न करना चाहिए। मेधातिथि ने इसे दसवें दिन सम्पादित करने का निर्देश दिया है[९]। धर्मशास्त्रों में शिशु का नाम प्रायः देवताओं, नक्षत्रों आदि के नाम पर रखने का निर्देश दिया गया है। धर्मशास्त्रों, देवताओं के नाम

१– पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम खण्ड, पृष्ठ १८०

२– शतपथ ब्राह्मण, ६. १. ३. ६; तैत्तिरीय संहिता, ६. १. १३

३– आश्वलायन गृह सूत्र, १५. ८. ११

४– नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वाऽस्य कारयेत्।
पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ।। मनु. २.३०
याज्ञवल्क्य आचाराध्याय, ११ अहन्येकादशे नामः।

५– मनु, २. ३०

६– याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय, १२

७– विश्वरूप मनुस्मृति, २. ३०

८– मेधातिथि मनुस्मृति, २. ३० कुल्लूक मनुस्मृति, २. ३०

९– मेधातिथि मनुस्मृति, २. ३०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर, मास के नाम पर, नक्षत्र के नाम पर रखने का निर्देश किया गया है। देवताओं के नाम पर रखने का तात्पर्य है कि वह देवी या देवता जिसकी पूजा उस कुल में बहुत प्राचीन काल से चली आ रही हो[1]। इस आधार पर शिशु का नाम रखने का आशय था कि शिशु को कुल देवता का संरक्षण प्राप्त होगा। इन्दु, सोम, वरुण, मित्र, प्रजापति आदि वैदिक अथवा कृष्ण, राम, शंकर, गणेश आदि पौराणिक देवता का नाम रखा जाता है। गार्ग्य के अनुसार मार्गशीर्ष से प्रारम्भ होनेवाले नाम हैं, कृष्ण, अनन्त, अच्युत, चक्री, वैकुण्ठ, जनार्दन, उपेन्द्र, यज्ञ-पुरुष, वासुदेव, हरि, योगीश, पुण्डरीकाक्ष[2]। यह उस नक्षत्र के नाम से निष्पन्न होता है जिसमें शिशु का जन्म हुआ हो उस नक्षत्र के अधिष्ठातृ देवता के नाम पर उसका नाम रखा जाता है। नक्षत्रों तथा उनके देवताओं के नाम इस प्रकार हैं—अश्विनी-अश्विन, भरणी-यम, कृत्तिका-अग्नि, रोहिणी-प्रजापति, मृगाशिरा-सोम, आर्द्रा-रुद्र, पुनर्वसु-आदिति, पुष्य-बृहस्पति, आश्लेष-सर्प, मघा-पितृ, पूर्वाफाल्गुनी-भग, उत्तराफाल्गुनी-अर्यमन, हस्त-सवितृ, चित्रा-त्वष्ट्रा, स्वाति-वायु, विशाषा-इन्द्राग्नि, अनुराधा-मित्र, ज्येष्ठा-इन्दु, मूल-निर्ऋति, पूर्वाषाढ़-आप्, उत्तराषाढ़-विश्वेदेवा, श्रवण-विष्णु, धनिष्ठा-वसु, शतभिषक्-वरुण, पूर्वभाद्रपद-अजैकपाद, उत्तरभाद्रपद-अहिबुर्घ्न्य तथा रेवती-पूषन्। जैसे यदि बालक आश्विनी नक्षत्र में उत्पन्न होता है तो उसका नाम अश्विनी कुमार रखा जाता है[3]। व्यवहारिक नाम की रचना प्रधानतः कुल की संस्कृति तथा शिक्षा पर निर्भर करती थी। नामकरण के लिए व्यावहारिक बातों को ध्यान में रखकर जैसे नाम उच्चारण सरल तथा श्रवण सुखद हो, लिंगभेद का विभेद हो, पुरुष एवं स्त्री के नाम प्राकृतिक रचना और स्वभाव के प्रतीक हों, इस प्रकार नाम रखने का विधान किया गया है[4]।

मनु के अनुसार व्यक्ति की सामाजिक स्थिति को ध्यान में रखते हुऐ नामकरण संस्कार करने का निर्देश मिलता है। जैसे ब्राह्मण का नाम मंगल-सूचक, क्षत्रिय का बलसूचक, वैश्य का धन सूचक तथा शूद्र का नाम जुगुप्सित

१– कुलदेवता कुलपूज्या देवता तयासम्बद्धतत्प्रतिपादकमित्यर्थः।
अस्मिश्च व्याख्याने अनादिरवच्छिन्नः शिष्यचारोमूलम्। वी० मि० सं० भा०, १ पृष्ठ २३७

२– डा० राजबलि पाण्डेय, हिन्दू संस्कार, पृष्ठ १०५

३– वही, पृष्ठ १०४

४– वही, पृष्ठ १०६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथवा कुत्सासूचक शब्दों से युक्त रखने को बतलाया गया है[१]। मनु ने और भी स्पष्ट करते हुए कहा है कि ब्राह्मण का नाम सुख तथा आनन्द का सूचक होना चाहिए, क्षत्रिय का नाम रक्षा तथा शासन की क्षमता का सूचक, वैश्य का पुष्टि तथा ऐश्वर्य का सूचक तथा शूद्र का नाम दास्य अथवा आज्ञा-कारिता पर आधारित होना चाहिए[२]। धर्मशास्त्रों में विभिन्न वर्णों के उपनाम भी रखने की व्यवस्था की गई है जैसे–ब्राह्मण के नाम के साथ शर्मा, क्षत्रिय के नाम के साथ वर्मा, वैश्य के नाम के साथ गुप्त लगाने का विधान किया गया है[३]। शूद्र के नाम के साथ 'दास' शब्द का प्रयोग किया जाता है[४]।

मनु ने स्त्रियों के भी नाम के लिए निर्देश दिया है कि स्त्रियों का नाम सुखपूर्वक उच्चारण करने योग्य, अक्रूर तथा स्पष्ट अर्थवाला, मनोहर, मंगलसूचक, अन्त में दीर्घ अक्षरवाला और आशिर्वाद से युक्त अर्थवाला होना चाहिए[५]। इस प्रकार पुत्रियों के नाम के अन्त में आ, दा, लगता है जैसे-वसुदा, यशोदा, नर्मदा, पुष्पा। नदियों और नक्षत्रों के नाम पर भी पुत्रियों के नाम रखे जाने का वर्णन मिलता है[६]।

निष्क्रमण संस्कार

निष्क्रमण अथवा शिशु को विधि विधान पूर्वक प्रसूतिगृह से बाहर निकालना। प्रसूतिगृह में रहने की निर्धारित अवधि समाप्त हो जाने पर माता उस छोटे से कमरे से बच्चे के साथ बाहर आती है और पुनः पारिवारिक जीवन में भाग लेना आरम्भ कर देती है। निष्क्रमण संस्कार करने का समय जन्म के पश्चात् बारहवें दिन से चतुर्थ मास तक भिन्न-भिन्न बतलाया गया है। स्मृतियों के अनुसार सामान्यतः जन्म के पश्चात् तीसरे या चौथे मास

१– मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वितम्।
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम्॥ मनु २.३१

२– शर्मवद्ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम्।
वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम्॥ मनु २. ३२,

३– शर्म ब्राह्मणस्य वर्म क्षत्रियस्य गुप्तेति वैश्यस्य। पारस्कर गृ० सू०, १. १७

४– अत्राप्युदाहरन्ति-शर्मान्तं ब्राह्मणस्य, वर्मान्तं क्षत्रियस्य,
गुप्तान्तं वैश्यस्य शूद्रस्य दासान्तमेव वा। बौ० गृ० सू०, १. १. १०,

५– स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम्।
मङ्गल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत्॥ मनु २. ३३,

६– नक्षत्रनामा, नदीनामा, वक्षनामश्य गर्हिताः। आ० गृ० सू०, ३. १३,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में यह संस्कार किया जाता है। गृहसूत्रों के अनुसार माता-पिता इस संस्कार को सम्पन्न करते हैं किन्तु पुराणों में इसके अधिकार को अपेक्षाकृत व्यापक बना दिया गया है। पुराणों के अनुसार इस संस्कार को सम्पन्न करने के लिये मामा को आमंत्रित करना वांछनीय है।

इस संस्कार के दिन माता बरामदे या आंगन के ऐसे वर्गाकार भाग को, जहाँ से सूर्य दिखाई देता है, गोबर और मिट्टी से लीपकर उसपर स्वस्तिक का चिह्न बनाती तथा धान्य द्रव्यों का विकीर्ण करती है। बालक को भलीभाँति अलंकृत करके कुल देवता के समक्ष लाया जाता है। वाद्य सगीत के साथ देवता की पूजा की जाती है पूजन के बाद उसे किसी मन्दिर में ले जाया जाता है जहाँ धूप, दीप, नैवेद्य आदि से देवार्चन होता है तथा ब्राह्मण उसे आशिर्वाद देते हैं। बाहर आने पर बालक को उसके मामा की गोद में दे दिया जाता है जो उसे घर लाता है।

इस संस्कार का व्यवहारिक अर्थ केवल यही है कि एक निश्चित समय के पश्चात् बालक को प्रसूति घर से बाहर उन्मुक्त वायु में लाने की क्रिया को एक उत्सव के रूप में मनाया जाय।

अन्न प्राशन संस्कार

इस संस्कार के पूर्वतक शिशु भोजन के लिए केवल अपनी माता के दूध पर ही आश्रित रहता है बालक के जन्म से छः सात महीनों के पश्चात् उसके शरीर का विकास तेजी से होने लगता है। उसके पोषण के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के भोजन की आवश्यकता होती है जिसे वह भलीभाँति पचा सके। उस समय तक माता के दूध की मात्रा भी घट जाती है अतः माता और शिशु दोनों के हित की दृष्टि से यह आवश्यक है कि शिशु के लिए माता के दूध से अतिरिक्त किसी अन्य पौष्टिक खाद्य-पदार्थ की व्यवस्था हो। इस प्रकार यह संस्कार शिशु की शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति से सम्बद्ध है। मनु और याज्ञवल्क्य के अनुसार इस संस्कार का समय शिशु के जन्म के पश्चात् छठवां मास है[१]।

चूड़ाकरण संस्कार

धर्मशास्त्रों के अनुसार व्यक्ति के लिए दीर्घ आयु, सौन्दर्य और

१– चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात्।
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले ॥ मनु २. ३४,
याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय १२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कल्याण की प्राप्ति इस संस्कार का प्रयोजन है[१]। चरक का मत है कि केश, शम्श्रु तथा नखों के काटने तथा प्रसाधन से पौष्टिकता, बल, आयुष्य, सुचिता और सौन्दर्य की प्राप्ति होती है[२]। चूड़ाकरण संस्कार के मूल में स्वास्थ्य तथा सौन्दर्य की भावना मुख्य है। गृहसूत्रों के अनुसार चूड़ाकरण सस्कार जन्म के पश्चात् प्रथम वर्ष के अन्त में अथवा तृतीय वर्ष की समाप्ति के पूर्व सम्पन्न होता है[३]। स्मृतिकार मनु भी यही मानते हैं[४]। इस सस्कार के लिए एक शुभ मुहूर्त निकालकर अपने यहाँ की परम्परा के अनुसार इसे सम्पादित किया जाता है। पी० वी० काणे ने हारीत का सन्दर्भ देते हुए कहा है कि आजकल हिन्दुओं का एक लक्षण शिखा है किन्तु कुछ लोग शिखा रखने में संकोच करते हैं[५]। देवल ऋषि ने लिखा है कि विना यज्ञोपवीत एव शिखा के कोई भी धार्मिक कृत्य नहीं करना चाहिए। क्योंकि इसके अभाव में किया गया धार्मिक कृत्य न करने के समान है। यदि कोई व्यक्ति घृणावश, मूर्खतावश या अबोधता के कारण शिखा कटा लेता है तो उसका पाप-मोचन तप्तकृच्छ्र प्रायश्चित से ही सम्भव है[६]। आश्वलायन गृह सूत्र का मत है कि लड़कियों का भी चूड़ाकरण सस्कार होना चाहिए लेकिन इसके अर्न्तगत वेद-मन्त्रों का उच्चारण नहीं होना चाहिए। गर्भ के बाल अशुभ माने जाते हैं अतः कुछ विचारकों का मत है कि इस संस्कार को सम्पन्न करने के लिए सम्पूर्ण सिर के बालों का साफ करा देना चाहिए।

उपनयन संस्कार

तरुणावस्था में प्रवेश करते समय उपनयन संस्कार+ होता है अथर्ववेद

१– आश्वलायन गृह सूत्र, १. १७. १२, तेन ते आयुषेवपामि सुश्लोकाय स्वस्तये।
२– डा० राजबलि पाण्डेय, हिन्दू संस्कार, पृ० १२०
३– पारस्कर गृ० सू०, २. १. १-२
४– चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात् ।। मनु २. ३५,
५– पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, खण्ड–१, पृष्ठ २०५
६– पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम खण्ड, पृष्ठ २०५
+ आधुनिक युग में उपनयन शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट संस्कार के अर्थ में किया जाता है जो द्विजाति कहे जानेवाले व्यक्ति के विवाह के पूर्व किसी समय भी किया जा सकता है इस अर्थ में इसे "जनेऊ" कहा जाता है, जिसका अभिप्राय उस संस्कार से है जिसमें बालक को यज्ञोपवीत पहनाया जाता है।[१]
१– डा० राजबलि पाण्डेय, हिन्दू सस्कार, पृष्ठ–१४६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में उपनयन शब्द का प्रयोग 'ब्रह्मचारी को ग्रहण करने' के अर्थ में किया गया है[१]। मनु ने उपनयन संस्कार का समय निर्धारित करते हुए कहा है कि ब्राह्मण बालक का गर्भ से आठवें वर्ष में, क्षत्रिय बालक का गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में और वैश्य बालक का गर्भ से बारहवें वर्ष में उपनयन संस्कार करना चाहिए। कुछ विशिष्ट गुणों की प्राप्ति के लिए मनु ने बताया है कि ब्रह्मवर्चस की प्राप्ति के लिए इच्छुक ब्राह्मण का पाँचवें वर्ष में, शक्ति के लिये इच्छुक क्षत्रिय का छठें वर्ष में, और ऐश्वर्य के इच्छुक वैश्य का उपनयन संस्कार आठवें वर्ष में होना चाहिए[२]। उपनयन संस्कार की अन्तिम सीमा ब्राह्मण के लिये सोलह, क्षत्रिय के लिए बाइस और वैश्य के लिए चौबीस वर्ष की आयु मानी गयी है[३]। धर्मशास्त्रों के नियमानुसार ब्राह्मणों को कपास की, क्षत्रिय को सन का तथा वैश्य को भेड़ के ऊन का उपवीत धारण करना चाहिए[४]।

शूद्रों के लिए उपनयन संस्कार का विधान नहीं है। मनु इस संस्कार का अर्थ द्वितीय जन्म (वैदिक या ब्रह्मजन्म) के रूप में लेते हैं जिसका प्रतीक मूँज से बनी मेखला का धारण करना है, सावित्रि ब्रह्मचारी की माता और आचार्य पिता हैं। कुछ शास्त्रकारों ने इस संस्कार का नाम "सावित्रि-वचन्" (सावित्रि की शिक्षा) दिया है। उपनयन शब्द पर अपरार्क का मत है कि उपनयन शब्द से अन्तेवासी (छात्र) और गायत्री के बीच का सम्पर्क अभिप्रेत है जिसकी स्थापना आचार्य करता है।[५] स्मृतियों की मान्यता के अनुसार उपनयन के बिना कोई भी व्यक्ति द्विज नहीं कहा जा सकता है। उपनयन के सम्बन्ध में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसके द्वारा व्यक्ति की गणना द्विजों में होती है।[६] मनु ने तो यहां तक माना है कि इस

१– अथर्ववेद, ११. ५. ३, उपनयमानो ब्रह्मचारिणम् ।।

२– गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् ।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ।।
ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे ।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ।। मनु २. ३६-३७,

३– पारस्कर गृ० सू०, २. ५. ३६-३८

४– कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत् ।
शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम् ।। मनु २. ४४,

५– याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय, १४, पर अपरार्क की व्याख्या।

६– डा० राजबलि पाण्डेय, हिन्दू संस्कार, पृष्ठ १४४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संसार से मनुष्य का ऐहिक व पारलौकिक जीवन पवित्र होता है।[1]

केशान्त संस्कार

यह संस्कार सोलह वर्ष की आयु में सम्पन्न होता है। यह यौवन के पदार्पण का सूचक है, ब्रह्मचारी अब बालक नहीं रह जाता उसके मुख पर दाढ़ी-मूंछ निकल आते हैं तब उसे इन बालों को कटाने की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है। केशान्त संस्कार गर्भ से सोलहवें वर्ष में ब्राह्मण का, बाइसवें वर्ष में क्षत्रिय का और चौबीसवें वर्ष में वैश्य का (ब्रह्मचर्यावस्था में धारण किये केश का छेदन) कराना चाहिए।[2] इस संस्कार के पश्चात् ब्रह्मचारी गुरु को एक गौ दान के रूप में देता है। संस्कार के अन्त में मौनव्रत का पालन तथा एक वर्ष पर्यन्त कठोर अनुशासित जीवन व्यतीत करना आवश्यक होता है।

समावर्तन संस्कार

यह संस्कार ब्रह्मचर्य के समाप्त होने पर सम्पन्न किया जाता है तथा विद्यार्थी जीवन की समाप्ति का सूचक है। समावर्तन शब्द का अर्थ है वेदाध्ययन के पश्चात् गुरुकुल से घर की ओर प्रत्यावर्तन। इस संस्कार को स्नान भी कहते हैं। संस्कृत साहित्य में इसकी तुलना एक सागर पार करने से की जाती है और जो व्यक्ति विद्याओं का अध्ययन, कर प्रकाण्ड पण्डित हो जाता है उसको यह समझा जाता है कि उसने सागर को पार कर लिया है। अतः ब्रह्मचारी अपने अध्ययन के समाप्त करने पर ऐसा व्यक्ति माना जाता है जिसने विद्या के सागर को पार कर लिया है। वह विद्या स्नातक (जिसने विद्या में स्नान कर लिया है) तथा व्रत स्नातक (जिसने अपने व्रतों में स्नान कर लिया है) कहा जाता है।[3] इस प्रकार यह संस्कार विद्यार्थी के द्वारा विद्या सागर पार करने का प्रतीक है। यहां से निकलने के पश्चात् ब्रह्मचारी सवर्ण एवं सुलक्षण कन्या से विवाह कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है।[4]

१—वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ।। मनु २. २६;

२—केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते ।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः ।। मनु २. ६५;

३—पारस्कर गृ० सू०, २. ५. ३२-३६

४—गुरुणाऽनुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि ।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ।। मनु ३. ४;

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवाह संस्कार

विवाह संस्कार अपने अन्तर्गत अनेक धार्मिक कृत्यों का समावेश करता है। इन कृत्यों को तीन वर्ग में विभक्त किया जा सकता है। कुछ कृत्य प्रारम्भिक कहे जा सकते हैं। इन प्रारम्भिक कृत्यों के बाद मुख्य कृत्य हैं जिन्हें संस्कार का सार तत्त्व कहा जा सकता है। जैसे पाणिग्रहण, होम, अग्निप्रदिक्षण तथा सप्तपदी आदि। इन मुख्य कृत्यों के बाद तृतीय वर्ग के कृत्य आते हैं जिन्हें मुख्य कृत्यों का प्रतिफल कहा जा सकता है। जैसे ध्रुव तारा अरुन्धती आदि का दर्शन।

विवाह संस्कार के सदर्भ में होने वाले कृत्यों के विषय में मनु और याज्ञवल्क्य ने विशेष चर्चा नहीं की है किन्तु धर्मशास्त्रों के आधार पर निम्न लिखित कृत्यों को विवाह संस्कार के अन्तर्गत माना गया है। वधू वर गुण परीक्षा, वर प्रेक्षण अर्थात् कन्या के लिए बातचीत करने के लिए लोगों को भेजना, वरदान अर्थात् विवाह तय करना, मण्डपकरण, अर्थात विवाह के लिए मण्डप आदि बनाना, नान्दीश्राद्ध तथा पुण्याहवाचन, वधूगृहागमन अर्थात् वर का बारात के साथ वधू के द्वार पर जाना, मधुपर्क अर्थात् वधू के घर में वर का स्वागत स्नापन, परिधायन एवं सन्नहन अर्थात् वधू को स्नान कराना, नया वस्त्र देना, उसकी कटि में धागा या कुश का रस्सी बाँधना, समञ्जन अर्थात् वर एवं वधू को उबटन या सुगन्ध लगाना प्रतिसरबन्ध अर्थात् वधू के हाथ में कंगन बांधना, वधू-वर निष्क्रमण अर्थात् घर के अन्तः कक्ष से वर एवं वधू का मण्डप में आना, परस्पर समीक्षण (एक दूसरे को देखना), कन्यादान, अग्निस्थापन एवं होम, पाणिग्रहण, अग्नि परिणयन (अग्नि की प्रदक्षिणा), अश्मारोहण वधू को पत्थर पर चढ़ाना, सप्तपदी, मूर्धाभिषेक (वर-वधू के सर पर जल छिड़कना, सूर्यावीक्षण (वर का सूर्य की ओर देखना), हृदयस्पर्श, प्रेक्षिकानुमन्त्रण, दक्षिणादान गृहप्रवेश गृहप्रवेशनीय होम, (वर के गृह प्रवेश करते समय होम), ध्रुवअरुन्धति दर्शन (विवाह के दिन वधू को ध्रुव और अरुन्धति तारे की ओर देखने को कहना) आग्नेय स्थालीपाक (अग्नि को पक्वान्न की आहुति देना), त्रिरात्रव्रत (विवाह के बाद तीन रात्रियों तक कुछ नियम का पालन), चतुर्थीकृत्य, (विवाह के उपरान्त चौथी रात्रि में होने वाले कृत्य), सीमान्तपूजन (वधू के ग्राम पर वर एवं बारात का स्वागत), हर-गौरी पूजा मंगलसूत्र बन्धन, उत्तरीय प्रान्त बन्धन (गठबन्धन), देवकोत्थापन एवं मण्डपोद्वासन अर्थात्देवताओं का विसर्जन आदि।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवाह संस्कार का महत्त्व पुरुष की अपेक्षा स्त्री के लिए अधिक है। पुरुष का जहां द्विजत्व या उपनयन संस्कार गुरुकुल निवास आदि अनेक महत्वपूर्ण सस्कार होते हैं उसके बाद विवाह संस्कार का अवसर आता है किन्तु स्त्री के लिए सबसे महत्वपूर्ण संस्कार जो उनके जीवन शैली में पूर्ण परिवतन लाता है, विवाह है। यही कारण है कि धर्मशास्त्रों ने स्त्रियों के लिए विवाह सस्कार को वैदिक संस्कार यज्ञोपवीत आदि के समान पति सेवा को गुरुकुल निवास के समान तथा गृहकार्य को अग्निहोत्र के समान माना है और स्त्रियों के लिए यज्ञोपवीत गुरुकुल निवास और अग्निहोत्र का निषेध किया है।[1]

अन्त्येष्टि संस्कार

मृत्यु के पश्चात् अन्त्येष्टि संस्कार किया जाता है। इस अन्त्येष्टि क्रिया करने के लिए अनेक प्रकार के धार्मिक कृत्य किए जाते हैं। मृतक को ले जाने के लिए बांस की अर्थी को प्रयोग में लाया जाता है।[2] श्मशान पर चिता बनाकर शव रखा जाता है फिर कुछ धार्मिक कृत्य करने के बाद चिता में आग लगाई जाती है। शव जलने के बाद जो अवशेष होता है उसकी प्रवाह क्रिया होती है तदनन्तर आए हुये व्यक्ति स्नान करके घर लौटते हैं।[3] कुछ समय तक मृतक के सम्बन्धित अशुद्ध रहते हैं शुद्धि के बाद शांति और श्राद्ध क्रिया का क्रिया की जाती है। सपिण्डीकरण श्राद्ध के बाद मृतक को पितरों से मिला दिया जाता है।

पुराणों में कहा गया है कि मृत शरीर को स्नान कराकर पुष्पमाला से विभूषित कराकर, गांव के बाहर जलाकर, जलाशय में सवस्त्र स्नान कर जलाजलि अर्पित करनी चाहिए। अशौच के अन्त में विषम सख्या में ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए।[4] मत्स्य पुराण ने तीन प्रकार की अन्त्येष्टि क्रिया का वर्णन किया है (१) शव को जलाना, (२) शव को

१— वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया॥ मनु २. ६७,

२— आपस्तम्ब धर्मसूत्र, ४. १

३— पारस्कर गृह सूत्र, ३. १९

४— प्रेतदेहं शुभैः स्नानैरजापितंस्त्रग्विभूषितम्।
दाध्वाग्रामाद्वहिः स्नात्वा सचेलस्सलिलाशये॥ विष्णु पुराण, ३. १३. ७-१८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गाड़ना और (३) शव को प्रवाहित करना।[1] शवदाह के बाद अशौच की अवधि शुरू हो जाती है, जो सभी के लिए साधारणतः तेरह दिन की होती है। ब्राह्मणों को दस दिन, क्षत्रियों को बारह दिन, वैश्यों को पन्द्रह दिन तक और शूद्र तीस दिन तक अशुद्ध रहता है। पिण्डदान, श्राद्ध कार्य और ब्राह्मण भोजन के बाद मृतक का परिवार शुद्ध माना जाता है[2]। शवदाह, अशौच की स्थिति, पिण्डदान, श्राद्ध ब्राह्मण भोजन आदि सभी कार्य आधुनिक युग में भी प्रचलित हैं।

इस संस्कार की सम्पन्नता के मूल में यह बात निहित है कि मृत प्राणी परलोक में शांति लाभ करे। बौधायन का कथन है कि जन्म के बाद के संस्कारों द्वारा मनुष्य इस लोक को विजित करता है, जबकि मृत्यु के पश्चात् के संस्कारों द्वारा परलोक को विजित करता है[3]।

उपर्युक्त सभी संस्कार वर्ण धर्म और आश्रम धर्म के अंग माने गए हैं। वर्ण व्यवस्थ के अन्तर्गत व्यक्ति की सामाजिकता समुदाय के माध्यम से निर्धारित होती है। आश्रम व्यवस्था का भी लक्ष्य मनुष्य को सामाजिक बनाना है इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि संस्कार मनुष्य के क्रमिक विकास के साथ उसके समग्र जीवन में व्यवस्था और अनुशासन की स्थापना के साधन हैं। जिससे मनुष्य अपने जीवन में उन गुणों का संग्रह करता है जो उसे समाज के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने में सहायक होते हैं तथा उन दोषों का निवारण करता है जो सामाजिक सामञ्जस्य में बाधक होते हैं।

पञ्च महायज्ञ

वैदिक काल से ही पञ्चमहायज्ञों के सम्पादन की व्यवस्था पाई जाती है। शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि केवल पाँच ही महायज्ञ हैं और वे है, भूतयज्ञ, मनुष्य यज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ एव ब्रह्मयज्ञ[4]। जब अग्नि में आहुति

१– अष्टकउवाच–यः संस्थितः पुरुषोदह्यते वा
निरवन्यते वा पि निकृण्यते वा ।। मत्स्य पुराण, ३९. १७,

२– विष्णु पुराण ३. १३. १९–२०,
विप्रस्यैत्दद्वादशाहं राजन्यस्याप्यशौचकम् ।
अर्धमास तु वैश्यस्य मां शूद्रस्य शुद्धये ।। मत्स्य पुराण, १८. २,

३– अयुजौ भोजयेत्कामं द्विजानन्ते ततो दिने ।
दद्याद्दर्भेषु पिण्डं च प्रेतायोच्छष्टसन्निधौ ।। बौ० गृ० सू०, १. ४. ३

४– शतपथ ब्राह्मण, ११. ५. ६. १; याज्ञवल्क्य स्मृति, आचाराध्याय, १०१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दी जाती है चाहे वह मात्र समिधा ही क्यों न हो, तो यह 'देवयज्ञ' है; जब पितरों को स्वधा (या श्राद्ध) दी जाती है चाहे वह जल ही क्यों न हो, तो वह 'पितृयज्ञ' है; सब जीवों को बलि (भोजन या पिण्ड) दिया जाता है तब वह 'भूतयज्ञ' कहलाता है; जब ब्राह्मणों (या अतिथियों) को भोजन दिया जाता है तो उसे 'मनुष्य यज्ञ' कहते हैं; और जब स्वाध्याय किया जाता है, चाहे वह एक ही वेद का एक ही सूक्त क्यों न हो, तो वह ब्रह्मयज्ञ कहलाता है।

पञ्चमहायज्ञों की महत्ता

पञ्च महायज्ञों एवं श्रौत यज्ञों में दो प्रकार के अन्तर है। पञ्च महायज्ञों में गृहस्थ को किसी व्यावसायिक पुरोहित की सहायता की अपेक्षा नहीं होती। किन्तु श्रौतयज्ञों में पुरोहित मुख्य हैं और गृहस्थ का स्थान केवल गौण रूप में रहता है।

दूसरा अन्तर यह है कि पञ्च महायज्ञों के मुख्य उद्देश्य हैं विधाता, प्राचीन ऋषियों, पितरों, जीवों एवं सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के प्रति (जिसमें असख्य जीव रहते हैं) अपने कर्तव्यों का पालन। किन्तु श्रौत यज्ञों में क्रिया की प्रमुख प्रेरणा है स्वर्ग, सम्पत्ति, पुत्र आदि की कामना। अतः पञ्च महायज्ञों की व्यवस्था में श्रौत यज्ञों की अपेक्षा अधिक नैतिकता, आध्यात्मिकता, प्रगतिशीलता एव सदाशयता देखने में आती है।

पञ्च महायज्ञों के मूल में क्या है? तथा इनके पीछे कौन से स्थायी भाव हैं?, इन प्रश्नों के सम्बन्ध में मनु का कहना है कि पञ्च महायज्ञों को संस्कारों में परिगत किया गया है जिससे पञ्च महायज्ञ करने वाले स्वार्थों से बहुत ऊपर उठकर अपनी आत्मा को उच्च बनाये और अपने शरीर को पवित्र कर उसे उच्चतर लक्ष्यों के योग्य सिद्ध करे[1]। इस सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि प्रत्येक गृहस्थ चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ओखली-मूसल और जल का घट के स्थान इन पाँच पापों से बँधा रहता है इन्हीं पापों से छुटकारा पाने के लिए ऋषियों ने पञ्च महायज्ञों की व्यवस्था की है[2]। ये पाँच

१— स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥ मनु, २. २८,

२— पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्॥
तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्॥ मनु, ३. ६८-६९,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महाभूत यज्ञ भी कहे जाते हैं। मनु ने पञ्च महायज्ञों के स्वरूप के विषय में कहा है कि वेद का अध्ययन और अध्यापन करना 'ब्रह्मयज्ञ' है; तर्पण करना 'पितृयज्ञ' है; हवन करना देवयज्ञ है; बलि वैश्वदेव करना 'भूतयज्ञ' है; तथा अतिथियों को भोजन आदि से सत्कार करना 'नृयज्ञ' है[1]। मनु ने यह भी स्पष्ट किया है कि प्राचीन ऋषियों ने पञ्च महायज्ञों को अन्य नामों से उल्लेख किया है जैसे–अहुत, हुत, पहुत, बाह्यहुत एवं प्राशित जो क्रम से जप (ब्रह्मयज्ञ), होम (देवयज्ञ), भूतयज्ञ, मनुष्य यज्ञ एवं पितृ तर्पण (पितृयज्ञ) है[2]। धर्मशास्त्रों में इनका विस्तार से वर्णन किया गया है किन्तु यहाँ प्रत्येक महायज्ञ का एक संक्षिप्त विवरण दिया गया है।

ब्रह्मयज्ञ

ब्रह्मयज्ञ प्रतिदिन किये जाने वाले वेदाध्ययन या स्वाध्याय है। शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि जो प्रतिदिन स्वाध्याय करता है उसे उस लोक की प्राप्ति से तिगुना फल होता है जो लोक दान देने या पुरोहित को धन-धान्य से पूर्ण सारा संसार देने से प्राप्त होता है। देवों को जो दूध, घी, सोम आदि दिये जाते हैं उनकी और ऋचाओं, यजुओं, सामों एवं अथर्वांगिरसों की तुल्यता कही गई है। इन यज्ञों से होनेवाले फल का निर्देश करते हुए कहा गया है कि देवता लोग प्रसन्न होकर ब्रह्मयज्ञ करने वाले को सुरक्षा, सम्पत्ति, आयु, बीज, सम्पूर्ण सत्व तथा सभी प्रकार के मंगलमय पदार्थ देते हैं और उसके पितरों को घी एवं मधु की धारा से सन्तुष्ट करते हैं[3]। याज्ञवल्क्य स्मृति में समय एवं योग्यता के अनुसार ब्रह्मयज्ञ में अथर्व वेद सहित वेदों के साथ इतिहास एवं दार्शनिक ग्रन्थों के अध्ययन को भी सम्मिलित कर लिया गया है[4]।

पितृयज्ञ

पितरों की तृप्ति के लिए किया जाने वाला श्राद्धादि पितृयज्ञ है। पितृयज्ञ तीन प्रकार से सम्पादित होता है तर्पण द्वारा[5], बलिहरण द्वारा,

---

१– अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥ मनु, ३. ७०,

२– अहुतं च हुतं चैव तथा पहुतमेव च।
जपोऽहुतो हुतो होमः प्रहुतो भौतिको बलिः। मनु, ३. ७३–७४,

३– पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग–१, पृष्ठ ३८५

४– याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय, १०१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(जिसमें बलि का शेषांश पितरों को दिया जाता है[1]) दैनिक श्राद्ध द्वारा, जिसमें कम से कम एक ब्राह्मण को खिलाया जाता है[2]। प्रतिदिन के श्राद्ध में पिण्डदान नहीं होता है और न पार्वण श्राद्ध की विधि एवं नियमों का पालन ही होता है।

देवयज्ञ

देवयज्ञ का सम्पादन अग्नि में समिधा डालने से होता है[3]। धर्मशास्त्रों के अनुसार देवता का नाम लेकर 'स्वाहा' शब्द के उच्चारण के साथ अग्नि में हवि या कम से कम एक समिधा डालना देवयज्ञ है। मनु ने होम को देवयज्ञ कहा है[4]। धर्मसूत्रों के अनुसार विभिन्न देवताओं के लिए होम या देवयज्ञ किया जाता है। आश्वलायन गृहसूत्र के मत से देवयज्ञ के देवता ये हैं–अग्निहोम के देव (सूर्य या अग्नि एवं प्रजापति), सोम, वनस्पति, अग्नि एवं सोम, इन्द्र एवं अग्नि, द्यौ एवं पृथ्वी, धन्वन्तरि, इन्द्र, विश्वेदेव, ब्रह्मा,[5]। स्मृतियों ने होम (या देवयज्ञ) एवं देवपूजा में अन्तर बताया है। याज्ञवल्क्य तर्पण तथा देवपूजा की चर्चा करने के उपरान्त पञ्चयज्ञों में होम को सम्मिलित करते हैं[6]। मनु ने ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों में नित्य स्नान, देवताओं, ऋषियों तथा पितरों का तर्पण, शिव और विष्णु आदि देव प्रतिमाओं का पूजन तथा प्रातः एवं सायंकाल हवन आदि का विधान किया है[7]।

वैश्वदेव

वैश्वदेव का अर्थ है देवताओं को पक्वान्न देना। मनु ने उल्लेख किया है कि वैश्वदेव बलि यदि सुरक्षित हो तो गृहाग्निमें, नहीं तो लौकिक

१– पृष्ठवास्तुनि कुर्वीत बलिं सर्वात्मभूतये।
पितृभ्यो बलिशेषं तु सर्वं दक्षिणतो हरेत्॥ मनु, ३. ९१,

२– कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा।
पयोमूलफलैर्वाऽपि पितृभ्यः प्रीतिमावहन्॥
एकमप्याशयेद्विप्रं पित्रर्थे पाञ्चयज्ञिके।
न चैवात्राशयेत्कञ्चिद्वैश्वदेवं प्रति द्विजम्॥ मनु, ३. ८२-८३;

३– तैत्तिरीयारण्यक, २. १०

४– मनु, ३. ७०

५– पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ३८८

६– याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय १००,

७– नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताऽभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च॥ मनु, २. १७६,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अग्नि (साधारण अग्नि) में देना चाहिए। यदि अग्नि न हो तो इसे जल में या पृथ्वी पर छोड़ देना चाहिए[1]। वैश्वदेव का तात्पर्य पराशर माधवीय तथा कुछ अन्य ग्रन्थों के अनुसार है प्रतिदिन के तीन यज्ञ, अर्थात् देवयज्ञ, भूतयज्ञ एवं पितृयज्ञ। इसे वैश्वदेव इस लिए कहा गया है कि इस कृत्य में सभी देवताओं को आहुतियां दी जाती हैं या इस कृत्य में सभी देवदाओं के लिए भोजन पकाया जाता है[2]। गौतम के अनुसार वैश्वदेव के देवता हैं अग्नि, धन्वन्तरि, विश्वेदेव, प्रजापति एवं अग्नि[3]। मनु के अनुसार देवता हैं अग्नि, सोम, अग्नीसोम, विश्वेदेव, धन्वन्तरि, कुहू, अनुमति, प्रजापति धावापृथ्वी (अग्नि) स्विष्टकृत्। शांखायन गृह्यसूत्र ने भी दस देवों के नाम दिये हैं परन्तु ये नाम मनु द्वारा दिये गए नामों से भिन्न है[4]।

नृयज्ञ या मनुष्य यज्ञ

नृयज्ञ या मनुष्य यज्ञ से तात्पर्य है अतिथि का सत्कार या सम्मान करना। मनु[5], पराशर[6] एवं मार्कण्डेयपुराण[7] ने अतिथि की अलग-अलग व्युत्पत्ति की है। मनु के मत से अतिथि उसे कहा जाता है जो पूरे दिन (तिथि) नहीं रुकता है, या अतिथि वह ब्राह्मण है जो एक रात्रि के लिए रुकता है मनु तथा याज्ञवल्क्य इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि वही व्यक्ति अतिथि है जो दूसरे ग्राम का है, एक ही रात्रि रहने के लिए सन्ध्याकाल में पहुँचता है। वह जो खाने के लिए पहलेसे ही आमन्त्रित है, अतिथि

१– वृथा कृसरसंयावं पायसापूपमेव च।
अनुपाकृतमांसानि देवान्नानि हवींषि च ।। मनु. ५. ७;

२– पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ४०४

३– गौतम, ५. ९

४– वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम्।
अग्नेः सोमस्य चैवादौ तयोश्चैव समस्तयोः।
कुह्वै चैवानुमत्यै च प्रजापतय एव च। मनु, ३. ८४-८६,
शांखायन गृह्यसूत्र, २. १४. ४

५– एकरात्रं तु निवसन्नतिथि ब्राह्मणः स्मृतः।

६– पराशर, १. ४२

७– मार्कण्डेयपुराण, २९. २–९.

८– मनु, ३. १०२–१०३, नेकग्रामीणमतिथि विप्रं साह० गतिकं तथा।
याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय, १०७, १११

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं कहलाता। वह जो अपने ग्राम का है, मित्र है या सहपाठी है अतिथि नहीं कहलाता। अपने सामर्थ्य के अनुसार अतिथि-सत्कार करना चाहिए, अतिथियों का सत्कार वर्णों के क्रम के अनुसार होना चाहिए। ब्राह्मणों में श्रोतिय को या उसे जिसने कम से कम एक वेद पढ़ लिया है अपेक्षाकृत पहले सम्मान देना चाहिए। वशिष्ठ धर्मसूत्र के अनुसार योग्यता व्यक्ति का सम्मान सर्व प्रथम होना चाहिए[1]। मनु के मत से क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र ब्राह्मणों के अतिथि नहीं हो सकते। यदि कोई क्षत्रिय ब्राह्मण के यहाँ अतिथि रूप में चला आता है (यात्री के रूप में, पास में जब भोजन सामग्री न हो तथा भोजन के समय आ गया हो) तो उसका सम्मान ब्राह्मण अतिथि के उपरान्त होता है तथा वैश्यों एवं शूद्रों को भोजन घर के नौकरों के साथ दिया जाना चाहिए[2]। मनु और याज्ञवल्क्य ने ऐसे अतिथियों को भोजन कराने का विरोध किया है जो आतिथ्यकर्ता का विद्वेषी है। दूसरी ओर ऐसे आतिथ्यकर्ता के भोजन करने का भी निषेध किया है, जो दोष मढ़ता है या उसपर किसी अपराध की शंका करता है[3]।

धर्मशास्त्रों में अतिथि सत्कार के कुछ नियम भी बताये गये है आगे बढ़कर स्वागत करना, पैर धोने के लिए जल देना, आसन देना, दीपक जलाकर रख देना, भोजन एवं ठहरने का स्थान देना, व्यक्तिगत ध्यान देना, सोने के लिए खटिया-बिछावन आदि देना और जाते समय कुछ दूर तक पहुँचा देना[4]। मनु और याज्ञवल्क्य का कहना है कि यदि ग्रहस्थ के पास और कुछ न हो तो उसे जल, निवास घास एवं मीठी बोली से ही सम्मान करना चाहिए[5]।

उक्त निरूपण से यह स्पष्ट होता है कि अतिथि सत्कार के पीछे एक

१– व० ध० सू०, १. ६

२– न ब्राह्मणस्य त्वतिथिर्गृहे राजन्य उच्यते।
वैश्यशूद्रावपि प्राप्तौ कुटुम्बेऽतिथिधर्मिणौ॥ मनु, ३. ११०-११२

३– वी० पी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग प्रथम, पृष्ठ ४०९

४– सम्प्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके।
अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम्॥ मनु, ३. ९९,
आ० ध० सू०, २. ३. ६. ७-१५

५– तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥ मनु, ३. १०१,
याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय, १०७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मात्र प्रेरक शक्ति सार्वभौम दया-भावना है। पुराणों से ऐसा स्पष्ट होता है कि यदि अतिथि निराश होकर लौट जाता है तो वह अपने पाप गृहस्थ को देकर उसके पुण्यों को लेकर चला जाता है[१]। मनु ने तो यहाँ तक कहा है कि अतिथि सत्कार द्वारा विपत्ति से मुक्ति तथा स्वर्ग की प्राप्ति होती है[२]। स्मृतियों में कहा गया है कि अतिथि को भोजन कराने से पूर्व खा लेने पर घर की सम्पत्ति, सन्तान, पशु एवं पुण्य नष्ट हो जाते हैं। अतिथियों को भोजन कराने से पूर्व नव-विवाहित पुत्रियों एवं बहिनों, अविवाहित कन्याओं, रोगियों एवं गर्भवती नारियों को भोजन दिया जा सकता है[३]। अतिथियों के भोजन में कटौती नहीं करना चाहिए, जो अन्य लोगों की परवाह न करके स्वयं खाता है, वह केवल अपने पापों को निगलता है। किन्तु जो देवताओं, प्राणियों, पितरों एवं अतिथियों को खिला कर खाता है वही वास्तविक रूप से खाता है। मनु ने कहा है कि ब्राह्मणों एवं अतिथियों के खा लेने के उपरान्त जो शेष बचता है, उसे विघस तथा यज्ञ करने के उपरान्त जो शेष रहता है, उसे अमृत कहते हैं, इसलिए विघस तथा अमृत का ही भोजन श्रेष्ठ माना जाता है[४]।

यज्ञ

वैदिक संस्कृति यज्ञ प्रधान संस्कृति है वैदिक वाङ्मय में अधिकांश संहिताएँ यज्ञों के सम्प्रदाय सम्बन्धी स्वरूपों के आधार पर गठित हैं। विभिन्न यज्ञों के लिए विभिन्न पुरोहितों की आवश्यकता पड़ती हैं और ये पुरोहित विभिन्न मन्त्रों के संग्रह रखते हैं। डा० काणे का कहना है कि वैदिक अग्निष्टोम पारसियों के होम में बहुत कुछ समता है। पारसियों की प्राचीन धार्मिक पुस्तक एवं वैदिक साहित्य में प्रमुख यज्ञ सम्बन्धी शब्दों में जो सादृश्य दिखायी पड़ता है उससे प्रकट होता है कि यज्ञ सम्बन्धी परम्पराएँ बहुत प्राचीन हैं जैसे अथर्वन् आहुति, उक्थ, बर्हिस, मंत्र, यज्ञ, सोम,

---

१– विष्णुपुराण, ३,९,१५; मार्कण्डेयपुराण, २९,३१; ब्रह्मपुराण, ११४,३६

२– शिलानप्युञ्छतो नित्यं पञ्चाग्नीनपि जुह्वतः।
सर्वं सुकृतमादत्ते ब्राह्मणोऽनर्चितो वसन्।। मनु, ३. १००,

३– अप्रणोद्योऽतिथिः सायं सूर्योढो गृहमेधिना
वैश्वदेवे तु निर्वृत्ते यद्यन्योऽतिथिराव्रजेत्
सुवासिनीः कुमारीश्च रोगिणो गर्भिणीः स्त्रियः मनु, ३. १०५, १०८, ११४,

४– विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं वाऽमृतभोजनः।
विघसो भुक्तशेषं तु यज्ञशेषं तथाऽमृतम् ।। मनु, ३.२८५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सवन, स्टोम, होतृ आदि शब्द प्राचीन पारसी साहित्य में भी पाए जाते हैं। यद्यपि वैदिक यज्ञ आजकल बहुत कम किए जाते हैं किन्तु ईशा के कई शताब्दियों पूर्व बहुत प्रचलित थे बौद्ध धर्म की स्थापना एवं प्रसार के कई शताब्दियों के उपरान्त भी ये यज्ञ यथावत् चलते रहे[1]।

ऋग्वेद में यज्ञों को प्रथम धर्मों (कर्त्तव्यों) में गिना गया है[2]। प्राचीन काल में किए जानेवाले यज्ञों का विशद वर्णन जिन श्रौतसूत्रों में पाया जाता है, उनमें आश्वलायन, कात्यायन, बौधायन, आपस्तम्ब, सत्यासाढ़ के श्रौत-सूत्र अधिक प्रसिद्ध हैं। प्रस्तुत प्रसंग में वैदिक यज्ञों का विवरण विस्तार पूर्वक देना न तो सम्भव है और न आवश्यक। यहाँ इन यज्ञों के बारे में कुछ सामान्य बातें इसलिए दी जा रही हैं कि वैदिक यज्ञों से स्मार्त यज्ञों की एक तुलना उपस्थित की जा सके।

वैदिक यज्ञों के सम्बन्ध में सामान्य जानकारी के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि यज्ञ में द्रव्य, देवता एवं त्याग तीन वस्तुएँ मुख्य मानी जाती हैं। अतः यज्ञ का अर्थ है देवता के लिए द्रव्य का त्याग, होम का अर्थ है किसी देवता के लिए अग्नि में द्रव्य की आहुति। यजतियाँ याग के प्रमुख अंग हैं। मंत्रों की चार श्रेणियाँ हैं, ऋक्, यजु, साम एवं निगद। इनमें ऋक् तो मान्त्रिक है, यजु के लिए मात्राबद्ध या छन्दबद्ध होना आवश्यक नहीं है, साम का गायन होता है, निगद को प्रेष कहते हैं। यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले विविध उपकारणों जैसे–जुहू (दर्वी), स्पय (तलवार) का निर्माण एवं प्रयोग विधि का विस्तार पूर्वक वर्णन मिलता है। उसी प्रकार यज्ञ में उपयुक्त होने वाली वस्तुओं के विविध संस्कार भी किए जाते हैं जैसे–प्रोक्षण, आभ्युक्षण, अवद्यातन आदि। इसके अतिरिक्त कृत्य के प्रारम्भ में पाँच प्रकार के भू संस्कार भी किए जाते हैं जिन्हें परिसमूहन, गौमय, उपलेपन, स्फ्य, अगूठे अनामिका अंगुली से मिट्टी हटाना तथा तीन बार अभ्युक्षण करना आदि[3]। वैदिक यज्ञों में कुछ प्रधान यज्ञ निम्नलिखित हैं :—

अग्न्याधान

अग्न्याधेय (अग्न्याधान) सात हविर्यज्ञों में प्रथम हविर्यज्ञ है यह एक इष्टि है। 'इष्टि' शब्द का अर्थ है ऐसा यज्ञ जो यजमान एवं उसकी पत्नी

१– पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ५०८-५०९

२– ऋग्वेद, १०. ९०. १६

३– पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग प्रथम, पृष्ठ ५१२-५१३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वारा चार पुरोहितों की सहायता से सम्पादित होता है। यह दो दिनों तक चलने वाला यज्ञ होता है। अग्न्याधेय का तात्पर्य है गार्हपत्य एवं अन्य अग्नियों को स्थापित करने के लिए प्रज्जवलित अँगारों को विशिष्ट मन्त्रों के साथ किसी विशिष्ट व्यक्ति के द्वारा किसी विशिष्ट समय में किसी स्थल पर रखना। यज्ञ में प्रयुक्त होने वाली अग्नियों के तीन नाम हैं–दक्षिणाग्नि, गार्हपत्याग्नि और आह्वनीय अग्नि। बड़े बड़े यज्ञों में आह्वनीय एवं गार्हपत्य अग्नियों के लिए पृथक-पृथक मण्डप बनते हैं किन्तु दर्शपूर्ण मास जैसे साधारण यज्ञों में तीनों प्रकार की अग्नियाँ एक ही मण्डप में प्रतिष्ठित की जाती हैं। इन तीनों अग्नियों तथा इनकी प्रतिष्ठा का विस्तार से वर्णन धर्मशास्त्रों में किया गया है[1]।

अग्निहोम

गौतम द्वारा निर्दिष्ट सात हविर्यज्ञों में अग्निहोम का स्थान दूसरा है। अग्न्याधेय के सायंकाल से ही गृहस्थ को अग्निहोम करना पड़ता है। अग्निहोम प्रातः एवं सायं जीवन पर्यन्त या सन्यासी होने तक चलता रहनेवाला यज्ञ है[2]।

दर्श-पूर्णमास

सभी इष्टियों [ऐसे यज्ञ जिनमें पशुबलि दी जाती है) की प्रकृति पर दर्श पूर्णमास नामक यज्ञ के वर्णन से कुछ प्रकाश पड़ जाता है इसी से सभी श्रौतसूत्र सर्व प्रथम दर्श पूणमास का वणन विस्तार से करते हैं। यों तो क्रम के अनुसार अग्न्याधान का स्थान सर्व प्रथम है। आपस्तम्ब का कहना है कि तीनों अग्नियों (गार्हपत्य, आह्वनीय एव दक्षिण अग्नि) की प्रतिष्ठापना के उपरान्त प्रतिष्ठापक को दर्शपूर्णमास का सम्पादन जीवन भर या जबतक सन्यासी न हो जांय या तीस वर्षों तक या जब तक बहुत जीर्ण (कृत्य करने में पूर्णरूपेण अयोग्य) न हो जाय, करते रहना चाहिए[3]।

चातुर्मास्य

यह यज्ञ ऋतु सम्बन्धी यज्ञ है। आश्वलायन के अनुसार इष्टयुयन के अन्तर्गत चातुर्मास्य, तुरायग, दाक्षायण तथा अन्य इष्टियाँ आ जाती हैं। चातुर्मास्य तीन हैं–वैश्वदेव, वरुणप्रधास एव साकमेघ। किन्तु कुछ लेखकों

१– पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग प्रथम, पृष्ठ ५१३-५१७

२– वही पृष्ठ ५१७-५२३

३– वही, पृष्ठ ५२४-५३४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने शुनाशीरीय नामक एक चौथा चातुर्मास्य भी माना है। इनमें से प्रत्येक चातुर्मास्य को पर्व कहा जाता है प्रत्येक का सम्पादन चौथे मास के अन्त में किया जाता है अतः इन्हें चातुर्मास्य संज्ञा मिली है। ये क्रम से फाल्गुन या चैत्र, आसाढ़ या कार्तिक की पूर्णमासी को या पूर्णमासी के पाँचवें दिन या साकमेध के दो या तीन दिन पूर्व किए जाते हैं। इनसे तीन ऋतुओं जैसे-वसन्त, वर्षा एवं हेमन्त के आगमन का निर्देश मिलता है। शुनाशीरीय के लिए कोई निश्चित तिथि नहीं है यह साकमेध के उपरान्त या इसके दो, तीन या चार दिनों या एक या चार मासों के उपरान्त सम्पादित किया जा सकता है। यदि वश्वदेव पर्व चैत्र की पूर्णमासी को सम्पादित हो तो वरुणप्रधास एवं साकमेध क्रम से श्रावण एवं मार्गशीर्ष की पूर्णिमाओंके अवसर पर होते हैं।

चातुर्मास्य के चारों अंगों का वर्णन विभिन्न धर्मसूत्रों में विस्तार से किया गया है इन इष्टियों के अतिरिक्त अन्य बहुत सी इष्टियाँ हैं जिनका सम्पादन किसी अवसर विशेष पर किसी वाँछित वस्तु की प्राप्ति के लिए किया जाता है जैसे–आयुष्कामेष्टि (लम्बी आयु की आकांक्षा रखने वालों के लिए), स्वस्त्ययनी (सुरक्षापूर्ण यात्रा के लिए), पुत्रकामेष्टि (पुत्र या दत्तकपुत्र की अभिलाषा करने वालों के लिए) लोकेष्टि, महावेराजी या मित्र-विन्दा आदि इष्टियों का विधान उनके लिए है जो सम्पत्ति, राज्य या मित्रों तथा लम्बी आयु की कामना करते हैं। इसी प्रकार संज्ञानी समझौते के लिए और कारीरीष्टि वर्षा की कामना करने वाले के लिए विहित है[1]।

पशुबन्ध या निरूढ़ पशुबन्ध

पशुबन्ध एक स्वतंत्र यज्ञ है और सोमयज्ञों में इसका सम्पादन उनके एक अभिन्न अंग के रूप में किया जाता है। स्वतंत्र पशु यज्ञों को निरूढ़ पशु-बन्ध कहा जाता है तथा अन्य गौड़ पशु यज्ञों की सौमिक सज्ञा है। निरूढ़ पशु सोमयाग में प्रयुक्त पशुबलि का परिमार्जन मात्र है किन्तु कतिपय सूत्रों के निरूढ़ पशुबन्ध नामक परिच्छेद में दोनों की विधि का पूर्ण विवेचन हुआ है। सवनोय पशु एवं अनुबन्ध्य पशु के अतिरिक्त सभी पशुओं का आदर्श रूप वास्तव में निरूढ़ पशुबन्ध यज्ञ ही है।

जिस प्रकार बहुत सी कामेष्टियाँ होती हैं उसी प्रकार सम्पत्ति ग्राम, यश आदि की प्राप्ति के लिए विभिन्न पशु दिए जाते हैं। जैसे समृद्धि को

१– पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग-पृष्ठ ५३५-५४०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्ति के लिए श्वेत पशु, वायु को दिया जाता है। ग्राम की प्राप्ति के लिए कोई भी पशु वायु नियुत्वान् को दिया जाता है। वाक् पटुता के लिए भेड़ सरस्वती को दिया जाता है। इन काम्य पशुओं का विशेष विवरण तैत्तिरीय ब्राह्मण, आपस्तम्ब एवं आश्वलायन सूत्र में प्राप्त होता है[१]।

अग्निष्टोम

विचार की सुविधा के लिए यज्ञों को तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है जैसे इष्टि, पशु एवं सोम। गौतम और लाट्यायन के अनुसार सोम यज्ञ के सात प्रकार हैं, अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडसी, वाजपेय, अतिरात्र एवं अप्तोर्याम[२]। अग्निष्टोम एक दिन वाला यज्ञ है। और यह ज्योतिष्टोम का एक ऐसा भाग है कि दोनों को कभी-कभी एक ही मान लिया जाता है। यज्ञ की अवधि की दृष्टि से सोम यज्ञ कई प्रकार के हैं जैसे एक दिन में होने वाला एकाह, एक दिन से बारह दिन होने वाला अहीन और बारह दिन से अधिक चलने वाला सत्र। ज्योतिष्टोम में बहुधा पाँच दिन लग जाते हैं।

जैमिनी के मतानुसार तीनों वर्णों के लिए ज्योतिष्टोम करना अनिवार्य है। इसका अग्निष्टोम नाम इसलिए पड़ा है कि इसमें अग्नि की स्तुति की जाती है और अंतिम स्त्रोत अग्नि को ही सम्बोधित करता है। यह प्रतिवर्ष वसन्त में या पूर्णिमा के दिन किया जाता है[३]।

अन्यसोम यज्ञ

उक्थ या उक्थ्य इस सोम यज्ञ में अग्निष्टोम के स्तोत्रों या शस्त्रों के अतिरिक्त अन्य तीन स्तोत्र एवं शस्त्र पाए जाते हैं। इस प्रकार सायंकालीन सोमरस निकालते समय गाये जाने वाले स्तोत्र एवं कहे जाने वाले शस्त्र छन्द कुल मिलाकर पन्द्रह होते हैं। आपस्तम्ब का कहना है कि उक्थ्य षोड़शी, अतिरात्र एवं अप्तोर्याम क्रम से उन्हीं लोगों द्वारा सम्पादित होते हैं जो पशु, शक्ति, सन्तति- एवं अन्य वस्तुओं की आकांक्षा रखने वाले होते हैं। उक्थ्य में अग्निष्टोम के समान बलि दिए जाने वाले पशुओं के अतिरिक्त बकरी की भी बलि दी जाती है।

१– पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ ५४१-५४४

२– वही, पृष्ठ ५४५

३– पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ ५४५-५५५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी प्रकार षोडशी, अत्यग्निष्टोम, अतिरात्र, अप्तोर्याम, वाजपेय, द्वादशाह एवं सत्र का वर्णन भी धर्मसूत्रों में विस्तार से किया गया है[1]।

राजसूय यज्ञ

यह यज्ञ पूर्णतया सोम यज्ञ नहीं है। यह एक ऐसा जटिल यज्ञ है जिसमें बहुत सी पृथक्-पृथक् इष्टियाँ सम्पादित होती हैं। यह लम्बी अवधि तक चलता रहता है।

यह यज्ञ केवल क्षत्रिय द्वारा ही सम्पादित होता है। ऐसी मान्यता है कि राजसूय करने से व्यक्ति राजा होता है तथा वाजपेय करने से सम्राट। राजसूय यज्ञ के कई भागों में विभिन्न कृत्यों के सन्दर्भ में दान दक्षिणा देने का भी विधान किया गया है[2]।

सौत्रामणी

यह यज्ञ हविर्यज्ञों के सात प्रकारों में एक है, यह सोमयज्ञ नहीं है। यह इष्टि एवं पशुयज्ञ का मिश्रण है[3]।

अश्वमेध यज्ञ

अश्वमेध यज्ञ की गणना प्राचीन यज्ञों में होती है। यह विश्वास किया जाता है कि अश्वमेध का अश्व स्वर्ग चला जाता है। शतपथ ब्राह्मण आदि में ऐसा उल्लेख मिलता है कि अनेक राजाओं ने अश्वमेध यज्ञ का सम्पादन किया था। अश्व को अभिशिक्त करके स्वतंत्र रूप से देश-विदेश में घूमने के लिए छोड़ दिया जाता है उसके साथ चार सौ रक्षक होते हैं। रक्षकों में एक सौ ऐसे राजकुमार रहते हैं जो राजा के साथ सम्मान पूर्वक बैठ सकते हैं। इन राजकुमारों के पास अस्त्र-शस्त्र होते हैं अन्य रक्षकों के पास उनकी योग्यता के अनुसार अस्त्र-शस्त्र होते हैं। अश्व साल भर तक इस प्रकार अपने आप चलता रहता है किन्तु पीछे लौटकर नहीं आता। अश्व के रक्षक ब्राह्मणों से भोजन माँगकर खाते हैं और रात्रि में रथकारों के घरों में सोते हैं। जबतक अश्व बाहर रहता है तब तक यजमान प्रतिदिन प्रातः, मध्याह्न और सायं सविता के लिए तीन इष्टियाँ करता रहता है।

इस यज्ञ में अनेक प्रकार के दान दिए जाते हैं। सोमरस निकालने के प्रथम एवं अन्तिम दिन में एक सहस्त्र गौवें तथा दूसरे दिन राज्य के किसी

१– पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ ५५६-५५७

२– वही, पृष्ठ ५६१-५६३

३– वही, पृष्ठ ५६४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक जनपद में रहने वाले सभी अब्राह्मणवासियों की सम्पत्ति दान में दे दी जाती है। विजित देश की सम्पत्ति यज्ञ के पुरोहितों को दे दी जाती है अथवा उन्हें पर्याप्त गायें दान के रूप में दे दी जाती हैं। धर्मशास्त्रों, श्रौतसूत्रों एवं विभिन्न प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थों में अश्वमेध यज्ञ करने वाले अनेक राजाओं का उल्लेख मिलता है[१]।

सत्र

यज्ञ सम्बन्धी दीर्घ कालों की अवधि वाले कृत्य को सत्र कहा जाता है। जिसकी सीमा बारह दिनों से लेकर एक वर्ष या इससे अधिक होती है। सत्रों को सुविधानुसार रात्रिसत्र और सांवत्सरिक सत्रों में विभाजित किया जाता है। सत्रग्रन्थों में एक वर्ष या इससे अधिक अवधि वाले सत्रों का उल्लेख हुआ है। त्रैवार्षिक, द्वादश वार्षिक, षट्त्रिशंद्वार्षिक, शतसवत्सर, एवं सहस्त्रसंवत्सर इत्यादि[२]।

प्रायश्चित्त

धार्मिक कृत्यों में प्रायश्चित की भी गणना की जाती है। प्रायश्चित, दोष, पाप या कुकृत्य के संस्कार को विनष्ट करने के लिए किया जाता है। प्रायश्चित की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि 'प्रायः' का तात्पय है 'तप' और 'चित' का तात्पर्य है 'निश्चय'। अतः जहाँ निश्चय से युक्त तप हो, उसे प्रायश्चित कहा जाता है[३]। मनु का कहना है कि यदि कोई व्यक्ति शास्त्र द्वारा विहित अपने नित्य-नैमित्तिक कर्मों का विधिवत् सम्पादन नहीं कर पाता है अथवा शास्त्र द्वारा निषिद्ध (हिंसा, चोरी, मद्यपान, द्यूत, पर स्त्रीगमन) आदि कर्म करता है तथा विषयों में आवश्यकता से अधिक आसक्त होता है तो इन स्थितियों में वह पाप का भागी बनता है। अतः उसे ऐसे पापों से छुटकारा प्राप्त करने के लिए प्रायश्चित करना आवश्यक हो जाता है[४]। इस सम्बन्ध में शास्त्रकारों में मतभेद है कि प्रायश्चित केवल उन्हीं दुष्कर्मों का हो सकता है जो अज्ञानतावश या अनिच्छा से किए

१– पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ ५६५-५७०

२– वही, पृष्ठ ५७०-५७३

३– प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते।
तपोनिश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्॥ मनु, ११.४७ (क्षेपक-५),

४– अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन्।
प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः॥ मनु, ११.४४,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाते हैं और जान-बूझकर या इच्छा से किए जाने वाले कर्मों का प्रायश्चित सम्भव नहीं है। किन्तु अधिक उदारवादी शास्त्रकारों का दृष्टिकोंण यह है कि प्रायश्चित सभी दुष्कर्मों का हो सकता है चाहे वह अनिच्छा पूर्वक, अज्ञान पूर्वक हुआ हो या ज्ञान पूर्वक या इच्छा पूर्वक किया गया हो[1]। अन्य शास्त्रकारों का मत है कि अनिच्छा पूर्वक तथा अज्ञानपूर्वक किए गए दुष्कर्म से अधिक पाप नहीं लगता। इसलिए उसके निवारण हेतु प्रायश्चित की आवश्यकता नहीं है। उसका निवारण तो वेदाभ्यास से ही हो जाता है किन्तु जो दुष्कर्म इच्छा से अथवा मोह से किए जाते हैं, उनके लिए प्रायश्चित करना अत्यन्त आवश्यक है। मनु ने पूर्व जन्म में किए गए ऐसे दुष्कर्मों के, जिनका प्रायश्चित नहीं किया गया है, फल का वर्णन विस्तार से किया है[2]। और यह निर्देश किया है कि पाप कर्मों के लिए उनके दुष्परिणाम से बचने के लिए प्रायश्चित आवश्यक है[3]।

प्रायश्चित के प्रसंग में मनु ने अनेक दुष्कर्मो की गणना की है जिन्हें 'पातक' 'महापातक' आदि संज्ञाओं से सम्बोधित किया जाता है। महापातकों में मनु ने ब्रह्महत्या, सुरापान, गुरुस्त्री गमन और सुवर्ण की चोरी इन चारों के साथ संसर्ग स्थापित करना इन पाँच की गणना की गई है[4]। ब्रह्महत्या के समान पापों में असत्य भाषण, राजा के यहाँ चुगल खोरी गुरु से असत्य भाषण, आदि की गणना की गई है। सुरापान के समकक्ष पापों में वेद के अभ्यास का विस्मरण, वेद की निन्दा गवाही में असत्य भाषण, मित्र की हत्या, निन्दित तथा अभक्ष्य पदार्थों का भोजन इन छः की गणना की गई है। धरोहर का हड़पना, मनुष्य, घोड़ा, चाँदी, भूमि, हीरा, मणि आदि की चोरी सुवर्ण की चोरी के समान पातक है। अपनी सहोदर बहन, कुमारी, चण्डाली मित्र तथा पुत्र की स्त्री के साथ सम्भोग करना, गुरुपत्नी

१– अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्बुधाः।
कामकारकृतेऽप्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनात्।। मनु ११. ४५

२– इह दुश्चरितै केचित्केचित्पूर्वकृतैस्तथा।
सुवर्णचौरः कौनख्यं सुरापः श्यावदन्तताम्।
पिशुनः पौतिनासिक्यं सूचकः पूतिवक्त्रताम्।
अन्नहर्ताऽऽमयावित्वं मौक्य वागपहारकः।
एवं कर्मविशेषेण जायन्ते सद्विगर्हिताः। मनु, ११. ४८-५२

३– चरितव्यमतो नित्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये। मनु, ११. ५३,

४– ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः। मनु, ११. ५४,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के साथ सम्भोग करने के समान पातक है। इसी प्रकार गौवध, अयाज्य-यायन, पर स्त्री गमन, आत्म विक्रय, गुरु, माता-पिता का त्याग, ब्रह्मयज्ञ, स्मार्त, अग्नि, और पुत्र का त्याग कन्या दूषण, व्रात्यभाव आदि अनेक प्रकार के दुष्कर्मों की गणना की गई है[१]। जिनके करने से पाप लगता है तथा जिनके पापों से बचने के लिए विविध प्रकार के प्रायश्चित कर्मों का विधान किया गया है। जैसे–ब्रह्महत्या करने वाले मनुष्य को अपने पाप की शुद्धि के लिए वन में कुटी बनाकर शव के सिर को चिन्ह के रूप में रखकर तथा भिक्षान्न का भोजन कर सिर मुड़ा कर बारह वर्षों तक जंगल में रहने का निर्देश दिया गया है[२]। अथवा अश्वमेध स्वर्जित गोमेध, अभिजीत, विश्व-जीत, आदि यज्ञों में से किसी एक यज्ञ के अनुष्ठान से व्यक्ति ब्रह्महत्या के पाप से छुटकारा पा सकता है[३]। अथवा ब्राह्मण या गाय की रक्षा के लिए अपना प्राण तत्काल समर्पण करने वाला भी ब्रह्महत्या के पाप से छुटकारा पा जाता है[४]।

'सुरापान' करने वाले को प्रायश्चित के रूप में अग्नि के समान जलते हुए पेय पदार्थ का पान कर शरीर जला लेने से सुरापान के पाप से छुटकारा मिल जाता है[५]। सुवर्ण की चोरी करने वाला राजा के यहां जाकर अपनी चोरी स्वीकार करं उसके बदले अपना वधदण्ड स्वीकार कर ले तो उस पाप से छुटकारा पा जाता है[६]। गुरुपत्नी के साथ सम्भोग करने वाला मनुष्य

१– मनु, ११. ५५-६२

२– ब्रह्महा द्वादश समाः कुटीं कृत्वा वने वसेत्।
भैक्षाश्यात्मविशुद्ध्यर्थं कृत्वां शवशिरोध्वजम्॥ मनु, ११. ७२,

३– यजेत वाऽश्वमेधेन स्वर्जिता गोसवेन वा।
अभिजिद्विश्वजिद्भ्यां वा त्रिवृताग्निष्टुतापि वा॥ मनु, ११. ७४,

४– ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा सद्यः प्राणान्परित्यजेत्।
मुच्यते ब्रह्महत्याया गोप्ता गोर्ब्राह्मणस्य च॥ मनु, ११. ७९

५– सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णां सुरां पिबेत्।
तया स काये निर्दग्धे मुच्यते किल्बिषात्ततः॥
गोमूत्रमग्निवर्णं वा पिबेदुदकमेव वा।
पयो घृतं वाऽऽमरणाद् गोशकृद्रसमेव वा॥ मनु, ११. ९०-९१

६– सुवर्णस्तेयकृद्विप्रो राजानमभिगम्य तु।
स्वकर्म ख्यापयन्ब्रूयान्मां भवाननुशास्त्विति॥
गृहीत्वा मुसलं राजा सकृद्धन्यात्तु तं स्वयम्।
वधेन शुध्यति स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव तु॥ मनु, ११. ९९-१००,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपना पाप कहकर तपाए गए लोहे की शय्या पर जलती हुई लौहमयी स्त्री प्रतिमा का आलिंगन कर मृत्यु प्राप्त करने से अपने पाप से छुटकारा पा जाता है। इसी प्रकार अनेक दुःसाध्य कर्मों का विधान इन महापातकों के प्रायश्चित के लिए किया गया है अन्य पातक और उप पातकों के लिए यज्ञ, तप, व्रत, दान आदि का विधान है[1]।

प्रायश्चित एवं दण्ड

धर्मशास्त्रों ने दण्ड और प्रायश्चित दोनों का विधान किया है। दण्ड अपराध के बदले में राजा के द्वारा दिया जाता है जबकि प्रायश्चित पाप करने वाला अपने पाप की स्वीकृति के साथ उस पाप की निवृत्ति के लिए अपनी स्वेच्छा से करता है। बहुत से ऐसे दुष्कर्म होते हैं जिनका पता राज्य नहीं लगा पाता अतः उन अपराधों के करने वाले अपराधी दण्ड से बच जाते हैं। दुष्कर्मों से उत्पन्न पाप की अवधारणा मनुष्य के मन में भविष्य के प्रति अशंका पैदा कर देती है अतः वह मानसिक तनाव, सामाजिक अपमान आदि द्वन्द्वों में व्यग्र रहता है इसलिए प्रायश्चित का विधान एक प्रकार का शुद्धिकरण है जिससे मनुष्य अपने मानसिक तनाव को पाप की स्वीकृति और पाप के निवारण के लिए प्रायश्चित कर्म के द्वारा सम्पादित करता है। इससे समाज को यह लाभ होता है कि कानून की सीमा से बचा हुआ दुष्कर्म करने वाला व्यक्ति भी अपने आपको दण्डित कर लेता है और समाज में दुष्कर्मों की वृद्धि रुक जाती है। कुछ ऐसे भी दुष्कर्म करने वाले होते हैं जो नियम या कानून की सीमा में नहीं आ पाते। वे भी प्रायश्चित करने के लिए बाध्य हो जाते हैं। प्रायश्चित की अवधारणा दुष्कर्मों में प्रवृत्ति पर अंकुश लगाती है।

धार्मिक संस्था के विविध अंगों को देखने से यह स्पष्ट होता है कि धर्मशास्त्रों में धार्मिक कृत्यों के द्वारा मानव जीवन के भावात्मक, कलात्मक, सौन्दर्यात्मक तथा श्रद्धात्मक पक्षों को सन्तुष्ट करने का प्रयास किया गया है साथ ही साथ इनके द्वारा समाज के विविध अंगों में मेल-मिलाप और मनोरंजन के अवसर की भी व्यवस्था की गयी है।

१– उपपातकसंयुक्तो गोघ्नो मासं यवान्पिबेत्।
अनेन विधिना यस्तु गोघ्नो गामनुगच्छति।
विशेष रूप से प्रायश्चित्त के लिए मनुस्मृति का ग्यारहवां अध्याय।
मनुस्मृति, ११.१०८, ११५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अष्टम–अध्याय

आर्थिक–संस्था

श्रम, सम्पत्ति एवं उत्तराधिकार

श्रम और सम्पत्ति

धर्मशास्त्रों के समाज दर्शन की दृष्टि में कर्त्तव्य या श्रम अत्यन्त प्रमुख है क्योंकि इसके आधार पर ही समाज की सम्यक् व्यवस्था हो सकती है। धर्म-शास्त्रों में श्रम के विभाजन का विवेचन बड़ा ही स्पष्ट आधार पर किया गया है। इनके अनुस र प्रत्येक व्यक्ति को अपने गुण और कर्म के अनुसार कर्म करना होता है। जिसका निर्धारण उसके वर्ण में जन्म के आधार पर किया जा सकता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि यह वर्ण विभाजन एक प्रकार का श्रम विभाजन है अर्थात् विभिन्न योग्यता एवं क्षमता वाले व्यक्तियों को उनके कार्य में दक्षता प्राप्ति के लिए उन्हें जन्म से उसमें लगाना अत्यन्त प्रभावकारी हो सकता है। इसलिए धर्मशास्त्रों ने कर्त्तव्यों का विभाजन जन्म से करने पर अधिक बल दिया है। प्रत्येक वर्ण के व्यक्ति को अपने-अपने कर्त्तव्य का समुचित पालन व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक जीवन दोनों के लिए आवश्यक है। कोई भी व्यक्ति यदि अपने कर्म से च्युत होता है तो वह अपने समाज को अपने कर्त्तव्यों से होनेवाले लाभ से वंचित करता है। धर्मशास्त्रों ने कर्त्तव्य करने या न करने की स्वतंत्रता नहीं दी है, अपितु इसे अनिवार्य और अपरिहार्य माना है। किसी व्यक्ति को कर्म का सम्पादन करना केवल अपने लाभ के लिए नहीं है बल्कि सामाजिक दायित्व का निर्वाह भी है इसलिए उसे यह कहने का अधिकार नहीं है कि हम लाभ नहीं चाहते इसलिए हम अपना कार्य नहीं करेगें। व्यक्ति को उसके कर्त्तव्य के प्रति, निष्ठावान रखने के लिए जबकि ऐहिक दृष्टि से उसका कार्य बहुत लाभप्रद नहीं लगता है, धर्मशास्त्रों में उस कर्त्तव्य को परलोक के साथ भी जोड़ने का प्रयत्न किया गया है। अर्थात् कोई व्यक्ति जब अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करता है और उसका समुचित और पर्याप्त फल उसे नहीं मिलता है, अपितु फल केवल समाज को मिलता है। ऐसी स्थिति में वह केवल सामाजिक दायित्व का निर्वाह मात्र करता है। फिर भी यह उसका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शोषण या उससे दबाव पूर्वक कार्य करना नहीं है, क्योंकि कर्त्तव्य का एक और भी फल होता है जो उसे दूसरे जीवन में अच्छा जन्म सुख सुविधा के रूप में प्राप्त होता है।

धर्मशास्त्रों के वर्ण विभाजन का मूल उद्देश्य यही लगता है कि व्यक्तियों को कई वर्गों में बाँटकर उनका श्रम और उनकी जीवन वृत्ति का निर्धारण कर दिया जाय जिससे वे अपने वर्ण के कार्यों में दक्ष होकर अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह समुचित रूप से करें और समाज को सुखमय और व्यवस्थित बनाने में पूर्ण सहयोग दे, तथा समाज के अविभाज्य अंग के रूप में स्वयं भी सुख पूर्वक अपने जीवन का निर्वाह कर सकें।

दूसरी ओर धर्मशास्त्रों में आश्रम व्यवस्था के द्वारा व्यक्ति के अर्जन शक्ति और व्यय शक्ति पर अंकुश लगाया है। ब्रह्मचारी न कोई सम्पत्ति रख सकता है और न विद्या के अतिरिक्त कोई अर्जन ही कर सकता है। अपने जीविका निर्वाह के लिए उसे भिक्षा या गुरु की सेवा से प्राप्त धन पर निर्भर रहना है। उधर वानप्रस्थ जीवन में भी व्यक्ति को अर्जन का अधिकार नहीं रह जाता और व्यय के लिए भी उसे भोजन वस्त्रादि के रूप संतुलित और न्यूनतम व्यय करने का अधिकार रहता है। सन्यासी अर्जन, संचय और व्यय तीनोंसे रहित रहता है। केवल उसे भिक्षाटन से अपनी जीविका मात्र निर्वाह करने का विधान है। इसलिए यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्जन, संचय और व्यय का पूर्ण अधिकार केवल गृहस्थ जीवन को ही है। किन्तु कर्त्तव्यों के निरूपण से यह स्पष्ट होता है कि गृहस्थ को भी किसी भी उपाय से कितना भी धन का अर्जन एवं संचय करने का अधिकार नहीं है अपितु धर्मानुमोदित वृत्ति के द्वारा ही उसे धन अर्जन करने का अधिकार है तथा आवश्यक व्ययों के बाद ही संचय किया जा सकता है। उसके व्यय पर भी अंकुश लगा है उसे पञ्चमहायज्ञ दान एवं सामाजिक कार्य करना अनिवार्य है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि धर्मशास्त्रों ने व्यक्ति को धन-अर्जन उसके संचय और उसके उपभोग के लिए जितना स्वतंत्रता दी है उससे अधिक उसपर प्रतिबन्ध लगाया है। जिससे वह अन्य की वृत्तियों को प्रतियोगिता द्वारा विनष्ट न कर सके और धन संचय के लिए धन अर्जन न करने लगे। धर्मानुमोदित वृत्ति से अर्जन और धर्मानुमोदित कार्यों में व्यय मनुष्य के अर्थोपार्जन की लिप्सा को दोनों तरह से सीमित कर देता है। जिससे न तो मनुष्य अन्याययुक्त मार्ग से अर्जन कर सकता है और न अनुचित उपभोग के लिए व्यय।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिस वर्ग को जिस प्रकार के उपभोग की आवश्यकता होती है उस वर्ग के लिए उसी प्रकार की अर्जन वृत्ति या जीवन यापन वृत्ति का विधान धर्मशास्त्रों ने किया है। वृत्तियों में ब्रह्मचारी के लिए और सन्यासी के लिए जीविका निर्वाह मात्र के लिए भिक्षा का विधान किया गया है किन्तु भिक्षा धन-सग्रह एवं संचय की वृत्ति नहीं है। यह केवल जीवन निर्वाह की वृत्ति है। इसीलिए ब्रह्मचारी या सन्यासी को यह विधान है कि वह पका हुआ अन्न ही भिक्षा में ग्रहण करे। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के बाद ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सभी को अपने-अपने जीविका, निर्वाह, धन संग्रह, संचय उपभोग तथा दानादि के लिए वृत्तियों का विधान किया गया है जैसे–ब्राह्मण के जीविका-निर्वाह के लिए उसके छः कर्मों में से तीन जीविका निर्वाह कर्म या वृत्ति माने गए है। उसके छः कर्म हैं–अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान लेना और दान देना। इसमें से तीन, जैसे–यज्ञ करना, दान, देना और अध्ययन करना, इन तीनों में से कोई अर्जन सम्भव नहीं है अतः ये तीन उसके वे कर्म हैं जो दूसरों के हित के लिए या आत्मतोष के लिए उसे करना होता है। अध्यापन, यज्ञ कराना और दान लेना ये उसके जीविको-पार्जन की वृत्तियाँ है। इनके द्वारा वह अर्थ का अर्जन-सग्रह-उपभोग आदि कर सकता है[1]।

क्षत्रिय के कर्म विधान के सन्दर्भ में यह स्पष्ट किया गया है कि ब्राह्मण के उक्त छः कर्मों में से अध्यापन, यज्ञ कराना और दान लेना, क्षत्रिय के लिए वर्जित है उसके तीन ही कर्म वेदाध्ययन, यज्ञ करना और दान देना, का विधान है। किन्तु इन तीनों में से कोई भी कर्म वृत्तिपरक या जीविकोपार्जन के साधन नहीं है इसीलिए उसकी वृत्ति के लिए अस्त्र, शस्त्र धारण के द्वारा होने वाले (शौर्य आदि) कर्म का विधान किया गया है जिससे वह अपनी जीविका का निर्वाह कर सके[2]। इसी प्रकार वैश्य के लिए

१—अध्यापनमध्ययनं यजनं याजमं तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चैव षटकर्माण्यग्रजन्मनः ।
षण्णा तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका ।
याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ।। मनु, १०.७५-७६,

२—त्रयो धर्मा निवर्तन्ते ब्राह्मणात्क्षत्रियं प्रति ।
अध्यापनं याजनं च तृतीयश्च प्रतिग्रहः ।।
शस्त्रास्त्रभृत्वं क्षत्रस्य वणिक्पशुकृषिर्विशः ।
आर्जीवनार्थं धर्मस्तु दानमध्ययनं यजिः ।। मनु, १०.७७,७९,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी सामान्य रूप से वेदाध्ययन, यज्ञ कराना और दान लेना इन तीन कर्मों का निषेध किया गया है उसे भी क्षत्रिय के समान तीन कर्मों अर्थात् वेदाध्ययन, यज्ञ करना और दान देने की ही अनुमति धर्मशास्त्रों ने दी है। अपनी जीविका के निर्वाह के लिए उसे व्यापार, कृषि एवं पशु पालन का सहारा लेना होता है।[1] इन तीनों की जीविका निर्वाह की वृत्ति स्पष्ट करते हुए मनु ने कहा है कि ब्राह्मण की जीविका वेदाभ्यास, क्षत्रिय की रक्षण कार्य, वैश्य की जीविका वार्ता (कृषि व्यापार पशु पालन) से होती है। इसलिए उनके अपने समस्त कर्मों में ये कर्म विशेष महत्त्व के है।[2]

शूद्र के लिए सामान्यतया द्विजातियों की सेवा करने का विधान है किन्तु उसके जिविका उपार्जन के लिए कारीगरी, शिल्प, कला, आदि कर्मो के अवलम्बन पर भी विशेष बल दिया गया है क्योंकि ये कर्म एक ओर उन वस्तुओं को उत्पन्न करते हैं जिनकी आवश्यकता द्विजातियों को पड़ती हैं इसलिए ये सेवा कर्म हैं। साथ ही साथ इनसे धन का अर्जन किया जा सकता है इसलिए ये शूद्र की जीविका में सहायक कर्म भी है।[3]

इन सामान्य जीविकाओं के अतिरिक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिए आपद्कालीन जीविका का भी विधान किया गया है यह स्पष्ट किया गया है कि यदि ब्राह्मण या क्षत्रिय का निर्वाह अपनी वृत्ति से न हो तो उसे वैश्य की वृत्ति कृषि और गो पालन को अपना कर अपनी जीविका का निर्वाह करना चाहिए। ब्राह्मण और क्षत्रिय के लिए आपद्कालीन जीविका की चर्चा करते हुए यह प्रश्न उठाया गया है कि क्या ब्राह्मण और क्षत्रिय वैश्य के सभी कार्यो से अपनी जीविका का उपार्जन कर सकते हैं, या उनमें से कुछ का सहारा लेकर अपने जीविका का पालन कर सकते हैं? इस बात पर धर्मशास्त्रों में मतभेद भी प्रकट किया गया है। इस सम्बन्ध में एक दृष्टि यह है कि हिंसा प्रधान कृषि करने के लिए ब्राह्मण और क्षत्रिय को स्वी-

---

१—वैश्यं प्रति तथैवैते निवर्तेरन्निति स्थितिः।
न तौ प्रति हि तान्धर्मान्मनुराह प्रजापतिः॥ मनु, १०, ७८

२—वेदाभ्यासो ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य च रक्षणम्।
वार्ता कर्मैव वैश्यस्य विशिष्टानि स्वकर्मसु॥ मनु १०. ८०।

३—मनु, १०. १००

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृति नहीं मिलनी चाहिए। और दूसरी दृष्टि यह है कि कृषि एक निरापद वृत्ति है। ब्राह्मण, क्षत्रिय के लिए आपत्काल में इसे करने की स्वीकृति मिलनी चाहिए।

ब्राह्मण और क्षत्रिय को व्यापार का भी अधिकार आपद्काल के लिए दिया गया है। किन्तु अधिकांश वस्तुओं के व्यापार करने से उन्हें रोका भी गया है जैसे-रस, पक्वान्न, तिल, पत्थर, नमक, पशु-पक्षी, दास-दासी, वस्त्र फल-फूल, औषधि, शस्त्र, विष, मांस, सोम, दही, घी, तेल, गुड़, कुशा, मदिरा- नील, लाख, केश, चमड़ा हड्डी इत्यादि।[1]

सामान्य रूप से वृत्तियों की चर्चा करते हुए मनु ने दस वृत्तियों को जीविका निर्वाह कार्यवृत्ति कहा है जैसे-विद्या, शिल्प, मृति, सेवा, गो रक्षण, विपणन, कृषि, धृति, भिक्षा और कुशीद।[2]

इस प्रकार हम देखते है कि धर्मशास्त्रों में श्रम विभाजन की प्रक्रिया में जीविका निर्वाह को प्रमुख स्थान दिया गया है और जीविका निर्वाह के लिए वृत्तियों के विकल्प की स्थापना भी की गयी है। जीविका निर्वाह के लिए दूसरे की वृत्तियों के आश्रयण पर भी किसी प्रकार का रोक नहीं लगाया गया है किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि यह जीविका निर्वाह के लिए अपनाई गई वृत्ति सदा के लिए जीवन साधन बना ली जाय। इन जीविका निर्वाह के लिए अपनायी गयी वृत्तियों का आश्रयण केवल आपद्काल तक के लिए ही सीमित रखा गया है।

श्रम विभाजन के उक्त दृष्टिकोंण को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि धर्मशास्त्रों में व्यक्ति की आवश्यकता, उसकी क्षमता, उसमें पाये जाने वाले गुण और सामाजिक आवश्यकता को ध्यान में रखकर समाज के समस्त कार्यों को वृत्तिपरक बनाने का प्रयत्न किया गया है जिससे समाज

---

१. उभाभ्यामप्यजीवस्तु कथं स्यादिति चेद्भवेत्।
कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद्वैश्यस्य जीविकाम्॥
जीवेदेतेन राजन्यः सर्वेणाप्यनयं गतः।
न त्वेव ज्यायसीं वृत्तिमभिमन्येत कर्हिचित्॥—मनु-, १०,८२-९५,

२. विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः।
धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवनहेतवः॥—मनु, १०,११६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का प्रत्येक वर्ग दूसरे के कर्त्तव्य से लाभ उठा सके और अपने कर्त्तव्य से दूसरे के भरण-पोषण में सहायक बन सके।

धर्मशास्त्रों की सम्पत्ति सम्बन्धी अवधारणा

धर्मशास्त्रों के विषयवस्तु को देखने से लगता है कि धर्मशास्त्रों ने कर्त्तव्य या धर्म के निरूपण, वर्गीकरण, विश्लेषण और व्याख्या में जितनी सूक्ष्मदर्शिता का परिचय दिया है सम्पत्ति तथा अर्थ के निरूपण में उतनी सूक्ष्म दर्शिता नहीं दिखाई गयी है। सम्पत्ति क्या है? कितने प्रकार की होती है? किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है, उसके उपयोग और विनिमय किस प्रकार होना चाहिए? आदि विषयों का निरूपण धर्मशास्त्रों में बहुत स्पष्ट रूप से नहीं किया गया है। इनके सम्बन्ध में जो कुछ भी चर्चाएँ उपलब्ध होती है वे मुख्य रूप से उत्तराधिकार, दान, विनिमय और अपहरण या चोरी आदि के सन्दर्भ में ही हैं जिनसे साक्षात् या परम्परया सम्पत्ति का सम्बन्ध है। इसलिए सम्पत्ति के सम्बन्ध में धर्मशास्त्रों के दृष्टिकोण का सुसंगत, व्यवस्थित एवं विस्तारपूर्वक निरूपण करना एक कठिन कार्य लगता है। धर्मशास्त्रों में जहाँ कहीं सम्पति के सम्बन्ध में विवेचन हुआ है उनके आधार पर एक संक्षिप्त विवरण ही यहाँ प्रस्तुत किया जा सकता है। क्योंकि इस सम्बन्ध में युक्ति-युक्त विवरण प्रस्तुत करने के लिए एक ओर आवश्यक सामग्री पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं है और दूसरी ओर उपलब्ध सामग्री को सुसगत बनाने और व्यवस्थित कर किसी सिद्धान्त की स्थापना के लिए धर्मशास्त्रों में स्पष्ट संकेत नही है। अतः प्रस्तुत विषय के विवेचन के लिए जो कुछ सामग्री उपलब्ध हो सकी है उसे ही आधार बनाया गया है।

सम्पत्ति का स्वरूप

धर्मशास्त्रों में प्रसंग विशेष में विविध प्रकार के सम्पत्तियों की चर्चा है जिसका वर्णन निम्नलिखित वर्गो में रखकर किया जा रहा है यह वर्गीकरण कोई तार्किक और वैज्ञानिक आधार पर नहीं किया गया है अपितु एक सामान्य दृष्टिकोण से विषय को स्पष्ट करने के लिए किया गया है। प्रथम दृष्टि से सम्पत्ति दो प्रकार की होती है, वंशानुगत प्राप्त सम्पत्ति और अर्जित सम्पत्ति। वंशानुगत प्राप्त सम्पत्ति उस संपत्ति को कहते हैं जो व्यक्ति को उसके पूर्वजों से (पिता-पितामह) आदि से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त होती है। इससे अतिरिक्त दूसरे प्रकार की सम्पत्ति अर्जित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पत्ति है जिसे व्यक्ति स्वयं अपने बुद्धि बाहुबल या व्यापार के द्वारा अर्जित करता है। यह भेद इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि उत्तराधिकार के अवसर पर यह विचारणीय होता है कि व्यक्ति को कौन सम्पत्ति वंशानुगत प्राप्य है और कौन उसकी अर्जित है। क्योंकि उत्तराधिकार के सम्बन्ध में इन दोनों के लिये अलग-अलग विधान है।

सम्पत्तिका दूसरा विभाग चल और अचल सम्पत्ति के रूप में किया जाता है। भूमि भवन या इस प्रकार में अन्य वस्तुएँ अचल सम्पत्ति के अन्तर्गत आती है और द्रव्य, सुवर्ण, चाँदी, आभूषण, पशु, अन्न, वस्त्र आदि ये सभी चल सम्पत्ति के अन्तर्गत माने जाते हैं सम्पत्ति के चल-अचल विभाग भी केवल सम्पत्ति के स्वरूप को ध्यान में रखकर किया गया है जो सम्पत्ति एक स्थान से दूसरे स्थान पर न हटाई जा सकती हो वह अचल सम्पत्ति है। जिस सम्पत्ति को एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाया जा सकता हो उसे स्थानान्तरित किया जा सकता हो वह चल सम्पति है। मनु ने सात प्रकार से सम्पत्ति के आने की चर्चा की है अर्थात् आगम स्रोत के आधार पर सम्पत्ति के सात विभाग किये जाते हैं— दाय,लाभ, क्रय, जय, प्रयोग, कर्मयोग और सत्प्रतिग्रह। दाय वह है जो धर्म पूर्वक अपने पूर्वजों की सम्पत्ति से हिस्सा के रूप में प्राप्त होता है। लाभ, जो मूलधन से उपार्जित होता है या किसी मित्र आदि से उचित रूप से प्राप्त होता है। तीसरे प्रकार की सम्पत्ति का नाम है 'क्रय', इसका तात्पर्य उस सम्पत्ति से है जो खरीद कर या विनिमय द्वारा प्राप्त होती है। जय सम्पत्ति का तात्पर्य उस चल-अचल सम्पत्ति से है जो राजा धर्मयुद्ध में विजय प्राप्त कर पराजित राजा से प्राप्त करता है। जो प्रयोग का तात्पर्य है वह धन जो मूलधन के ब्याज के रूप में प्राप्त किया जाता है। कर्मयोग वह धन है जो खेती या व्यापार या उद्योग-धन्धों से प्राप्त होता है। और सत्प्रतिग्रह का तात्पर्य उस धन से है जो ब्राह्मणादि को शस्त्र अनुमोदित विधि से दान के रूप में प्राप्त होता है। ये सात प्रकार के धन विशुद्ध कहे जाते हैं क्योंकि ये शास्त्र द्वारा अनुमोदित वृत्ति या मार्ग से उपार्जित होते हैं।[1]

---

१. सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः।
प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च ॥ मनु, १०. ११५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दान के प्रकरण में सत्पात्र को देने योग्य दान की वस्तुओं की चर्चा के प्रसंग में याज्ञवल्क्य ने विभिन्न प्रकार की सम्पत्तियों का निर्देश किया है जैसे—गाय, भूमि, तिल, सोना, सोने के सींग और चांदी के खुर मढ़ाकर दूध देने वाली गाय, काँसे के दुग्ध पात्र, दीपक अन्न, वस्त्र, जल, घी, कन्या माल ढोनेवाले बैल, घर, धान्य, जूता, छाता चन्दन, लेपन, सवारी, वृक्ष, शैय्या कुश, शाक, दूध, मछली, दही, इत्यादि।[1]

मनु ने ब्राह्मण और क्षत्रिय के आपद्धर्म के रूप में वैश्य के कर्म व्यापार को स्वीकार करने पर यह निर्देश दिया है कि उन्हें किन-किन वस्तुओं का विक्रय करना चाहिए और किन-किन वस्तुओं का विक्रय नहीं करना चाहिए। इस प्रकरण को देखने से यह लगता है कि स्मृतिकार कुछ वस्तुओं को जो अत्यधिक जीवनोपयोगी हैं उन्हें विक्रय से वर्जित रखना चाहते हैं या थोड़े ही लोगों को उनसे लाभ कमाने की अनुमति प्रदान करना चाहते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय के लिए विक्रय से वर्जित वस्तुओं में से कुछ की चर्चा नीचे की जा रही है। जैसे–सबरस, पक्वान्न, तिल, पत्थर, नमक, पशु, दास-दासी, वस्त्र, फल, मूल, औषधि, जल, शस्त्र, दूध, मधु, दही, घी, तेल, मोम, गुड़, कुश, जंगली पशु, पशु, पक्षी, मदिरा, नील, लाख, रांगा, शीशा, लोहा, केश, चमड़ा, हड्डी, चर्बी इत्यादि।[2]

---

२. याज्ञवल्क्य, अध्याय १. २०१-२१६

३. सर्वान् रसानपोहेत कृतान्नं च तिलैः सह।
अश्मनो लवणं चैव पशवो ये च मानुषाः॥

सर्वं च तान्तवं रक्तं शाणक्षौमाविकानि च।
अपि चेत्स्युररक्तानि फलमूले तथौषधीः॥

अपः शस्त्रं विषं मांसं सोमं गन्धांश्च सर्वशः।
क्षीरं क्षौद्रं दधि घृतं तैलं मधु गुडं कुशान्॥

आरण्यांश्च पशून्सर्वान्दंष्ट्रिणश्च वयांसि च।
मद्यं नीलिं च लाक्षां च सर्वांश्चैकशफांस्तथा॥

काममुत्पाद्य कृष्यां तु स्वयमेव कृषीवलः।
विक्रीणीत तिलाञ्छूद्रान्धर्मार्थमचिरस्थितान्॥ मनु, १०, ८६-९०.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पत्ति के सम्बन्ध में धर्मशास्त्रों में जो सामग्री उपलब्ध होती है उसके आधार पर निष्कर्ष के रूप में सम्पत्ति सम्बन्धी कुछ सिद्धान्त निकाले जा सकते हैं। यद्यपि इन सिद्धान्तों को निष्कर्ष रूप में स्वीकार करने के लिए प्राप्त तथ्य इतने पर्याप्त और प्रामाणिक नहीं लगते जिससे इन निष्कर्षों की पूर्ण प्रामाणिकता सिद्ध की जा सके फिर भी इन तथ्यों के आधार पर आधारित होने के कारण इन्हें काम चलाऊँ निष्कर्ष के रूप में स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है।

(१) सम्पत्ति सम्बन्धी उपलब्ध तथ्यों से धर्मशास्त्रों का जो सर्व प्रथम दृष्टिकोण प्रकट होता है उससे यह स्पष्ट होता है कि सम्पत्ति समाज में सामाजिक स्तर का अनिवार्य निर्धारक नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि धर्मशास्त्रों ने सम्पत्ति के आधार पर समाज के किसी वर्ग विशेष को ऊँचा-नीचा, बड़ा या छोटा नहीं माना है।

(२) सम्पत्ति के अर्जन, रक्षण और उपभोग में स्वातन्त्र्य का सिद्धांत। धर्मशास्त्रों में प्राप्त सामग्री के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सम्पत्ति के अर्जन, सम्पत्ति के रक्षण और सम्पत्ति के उपभोग में व्यक्ति पूर्ण स्वतंत्र है और समाज या राज्य उसके इस कार्य में किसी प्रकार हस्तक्षेप नहीं कर सकता है। कहने का तात्पर्य है कि व्यक्ति को सम्पत्ति अर्जन करने की स्वतंत्रता है। उसे बढ़ाने की स्वतन्त्रता है। उसके संचय करने की स्वतन्त्रता है उसके उपभोग करने की स्वतंत्रता है। इस अर्जन, संचय और उपभोग पर राज्य बाधक नहीं है। इस सम्बन्ध में केवल उसे राज्य द्वारा निर्धारितअष्टांश या दशांश सम्पत्ति को कर के रूप में राजा को देना पड़ता है, शेष सम्पत्ति पर चाहे उसकी सीमा कुछ भी क्यों न हो व्यक्ति को पूर्ण अधिकार है। किन्तु यहाँ यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि सम्पत्ति के सम्बन्ध में व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अर्थ वृत्ति के चयन की स्वतन्त्रता या अनेक वृत्तियों से सम्पत्ति अर्जन की स्वतन्त्रता नहीं है। वृत्ति चयन की दृष्टि से व्यक्ति परतन्त्र है। उसे वही वृत्ति अपनानी है जो उसके लिए निर्धारित है जो धर्म के द्वारा अनुमोदित है तथा समाज के द्वारा स्वीकृत है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि व्यक्ति अनेक वृत्तियों को जो कि लाभकारी हो, एक साथ अपना कर अधिक से अधिक धन संचय करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि उसे अपनी वृत्तिसे धन अर्जन करना है, दूसरे की वृत्ति से नहीं। दूसरे की वृत्ति के आश्रयण का समर्थन जीविका निर्वाह मात्र के लिए आपातकाल तक ही सीमित है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३) सम्पत्ति का अर्जन केवल संचय या भोग मात्र के लिए नहीं, अपितु समाज कल्याण, धर्म संस्थापन और परलोकार्थ अनुष्ठान के लिए है। इसका तात्पर्य यह है कि धर्मशास्त्रों ने किसी भी व्यक्ति को निःसीम धन एकत्र करने की अनुमति नहीं दी है। सम्पत्ति के अर्जन की स्वतन्त्रता होते हुए भी कुछ सामाजिक और धार्मिक बाध्यता है जिससे वह सम्पत्ति को सत्कर्मों में ही व्यय कर सकता है। क्योंकि एक ओर धर्मशास्त्रों ने दुर्व्यसनों में अपव्यय की घोर निन्दा की है तथा अनुचित भोगों की ओर से व्यक्ति को निवृत्त करने के लिए अनुचित भोगों की भर्त्सना की है। उसे केवल उचित भोग, भोजन, वस्त्र परिवार पालन आदि के लिए ही सम्पत्ति के व्यय करने की अनुमति प्राप्त है। दूसरी ओर सम्पत्तिशाली व्यक्ति के ऊपर अनेक सामाजिक एवं धार्मिक दायित्व हैं जिनका निर्वाह करना तथा उसके लिए धन व्यय करना उसका पुनीत कर्त्तव्य माना गया है। जैसे-सत्पात्र को दान देना, पञ्च महायज्ञ के सम्पादन में समुचित व्यय करना अन्य धार्मिक यज्ञ अनुष्ठानों में धन को लगाना तथा कूप, तड़ाग, वाटिका, सड़क आदि सामाजिक कार्यों के लिए अपने धन का एक महत्त्वपूर्ण अंश खर्च करना आदि। इन कर्मों का सामाजिक महत्त्व है। यदि धनवाला व्यक्ति इन कर्मों में व्यय नहीं करेगा तो इन कार्यों से लाभ उठाने वाले समाज के अन्य व्यक्तियों को अपनी अपेक्षा की पूर्ति से वंचित रहना पड़ेगा। अतः इन कार्यों के सम्पादन से वह व्यक्ति समाज के अन्य लोगों के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह करता है। किन्तु उसका यह व्यय इस लोक में यश तो देता है उसके परलोक के मार्ग को भी प्रशस्त करता है।

धर्मशास्त्रों के सम्पत्ति सम्बन्धी उक्त सिद्धान्तों को देखने से यह लगता है कि आधुनिक युग में सम्पत्ति सम्बन्धी स्वीकृत सिद्धान्त पूँजीवाद या समाजवाद के साथ उसे नहीं जोड़ा जा सकता है। क्योंकि पूजीवादी व्यवस्था में व्यक्ति के अधिकार असीमित हैं। सम्पत्ति के अर्जन, रक्षण और उपभोग के लिए उस पर कोई अंकुश लगना सम्भव नहीं है। वह अनेक वृत्तियों को जो धनोपार्जन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं एक साथ ग्रहण कर असीमित धन का उपार्जन कर सकता है, उसका संचय और संग्रह कर सकता है, और उसका उपभोग अपनी स्वेच्छा से कर सकता है। सामाजिक, राजनैतिक या धार्मिक ऐसी कोई बाध्यता उस पर नहीं है जिसके द्वारा उसके भोग पर अंकुश लगाया जा सके, अर्थलिप्सा से अपनायी जाने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाली उसकी अनेक वृत्तियों पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध लगाया जा सके तथा कुछ विशेष कार्यों में ही उसे अपने अर्जित धन को व्यय का अधिकार दिया जा सके। दूसरी ओर समाजवादी अर्थव्यवस्था के सिद्धान्त में व्यक्ति को सम्पत्ति के सम्बन्ध में चाहे वह स्थायी हो या चल बहुत ही सीमित अधिकार प्राप्त है। राज्य के नियम के अनुसार उसे श्रम करने और अपने उपभोग के लिए आवश्यक धन ही प्राप्त करने का उसे अधिकार है। शेष धन समाज को देने के लिए वह बाध्य है।

धर्मशास्त्रों का सम्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त न तो पूँजीवादी स्वतन्त्र निरपेक्षता का सिद्धान्त है और न समाजवादी व्यापक प्रतिबन्ध का ही सिद्धान्त है। इसमें वृत्ति पर नियन्त्रण होने के कारण व्यक्ति अनेक वृत्तियों का आश्रयण कर ही जा सकता जिससे अपार धन संग्रह हो सके। दूसरी ओर व्यय के लिए उसे धर्म के अनुमोदन और समाज की स्वीकृति के अन्दर ही रहना है। जिससे अनावश्यक भोग और अतिसंचय दोनों सम्भव नहीं है। चूंकि व्यक्ति स्वयं धन अर्जित करता है उसमें उसका श्रम लगता है इसलिए उस पर अधिकार रखने की भावना स्वाभाविक है। अतः यदि समाज उसके अर्जित सम्पत्ति को उसकी इच्छा के विरुद्ध उससे लेता है तो उसके आन्तरिक मन में असन्तोष, क्षोभ एवं विद्वेष अवश्य उत्पन्न होगा। व्यक्ति स्वभाव से यह चाहता है कि जो कुछ वह अर्जन करता हैं उस पर उसका अधिकार रहे, उसकी इच्छा से उसे खर्च किया जाय। तथा खर्च करते समय भी उसका उस पर अधिकार रहे। समाजवादी सिद्धान्त के अन्तर्गत यह सम्भव नहीं है। किन्तु धर्मशास्त्रों के संपत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त के अन्तर्गत यह सम्भव है कि व्यक्ति सामाजिक कार्यों के नैतिक, धार्मिक और पारलौकिक बाध्यता के होते हुए भी अपनी स्वतन्त्र इच्छा का अनुभव कर सके। वह अपने विश्वास के आधार पर यह मान सकता हैं कि दान, यज्ञ, कूप, तड़ाग आदि सामाजिक कार्यों में किया हुआ व्यय केवल परार्थ एवं बाध्यता ही नहीं है। अपितु उसमें उसका दूरस्थ स्वार्थ और स्वतन्त्रता भी है। वह इन कार्यों को अपनी स्वतन्त्रेच्छा से करता है और इनके पुण्य से होने वाले सुखों का भागी भी अपने को समझता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्मशास्त्र की सम्पत्ति संबन्धी सिद्धान्त पूँजीवादी सिद्धान्त और समाजवादी सिद्धान्त दोनों के दोषों का निवारण तथा दोनों के गुण का समन्वय करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पत्ति सम्बन्धी उत्तराधिकार

धर्मशास्त्रों की सामाजिक व्यवस्था में सम्पत्ति पर व्यक्ति का पूर्ण अधिकार माना गया है। व्यक्ति निर्धारित वृत्तियों से धनार्जन करने में धन का संचय करने तथा धर्म से अनुमोदित भोगों में व्यय करने के लिए वह पूर्ण स्वतंत्र भी है। यह धन मुख्य रूप से दो वर्गों में रखा जाता है, एक वंश परम्परागत प्राप्त धन और दूसरा स्व अर्जित धन।

धर्मशास्त्र, सामाजिक व्यवस्था के विधान के रूप में सम्पत्ति के अधिकार एवं उत्तराधिकार दोनों का निर्धारण करता है। भारतीय हिन्दू समाज धर्मशास्त्र पर आधारित व्यवस्था में आज बंधा भले न हो फिर भी उत्तराधिकार आदि के सम्बन्ध में उन अनेक बातों के लिए वह धर्मशास्त्रों पर आश्रित है जिनके सम्बन्ध में नये कानून नहीं बन सके हैं।

धर्मशास्त्रों की समाज व्यवस्था में अधिकांश संयुक्त परिवार हैं संयुक्त परिवार न केवल निवास, भोजन, और धार्मिक कृत्य की दृष्टि से एक साथ रहने वाले व्यक्तियों का समूह है अपितु इसके सब सदस्य परिवार की सम्पत्ति का संयुक्त रूप से अधिकारी भी है। उस समय संयुक्त परिवार के विकसित तथा सुदृढ़ होने का एक महत्त्वपर्ण कारण यह था कि यह आर्थिक दृष्टि ने अत्यन्त उपयोगी था। इसमें रहने वाले सभी व्यक्तियों के कुटुम्ब का सम्मिलित सम्पत्ति से पालन-पोषण होता था। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि संयुक्त सम्पत्ति पर सबका स्वत्व एवं अधिकार भी समान था। स्वत्व और अधिकार के प्रश्न उठने पर धर्मशास्त्रों में निर्दिष्ट सिद्धान्त के आधार पर उसका निर्धारण होता था।

संयुक्त परिवार सम्बन्धी व्यवस्था के आधार पर हिन्दू संयुक्त परिवार में एक मूल पुरुष की तीसरी पीढ़ी तक के वंशज अपने स्त्रियों तथा अविवाहित कन्याओं के साथ इसके सदस्य समझे जाते हैं किन्तु इनमें से केवल पुरुष संयुक्त सम्पत्ति में स्वत्व रखने क कारण इसके साझीदार या समांशी माने जाते हैं। तीन पीढ़ी की मर्यादा पिण्डदान के आधार पर की गई है। मनु के कथनानुसार तीन पितरों को उदक और पिण्डदान दिया जाता है चौथा देने वाला होता है पाँचवे का कोई सम्बन्ध नहीं होता है।[1]

१. त्रयाणामुदकं कार्यं त्रिषु पिण्डः प्रवर्तते।
चतुर्थः संप्रदातैषां पञ्चमो नोपपद्यते ॥—मनु, ९,१८६,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामान्यत: पिण्डदाता ही उत्तराधिकारी होने से पैतृक सम्पत्ति पर स्वत्व रखता है चूंकि परदादा तक पिण्डदान करता है अत: उसका इसी पूर्वज तक की सम्पत्ति पर स्वामित्व माना जाना स्वाभाविक है।

उत्तराधिकार के निर्धारण के लिए स्मृतियों पर आधारित दो सम्प्रदाय कालक्रम में विकसित हुए हैं सम्पत्ति के बंटवारे के सम्बन्ध में इन दोनों सम्प्रदायों को वैधानिक अधिकार भी प्राप्त हैं ये दो सम्प्रदाय हैं मिताक्षरा एवं दायभाग। मिताक्षरा का आधार है याज्ञवल्क्य स्मृति पर विज्ञानेश्वर द्वारा लिखी हुई मिताक्षरा नामक टीका और दायभाग का आधार है स्मृतियों के आधार पर लिखा हुआ जिमूतवाहन का दायभाग नामक ग्रन्थ।

इन दोनों सम्प्रदायो का मौलिक मतभेद इस प्रश्न पर है कि पैतृक सम्पत्ति पर पुत्र का स्वत्व किस प्रकार उत्पन्न होता है। मिताक्षरा के मतानुसार जन्म लेते ही पुत्रका पैतृक सम्पत्ति में स्वत्व उत्पन्न हो जाता है अत: यह मत जन्म स्वत्ववाद कहलाता है। दायभाग मे इससे सर्वथा भिन्न मान्यता है, इसके अनुसार पिता की मृत्यु से ही पुत्रों को पिता की सम्पत्ति मात्र में ही अधिकार मिलता है। इस मत को उपरम स्वत्ववाद कहा जाता है।

इन परस्पर विरोधी सिद्धान्तों का मूल कारण दाय शब्द की दोहरी व्याख्या है। विज्ञानेश्वर का कहना है कि दाय वह सम्पत्ति है जिस पर उसके स्वामी के साथ सम्बन्ध मात्र के कारण दूसरे व्यक्ति का स्वामित्व स्थापित हो जाता है। पिता की सम्पत्ति पर पुत्र का अधिकार पिता के साथ उसके सम्बन्ध होने के कारण है और यह सम्बन्ध जन्म से उत्पन्न होता है। अत: सम्पत्ति पर जन्म से ही अधिकार मानना उचित है।[१] जिमूतवाहन के अनुसार दाय शब्द की व्युत्पत्ति-दानार्थक 'दा' धातु से हुई है इसलिए इसका अर्थ है जो दिया जाय वह दाय है दान में देने वाला व्यक्ति अपने अधिकार का त्याग करता है इस प्रकार उसकी स्वत्व निवृत्ति से नए व्यक्ति के अधिकार की उत्पत्ति होती है।[२]

१—तत्र दायशब्देन यद्धनं स्वामिसम्बन्धादेव निमित्तादन्यस्य स्वं भवति तदुच्यते। याज्ञवल्क्य २, ११४, की अवतरणिका

२—ततश्च पूर्वस्वामिसंबन्धाधीनं तत्स्वाम्योपरमे यत्र द्रव्ये स्वाम्यं–तत्र निरूढो दायशब्दः। दायभाग, १,४-५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपरम स्वत्ववाद के लिए मनुस्मृति में यह स्पष्ट व्यवस्था है कि माता-पिता के मरने के बाद सब भाई एकत्र होकर पैतृक सम्पत्ति को बराबर बांट लें क्योंकि उन दोनों के जीवित रहते उनकी सम्पत्ति को लेने का उनको अधिकार नहीं है। विज्ञानेश्वर ने उपरम स्वत्ववाद के खण्डन के लिए तर्क दिया है। उनका कहना है कि याज्ञवल्क्य[1] के निर्देशानुसार दादा की सम्पत्ति में पुत्र और पिता का हक एक जैसा है। इससे यह स्पष्ट है कि पुत्र का अधिकार जन्म से ही है।

उनके मत में उपरम स्वत्ववादियों की यह उक्ति भी ठीक नहीं है कि जन्म से स्वत्व मानने के कारण पुत्र से अनुमति लिए बिना यज्ञ करने से श्रुतिवचन का विरोध होगा। वस्तुतः पिता को परिवार का अध्यक्ष होने के नाते परिवार के हित के लिए आवश्यक यज्ञ एवं धर्म कार्य करने का पूर्ण अधिकार है।

मिताक्षरा के अनुसार संयुक्त परिवार के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्यों को ध्यान में रखना होगा—(क) पैतृक सम्पत्ति में स्वत्व जन्म से प्राप्त होता है। (ख) किसी समांशी की मृत्यु होने पर उसका हिस्सा अतिजीवी समांशी को मिलता है। (ग) केवल पुरुष ही समांशी हो सकते हैं। (घ) कोई समांशी अपने हिस्से का दान, विक्रय आदि द्वारा अपहार नहीं कर सकता। (ङ) पिता कानूनी आवश्यकता या पूर्ववर्ती ऋण के लिए ही संयुक्त सम्पत्ति का अपहार कर सकता है।[2]

दायभाग के अनुसार संयुक्त परिवार की सम्पत्ति पर उत्तराधिकार के सम्बन्ध में विचार करते समय निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है :—(क) स्वत्व जन्म से नहीं किन्तु पिता की मृत्यु से उत्पन्न होता है। (ख) समांशी की मृत्यु होने पर पुरुष का हिस्सा पत्नी आदि मृत व्यक्ति के उत्तराधिकारियों को प्राप्त होता है। (ग समांशियों की विधवाएं भी समांशी हो सकती है। (घ) समांशी दान या विक्रय द्वारा अपने सम्पत्ति का अपहार कर सकता है। (ङ) सम्पत्ति पर पिता का पूर्ण अधिकार होता है वह इसका यथेच्छ विनियोग कर सकता है।

१—याज्ञवल्क्य, २, १२१

२—हरिदत्त वेदालंकार, हिन्दू परिवार मीमांसा, पृष्ठ २३९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संयुक्त संपत्ति

संयुक्त परिवार में दो प्रकार की सम्पत्ति होती है— समांशी सम्पत्ति और पृथक सम्पत्ति। पहली सम्पत्ति में समांशी जन्म द्वारा अधिकार प्राप्त करता है किन्तु उस पर उसका पृथक वैयक्तिक स्वामित्व नहीं होता। यह सम्पत्ति उसके मरने पर अतिजीविता के सिद्धान्त के अनुसार अन्य समांशी को प्राप्त होती है। दूसरे प्रकार की सम्पत्ति में उसे विनियोग का पूर्ण अधिकार होता है। समांशी सम्पत्ति मुख्यतः पिता,दादा,परदादा से प्राप्त पैतृक सम्पत्ति होती है उस पर पिता तथा पुत्रों का तुल्य अधिकार होता है। इससे अतिरिक्त कुछ सम्पत्ति ऐसी है जो अपृथक सम्पत्ति या स्वअर्जित सम्पत्ति कहलाती है। इस पर पाने वाले का पूरा अधिकार होता है यह अविभाज्य होती है। इस पर अन्य समांशियों का कोई अधिकार नहीं होता। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित सम्पत्तियाँ आती हैं—तीन पीढ़ी से दूर के सम्बन्धी से प्राप्त सम्पत्ति, दान या वसीयत से प्राप्त सम्पत्ति, पैतृक सम्पत्ति को हानि पहुँचाये बिना कमाया हुआ धन, विद्याधन, या विद्या आदि से उपार्जित धन।

संयुक्त परिवार की सम्पत्ति के संदर्भ में समांशी और कर्ता का भेद स्पष्ट करना आवश्यक है।

समांशी

तीन पीढ़ी तक संयुक्त परिवार की पैतृक सम्पत्ति से स्वत्व रखने वाले व्यक्ति समांशी कहलाते हैं। इनके सामान्य अधिकार के अन्तर्गत प्रत्येक समांशी को साझी सम्पत्ति के संयुक्त उपभोग औरस्वामित्व का अधिकार, संयुक्त सम्पत्ति से अपना, अपनी पत्नी का तथा बच्चों के पालन पोषण का अधिकार प्रमुख है।

कर्त्ता

संयुक्त परिवार का संचालक और अविभक्त सम्पत्ति का व्यवस्थापक प्रायः पिता होता है, उसके अभाव में बड़ा भाई अथवा परिवार का सबसे बड़ा पुरुष यह कार्य करता है।[1] सामान्य व्यवस्थापक अधिकार के अति-

---

१—ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः समम्।
भजेरन्पैतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः॥ मनु, ९. १०४–१०८,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रिक्त कुछ विशेष कार्यों के लिए कर्त्ता को संयुक्त सम्पत्ति पर ऋण लेने तथा सम्पत्ति बेचने का अधिकार है, जैसे--सरकारी टैक्स की अदायगी के लिए, सम्पत्ति को बचानेके लिए, समांशियोंकी पत्नियों तथा बच्चों की रक्षा तथा भरण-पोषण के लिए, समांशियों की लड़कियों के विवाह के लिए, आवश्यक धार्मिक कार्य को पूरा करने के लिए और पिता के ऐसे ऋण की अदायगी के लिए जो अनैतिक और कानून विरुद्ध न हो।

मनु ने अनपत्य व्यक्तियों के दायादों का वर्णन इस प्रकार किया है--

१. पुत्री, २. दौहित्र्य, ३. पिता, ४. भाई, ५. माता, ६. दादी' ७. अन्य सपिण्ड, ८. सकुल्य, ९. गुरु-शिष्य, १०. ब्राह्मण और ११, राजा।[1] मनु ने दायादों में पत्नी का उल्लेख नहीं किया है। किन्तु याज्ञवल्क्य पत्नी को भी दायादों में स्थान देते हैं (उनके अनुसार अपुत्र मृत व्यक्ति की सम्पत्ति पर निम्न क्रम से पहले-पहले के अभाव होने पर अगले-अगले का अधिकार होता है। पत्नी, कन्याएँ, दौहित्र्य, माता, पिता, भाई, भाइयों के लड़के, गोत्रज, बन्धु-शिष्य और सहपाठी।[2]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि धर्मशास्त्रों में श्रम और सम्पत्ति की मान्यता धार्मिक मान्यता से सम्बद्ध है। उत्तराधिकार भी धार्मिक दायित्व के निर्वाह के आधार पर निर्धारित हुआ है।

१—मनु, ९, १८७, १३०, १३६, २१७, १८८,१८९।
२—याज्ञवल्क्य, १. १३५, १३६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नवम्-अध्याय

राजनैतिक-संस्था

राज्य, न्याय एवं दण्ड

राज्य का महत्त्व

समाज दर्शन की दृष्टि से राज्य एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक संस्था है। यह अनेक प्रकार से समाज के अन्य संस्थाओं, व्यक्तियों तथा उनके अधिकार कर्तव्य एवं एक दूसरे के परस्पर सम्बन्धों को प्रभावित करता है। किसी देश, काल या समाज की सामाजिक स्थिति, धार्मिक स्थिति, आर्थिक एवं सांस्कृतिक स्थिति का यथार्थ मूल्यांकन उस देश काल और समाज की राजनैतिक स्थिति के परिप्रेक्ष्य के बिना करना सम्भव नहीं है। इसलिए लोक में यह सूक्ति बहुत प्रचलित है कि यथा राजा तथा प्रजा। अर्थात् जैसी राज्य व्यवस्था होगी उसी प्रकार उस देश की जनता की जीवन शैली भी होगी। समाजदर्शन के चिन्तक राज्य और समाज में कभी-कभी अभेद भी मान लेते हैं। इसलिए राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त को समाज की उत्पत्ति का सिद्धान्त मान लिया जाता है। सामाजिक संस्थाओं मे राज्य का विशेष महत्त्व इसलिए भी माना गया है कि इसके साथ न्याय और दण्ड का समावेश हो जाता है। अन्य सामाजिक संस्थाओं के अधिकार में इतना महत्त्वपूर्ण न्याय और दण्ड व्यवस्था न होने के कारण उनका प्रभुत्व स्थापित नहीं हो पाता है किन्तु राज्य के अधिकार में न्याय और दण्ड इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसके कारण इसकी प्रभुसत्ता की चुनौती देना सम्भव नहीं होता। राज्य समाज का रक्षक और व्यवस्थापक दोनों कहा जा सकता है। वह बाहरी शत्रुओं से समाज की रक्षा युद्ध की घोषणा कर और युद्ध लड़कर करता है तथा आंतरिक अपराधों को रोकने के लिये कठोर दण्ड की व्यवस्था करता है। इस प्रकार वह समाज की रक्षा आंतरिक और बाह्य दोनों शत्रुओं से करने के कारण समाज का रक्षक है। वह समाज में प्रत्येक संस्था और व्यक्ति जो अपने कर्त्तव्यों के पालन के लिए बाध्य करता है तथा किसी के कर्त्तव्य पालन में आए हुए विघ्न बाधाओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को हटाकर उसे कर्त्तव्य सम्पादन का अवसर देता है। इस राज्य के कारण ही कोई अपने अधिकार का दुरुपयोग नही कर पाता और साथ ही साथ अपना कर्त्तव्य भी नहीं छोड़ पाता। इस प्रकार राज्य समाज के समस्त संस्थाओं को उनके अधिकार तथा कर्त्तव्य के अन्तर्गत रखते हुए समाज की व्यवस्था को सुरक्षित रखने के कारण समाज का व्यवस्थापक भी हैं।

धर्मशास्त्रों के समाज दर्शन में भी राज्य को एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। राज्य धर्मशास्त्रों का साक्षात् प्रतिपाद्य विषय नहीं है इसलिए राज्य के विषय में विशद् विवेचन तो यहाँ नहीं मिलता है फिर भी जो सामग्री उपलब्ध होती है उसके आधार पर राज्य के स्वरूप, कार्य एवं प्रभाव आदि का स्पष्ट 'चित्रण' सम्भव है।

राज्य का स्वरूप

धर्मशास्त्रों में उपलब्ध सामग्री के आधार पर यह कहा जा सकता हैं कि यहां राज्य के अवयवनिष्ठ स्वरूप का प्रतिपादन हुआ है। मनु द्वारा प्रतिपादित राज्य सप्तांग है अर्थात् उनके मत में राज्य के सात अंग है। जिन्हें राज्य की प्रकृति या सप्त प्रकृति कहा गया है। मनु के इस सप्तांग या सप्त प्रकृति वाले राज्य के स्वरूप का समर्थन कौटिल्य ने भी किया है। सप्तांगों में स्वामी आमात्य, पुर, राष्ट्र, कोश, दण्ड और मित्र को रखा गया है। इनमें स्वामी के स्थान पर राजा, आमात्य के स्थान पर मन्त्री तथा पुर के स्थान पर किला, परकोटा, खाई आदि से सुरक्षित स्थान राजधानी को रखा गया है।[1] मनु द्वारा प्रतिपादित राज्य के सप्तांग स्वरूप का समर्थन याज्ञवल्क्य ने भी किया है। किन्तु मनु के सप्तांग के पुर और राष्ट्र के स्थान पर याज्ञवल्क्य ने जन तथा दुर्ग का उल्लेख किया है। इन सप्तांगों में मनु पुर और राष्ट्र को अलग मानते हुए पुर को राजधानी तथा राष्ट्र को समस्त भू-भाग के रूप में परिभाषित करना चाहते हैं। किन्तु याज्ञवल्क्य के अनुसार ये दो स्वतन्त्र अंग नहीं हैं अपितु ये दोनों जन अंग के अन्तर्गत आ जाते हैं और इस प्रकार मनु के सात अंग

---

1. स्वाम्यमात्यो पुरं राष्ट्रं कोशदन्डौ सुहृत्तथा।
सप्त प्रकृतयो ह्येताः सप्तांङ्गं राज्यमुच्यते॥ मनु० ९, २९४।
कौटिल्य अर्थशास्त्र, ९७ अध्याय ९६, प्रकरण, पृ० २७१।
स्वाम्यामात्यसुद्दत्कोशदण्डमित्राणि प्रकृतयः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

याज्ञवल्क्य के छः अंग में ही समाविष्ट हो जाते हैं। अतः सातवें अंग के रूप में याज्ञवल्क्य ने दुर्ग का उल्लेख किया है।[1] महाभारत शांतिपर्व में सप्तांग के अन्तर्गत आत्मा, आमात्य, कोश, दण्ड मित्र जनपद तथा पुर रखा गया है। यहाँ राजा के स्थान पर आत्मा का निर्देश इस मान्यता की ओर संकेत करता है कि राजा ही राज्य की आत्मा है।[2] राज्य इन सात प्रकृतियों या अंगों से सदा युक्त रहता है। अतः अपने स्वाभाविक रूप में रहने तथा अपने कार्य का सम्यक् सम्पादन करने के लिये राज्य के इन सात प्रकृतियों का अपने स्वाभाविक रूप में रहना तथा अपने कार्य का सम्यक् सम्पादन करना अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि जिस प्रकार शरीर के किसी अंग के विकारग्रस्त होने पर सम्पूर्ण शरीर के कार्य में विकृति आ जाती है उसी प्रकार राज्य के किसी भी अंग के विकारग्रस्त होने पर सम्पूर्ण राज्य विकारग्रस्त हो जाता है तथा अपने कार्य का सम्पादन भली-भाँति नहीं कर पाता है।

मनु ने इन सप्तांगों के परस्पर सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए तिपाई का उदाहरण दिया है। इस उदाहरण से वे यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि तिपाई के तीनों पांव में से कोई अकेले खड़ा नहीं हो सकता किन्तु तीनों एक साथ होने पर एक दूसरे के सहारे खड़े भी हो जाते हैं और अपने ऊपर भारी बोझ भी लाद देते हैं। इनमें किसी का अस्तित्व न तो स्वतन्त्र है और न इन तीनों में कोई पाँव अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार राज्य के सप्तांग भी परस्पर सम्बद्ध हैं। इनमें परस्पराश्रितता का सम्बन्ध है। इन सात अंगों में से ऐसा कोई भी नहीं है जो दूसरे के बिना अपना अस्तित्व बनाये रखे। सभी एक दूसरे पर समान रूप से आश्रित एवं अवलम्बित हैं।[3] इनमें किसी से न किसी को छोटा माना जा सकता है और न किसी से किसी को बड़ा। सबका अपने स्थान पर अपना कार्य और अपनी स्थिति समान महत्त्व की है।

---

१. याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय ३५३।

२. महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय ६९ श्लोक ६२-६३

आत्मात्यश्च कोशश्च दण्डो मित्राणि चैव हि ॥
तथा जनपदश्चैव पुरं च कुरुनन्दन।
एतत्सपुतात्मकंराज्यं परिपाल्यं प्रयत्नतः ॥

३. सप्ताङ्गस्येह राज्यस्य विष्टब्धस्य त्रिदण्डवत्।
अन्योन्यगुणवैशेष्यान्न किंचिदतिरिच्यते ॥ मनु०, ९. २९६,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त

राज्य के स्वरूप के साथ ही मनु ने राज्य की उत्पत्ति का भी वर्णन किया है। राज्य की उत्पत्ति के अनेक सिद्धान्त माने जाते हैं किन्तु यहाँ केवल एक ही सिद्धान्त को महत्त्व दिया गया है और वह है 'राजा की उत्पत्ति का देवी सिद्धान्त'। धर्म शास्त्रों में राजतंत्रवाद को अधिक महत्त्व दिया गया है अतः राजा की उत्पत्ति से ही राज्य की उत्पत्ति की व्याख्या करने का प्रयास किया गया है। राजा की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए मनु ने कुछ पूर्व मान्यतायें जो धर्मशास्त्रों के आधारभूत है, को स्वीकार किया है। उनका कहना है कि मानव स्वभाव देवी और आसुरी वृत्तियों का समुच्चय है। देवी और आसुरी वृत्तियों का परस्पर संवर्ष होता रहता है जिसे देवासुर संग्राम कहा गया है। देवी वृत्तियां शान्त और कल्याण कारी होती हैं तथा इसके विपरीत आसुरी वृत्तियाँ उग्र, वेगवती और अकल्याण· कारी होती हैं तथा मनुष्य में विकार उत्पन्न करती रहती हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य अपने कर्त्तव्य मार्ग से च्युत हो जाता है। इन दोनों वृत्तियो के संवर्ष में जब दैवी वृत्ति की विजय होती है तब समाज सुव्यवस्थित, आत्म नियन्त्रित एवं धर्म नियन्त्रित होकर बिना किसी शासक, व्यवस्थापक या राजा के भी चल जाता है किन्तु जब आसुरी शक्तियाँ प्रबल होती हैं तब समाज में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है, हिंसा और प्रतिहिंसा बढ़ने लगती है। अन्याय का सम्राज्य हो जाता है। जो सबल होता है उसे सब कुछ मिल जाता है और जो दुर्बल होता है उसका जीना भी दुर्लभ हो जाता है। ऐसी स्थिति में बिना राजा के समाज में व्यवस्था का होना सम्भव नहीं लगता है।

राजा की आवश्यकता के सम्बन्ध में धर्मशास्त्रों में उक्त दोनों दृष्टियां स्पष्ट दीखती हैं। जहां यह कहा गया है कि एक समय था जब न राजा था न नियम न कानून, न दण्ड, न दण्ड व्यवस्था। सभीलोग परस्पर स्नेह, सद्भाव और सहयोग से सुखी और सानन्द जीवन व्यतीत करते थे। उस समय सब लोग आत्मनियंत्रित या धर्मनियंत्रित होकर अपने अधिकार के भीतर रहते हुए अपने कर्त्तव्य का पालन करते थे और किसी दूसरे के अधिकार में किसी प्रकार कार हस्तक्षेप नहीं करते थे।[1] यह स्थिति

१. महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय ५९, श्लोक १४
नैव राज्यं न राजासीन्न दण्डो न च दण्डिकः। यत्र धर्मस्तथेवार्थः
कामश्चेवानुवर्णितः॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निश्चय ही देवी वृत्तियों की विजय प्रतीक है। क्योंकि देवी प्रवृत्तियों के विजय में देवी सम्पदा का विकास होता है। देवी सम्पदा की चर्चा करते हुए गीता[1] में कहा गया है कि अभय, सत्व संशुद्धि, ज्ञान तथा योग की व्यवस्था, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, ऋजुता, अहिंसा सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, अपैशुन, प्राणियों के प्रति दया, अलोलुपता, मृदुता लज्जा, अचपलता, तेज, क्षमा, धैर्य, सोच, अद्रोह एवं अतिमानिता का न होना आदि देवी सम्पदा हैं और जो लोग देवी प्रवृत्ति से सम्पन्न होते हैं उनमें ये वृत्तियाँ स्वभाव से उदित हो जाती हैं किन्तु जो लोग आसुरी प्रवृत्ति से सम्पन्न होते हैं इनमें दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता तथा अज्ञान की स्वाभाविक वृद्धि और विकास होता है।[2] धर्मशास्त्रों में जब उस समाज का वर्णन किया गया है जिसमें राजा अवश्य हो गया था, तो वह समाज निश्चय ही आसुरी वृत्ति के विजय वाला समाज रहा होगा।[3]

राजा की उत्पत्ति

मनु का कहना है कि समाज में एक समय ऐसा आ गया था जब राजा नहीं था और राजा के अभाव में समाज में अन्याय और अनाचार चरम-सीमा पर बढता जा रहा था। सबल लोगों का साम्राज्य था, दुर्बल, असहाय तथा भयातुर थे। अत्याचार पर कोई रोक नहीं था। अत्याचारियों एवं दुष्टों के भय से पीड़ित प्रजा इधर-उधर भागती रहती थी। इसीलिए ईश्वर ने सम्पूर्ण चराचर की रक्षा के हेतु राजा की सृष्टि की। राजा-व्यवस्था स्थापित करने के लिए ईश्वर द्वारा भेजा गया अतः उसे साधारण नागरिकों से श्रेष्ठ माना गया और सबको अपने अंकुश में रखने का अधिकार तथा सामर्थ्य भी उसे ईश्वर से ही प्राप्त हुआ। राजा की उक्त विशिष्टता के कारण का संकेत करते हुए मनु का कहना है कि ईश्वर ने इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और कुबेर का सारभूत नित्यअंश

---

१. गीता, १६. १-३

२. गीता, १६. ४

३. महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय ६७, श्लोक १७
अराजकाः प्रजाः पूर्वं विनेशुरिति नः श्रुतम्।
परस्परं भक्षयन्तो मत्स्या इव जले कृशानु॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकर राजा की सृष्टि की है।[1] राजा इन्द्र आदि सब देवों के नित्य अंश से बनाया गया है। इसलिए वह अपने तेज शक्ति एवं प्रभाव से सब जीवों को पराजित करता है। इस राजा की ओर जो लोग दृष्टि उठाकर देखना चाहते हैं उनके नेत्र तथा मन को यह सूर्य के समान संतप्त करता है अतः पृथिवी पर कोई भी इसकी ओर दृष्टि उठाकर देखने का साहस नहीं कर सकता।[2]

राजा की विशेषताओं की चर्चा करते हुए याज्ञवल्क्य का कहना है कि राजा को महान उत्साही, अत्यन्त धन देने वाला, कृतज्ञ, विनीत वृद्धों की सेवा करने वाला, सत्वसम्पन्न, कुलीन, सत्य वचन बोलने वाला, पवित्र, आलस्य रहित, स्मरण रखने वाला, सद्गुणी, दूसरों का दोष न कहने वाला, धार्मिक मृगया आदि व्यसन न करने वाला, बुद्धिमान, वीर, रहस्य को छिपाने में चतुर अपने राज्य के प्रवेश द्वारों को गुप्त रखने वाला, आन्वीक्षिकी, दण्ड नीति एवं वार्ता आदि विद्याओं में परांगत होना चाहिए।[3]

राजा के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि राजा भले बालक हो किन्तु उसे एक मर्त्य मनुष्य के रूप में समझना भारी भूल है। वह इस मर्त्य शरीर में ईश्वर है। राजा के पक्ष में भाग्य और विजय के देवता वसा करते हैं और उसके क्रोध में यम और मृत्यु का निवास है। वह देवों के नित्यअंश से निर्मित होने के कारण अपने प्रभाव से अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, धर्मराजन्, कबेर और महेन्द्र रूप है।[4]

१. अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः॥
इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रावित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः॥ मनु, ७.३,४

२. यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा॥
तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम्॥ मनु, ७.५,६

३. याज्ञवल्क्य स्मृति, आचाराध्याय, ३०९-३११

४. सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट्।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः॥
बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति॥ मनु, ७.७,८,११

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजा का कर्त्तव्य

राजा को इन्द्र, सूर्य, वायु, यम, वरुण, चन्द्रमा, अग्नि तथा पृथ्वी के तेज का आचरण करना चाहिए। जिस प्रकार इन्द्र श्रावण आदि चार मासों में जल बरसाता है उसी प्रकार इन्द्र के व्रत का आचरण करता हुआ राजा अपने राज्य में आये हुए साधु महात्माओं की इच्छाओं को पूरा करे। जिस प्रकार सूर्य अगहन आदि आठ मासों में अपने किरणों द्वारा जल का हरण करता हैं उसी प्रकार राजा राज्य से सदा कर (टैक्स) लेता रहे। जिस प्रकार वायु सब प्राणियों में प्रवेश कर विचरण करता रहता है उसी प्रकार राजा को अपने गुप्तचरों द्वारा सर्वत्र प्रवेश कर विचरण करता रहता है उसी प्रकार राजा को अपने गुप्तचरों द्वारा सर्वत्र प्रवेश कर विचरण करना चाहिए। जिस प्रकार यमराज समय आने पर प्रिय-अप्रिय सभी को मार डालता है उसी प्रकार राजा प्रिय-अप्रिय का भेद किए बिना अपराध करने पर सब प्रजा को दण्डित करे। जिस प्रकार बन्धन योग्य मनुष्य को वरुण अपने पास में बांध लेता है उसी प्रकार राजा को चाहिए कि वह पापियों और अपराधियों को तब तक बन्धन में रखे जबतक वह सन्मार्ग पर न आ जायें। जिस प्रकार परिपूर्ण चन्द्रमा को देखकर मनुष्य हर्षित होते हैं उसी प्रकार राजा को इतना आह्लादकारी होना चाहिए जिससे उसकी प्रजा और अमात्य उसे देखकर सदा हर्षित होते रहें। जिस प्रकार अग्नि अपने प्रचण्ड तेज में सबको नष्ट कर डालती है उसी प्रकार राजा को पापियों और अपराधियों को दण्डित करने में प्रचण्ड और असह्य तेज वाला होना चाहिए तथा प्रतिकूल व्यवहार करने वाले मंत्री आदि के बध करने में भी किसी प्रकार का संकोच नहीं करना चाहिए। जिस प्रकार पृथिवी सब प्राणियों को समान भाव से धारण करती है उसी प्रकार राजा को सब प्रजाओं का पालन समान भाव से करना चाहिए। राजा को सदा आलस्य हीन होकर इन उपायों से तथा अपनी बुद्धि से निर्धारित अन्य उपायों से अपने राज्य में रहने वाले चोरों से तथा दूसरे राज्य में रहते हुए, अपने राज्य में जाकर चोरी करने वाले चोरों से देश की रक्षा करे तथा इन चोरों का निग्रह करे।[1] राजा को चाहिए कि प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर

---

१. मनु, ९.३०३-३१२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऋग्यजु साम के ज्ञाता तथा नीतिशास्त्र के विद्वान ब्राह्मणों की सेवा करें और उनके शासन में रहे और उनके निर्देशों के अनुसार कार्य करे। उसे ज्ञान तथा तप से वृद्ध वेद के ज्ञाता शुद्ध हृदय वाले ब्राह्मणों की नित्य सेवा करनी चाहिए। उन ब्राह्मणों से उसे विनय की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए क्योंकि विनययुक्त राजा का विनाश नहीं होता। राजा को चाहिए कि वह सदा त्रेयी विद्या, दण्डनीति विद्या, आन्वेक्षिकी विद्या तथा वार्ताविद्या का ज्ञान प्राप्त करता रहे। राजा को चाहिए कि वह अपने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिए सदा प्रयत्नशील रहे क्योंकि जितेन्द्रिय राजा प्रजाओं को वश में रखने के लिए समर्थ होता है। राजा को चाहिए कि वह काम-जन्य दस और क्रोधजन्य आठ और अन्य दुःखदायी व्यसनों को प्रयत्नपूर्वक त्याग कर दे। कामजन्य दस व्यसनों में मृगया, जुआ, दिन में सोना, पराए की निन्दा, स्त्री में अत्यासक्ति, मद, नाच गाने में अत्यासक्ति तथा व्यर्थ भ्रमण की गणना की गई है। क्रोधजन्य आठ व्यसनों मे चुगलखोरी, दुःसाहस, द्रोह, ईर्ष्या, असूया, अर्थदोष, कठोर वचन तथा कठोर दण्ड की जाती है। उक्त दोनों व्यसनों का मूल लोभ को माना गया है इसलिए राजा को चाहिए कि वह लोभ का परित्याग करे।[1]

राजा के लिए यह बार-बार निर्देश दिया गया है कि वह उक्त प्रकार के सभी व्यसनो से अपने को बचावे, क्योंकि व्यसन और मृत्यु में व्यसन अधिक कष्टदायी होता है। व्यसनी व्यक्ति मरकर निम्न-निम्न नरकों में जाता है। किन्तु अव्यसनी राजा मरकर स्वर्ग में जाता है।[2] राजा को चाहिए कि वह अप्राप्त को पाने की इच्छा करे, प्राप्त वस्तुओं की यत्न-पूर्वक रक्षा करे, रक्षा की हुई वस्तुओं को उचित रूप से बढ़ावे और बढ़ाए हुए द्रव्यादि को सत्पात्रों को दे।[3]

उक्त निर्देशों से यह स्पष्ट है कि राजा अपने आप को कठोर आत्म नियंत्रण में प्रशिक्षित करना पड़ता था जिससे उसे राष्ट्र के कार्य सम्पादन

---

१. मनु, ७ ३७ ४२

२. व्यसनस्य च मत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते ।
व्यसन्यधोऽधो व्रजति स्वर्यात्यव्यसनी मृतः ।। मनु, ७. ५३,

३. अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः ।
रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निपेक्षित् ।। मनु, ७.९९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की सही दृष्टि प्राप्त हो सके। वह अपने को वेदाध्ययन और ध्यान के द्वारा आध्यात्मिक दृष्टि से सम्पन्न करता था जिससे वह अपने कर्तव्यों का समुचित पालन कर सके।

राजा पर धर्म का नियंत्रण

धर्मशास्त्रों के समाज-दर्शन में राजा को पूर्ण और निरपेक्ष, शक्ति और अधिकार प्राप्त हैं किन्तु फिर भी वह निरंकुश और अनियंत्रित नहीं है, उस पर धर्म या नियम का नियंत्रण है जिसका उल्लंघन कोई भी राजा कभी भी नहीं कर सकता है। वास्तव में राजा को प्राप्त होने वाली शक्ति और अधिकार देवी शक्ति के धर्मदण्ड[1] का एक प्रतिबिम्ब मात्र है जिसका वह उपयोग और प्रयोग करता है। मनु ने यह स्पष्ट किया है कि राजा की कार्य सिद्धि के लिये भगवान ने सम्पूर्ण प्राणियों के रक्षक ब्रह्मतेज मय धर्मस्वरूप अपने पुत्र दण्ड की सृष्टि की।[2] वास्तव में राजा राजा नहीं है धर्मदण्ड के अधीन है। धर्मदण्ड ही वास्तविक राजा है। वही नेता है, वही शासन करने वाला है और वह दण्ड ही सभी आश्रमों का तथा धर्म का प्रतिभू कहा जाता है। दण्ड ही सब प्रजाओं का शासन करता है दण्ड ही सबकी रक्षा करता है दण्ड ही सबके सोते रहने पर जागता है। दण्ड को विद्वान लोग धर्म मानते हैं।[3] अतः राजा को भी इस दण्ड के अधीन रहना पड़ता है।

राजनैतिक प्रभुसत्ता

धर्मशास्त्रों को देखने से ऐसा लगता है कि राका एक ओर धर्म या आचार के नियमों के अधीन है और दूसरी ओर वह अपने प्रजा के या

---

१. धर्मदण्ड का अनुवाद सजा या दण्ड करना भ्रामक है, धर्म शब्द का अर्थ हैं, निबम और दण्ड का अर्थ है छड़ी या डण्डा। इस प्रकार धर्मदण्ड का अर्थ है नियम या कानून की छड़ी। फुटनोट--मोटवानी, मनुधर्मशास्त्र, पृ० १३८।

२. तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्।
ब्रह्मतेजोममं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः ॥ मनु, ७. १४,

३. स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ॥
दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥ मनु, ७. १७, १८,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जनता के अधीन उसे यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि उसे जो शक्ति और अधिकार प्राप्त हुआ है वह जनता से ही प्राप्त हुआ है उसे अपने अधिकार और शक्ति का प्रयोग उसी सीमा तक करना चाहिए जिस सीमा तक जनता उसकी आज्ञाओं का पालन सहर्ष कर सके। जो राजा मोहवश अपने प्रजा का दमन करता है और राज्य की देखरेख न करके अपने स्वार्थ साधन के लिए केवल धन संग्रह करता है उस राजा को अपना जीवन और राज्य दोनों से हाथ धोना पड़ता है। जिस प्रकार शरीर के क्षीण होने से प्राणियों का प्राण क्षीण होने लगता है उसी प्रकार वह राजा जो प्रजा को केवल कष्ट देता है, नष्ट हो जाता है। इस वर्णन से यह लगता है कि मनु कुछ सीमा तक जनता के अधिकार और राजनैतिक प्रभुसत्ता को स्वीकार करते हैं। जनता को अधिकार है कि राजा उनकी सब प्रकार से रक्षा करे। राजा के प्रति जनता की भक्ति तभी तक है जब तक वह अपने रक्षात्मक कार्य का सम्यक् सम्पादन करता है। जो राजा उचित शासन करता है वह सरलता से उन्नति प्राप्त कर लेता है।[1]

इससे यह स्पष्ट होता है कि जन कल्याण या जन सुख की अभिवृद्धि तभी सम्भव है जबकि राजा अत्यन्त विवेकशील एवं विधारक हो। वह अपने नियम का और धर्म का अभिरक्षक समझे। जनता की प्रमुखता को स्वीकार करे और उनके कल्याण की रक्षा करे। वह धर्म और नियम से ऊपर नहीं है। राजा और प्रजा का सम्बन्ध पराश्रितता का सम्बन्ध है अर्थात् राजा तभी राजा है जब वह प्रजा का हित साधन करता है और प्रजा तभी तक राजा की आज्ञाओं को पालन करने के लिए बाध्य है जब तक राजा जनहित और राष्ट्र हित में कार्य करता है।[2]

धर्मशास्त्रों के समाज-दर्शन के प्रसंग में राज्य के स्वरूप की चर्चा

---

१. मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया।
सोऽचिराद् भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः॥
शरीरकर्षणात्प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा।
तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात्॥
राष्ट्रस्य सङ्ग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत्।
सुसंगृहीतराष्ट्रो हि पार्थिवः सुखमेधते॥ मनु, ७, १११-११३

२. मोटवानी, मनु धर्मशास्त्र, पृष्ठ १३९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते हुए मोटवानी ने एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठा है। उनका कहना है कि धर्मशास्त्रों में वर्णित राजतंत्र, धर्मतन्त्र (थियोक्रेसी) जैसा कि राजनीति शास्त्र का विद्यार्थी आजकल थियोक्रेसी का अर्थ समझता है, नहीं है। क्योंकि राजा यद्यपि देवी शक्ति सम्पन्न है फिर भी यह देवी शक्ति सम्पन्नता उसे धर्म का प्रमुख या नियन्ता नहीं बना पाती और धनतन्त्रता के लिये यह एक प्रारम्भिक शर्त है कि राजा धर्म का भी प्रमुख हो। धर्मशास्त्रों में राजा एक और अपने मन्त्री परिषद्, न्याय पालिका तथा विधायिका में विद्यमान विद्वान ब्राह्मणों के निर्देश मानने के लिये वाध्य है और दूसरी ओर धर्म नियमों से पूर्णरूप ये नियन्त्रित है प्रो० मोटवानी की यह धारणा है कि राज्य सम्बन्धी मनु की अवधारणा संघीय व्यवस्था (फेडरेलिज्म) के अनुसार है। इसी के आधार पर राजनैतिक और सामाजिक जीवन के संगठनों का निर्माण हुआ है। मनु निर्देश के अनुसार राजा का स्वरूप आधुनिक जनतन्त्र के राष्ट्रपति के तुल्य है। उसमें केवल इतता भेद है कि राजा एक सुसंस्कृत और आध्यात्मिक संवेदना से युक्त व्यक्ति होता है।[1]

राजा के दैनिक कार्यक्रम

अपती प्रजा के पालन रूप कर्त्तव्य को भलीभांति सम्पादित करने के लिए राजा को चाहिए कि यह अपना दैनिक कार्यक्रम निर्धारित कर समस्त कार्यों का सम्पादन करे। उसके दैनिक कार्यो का निर्देश करते हुए मनु ने निम्न प्रकार कार्यक्रमों का सकेत किया है।[2] राजा के प्रातःकालीन कार्यो में[3] स्नान, ध्यान, अध्ययन, पूजा, हवन, सभा में प्रवेश कर वहां स्थित प्रजाओं को उचित प्रकार सन्तुष्ट कर विसर्जित करना। अपने मंत्री परिषद् से मंत्रणा करना, राजदूत एवं गुप्तचरों से विचार विमर्श करना जिससे राज्य के वाह्य कार्यों की आवश्यक सूचना प्राप्त हो सके, अपने सेनापति से सैनिक कार्यों में मुख्य रूप से निम्नलिखित का निर्देश किया गया है :—व्यायाम, स्नान, विश्राम, तथा गृहकार्य का अवलोकन, सेना और युद्ध सम्बन्धी कार्यो का निरीक्षण, सन्ध्यावन्दन, गुप्त सेवा विभाग के साथ, परामर्श, संगीत वाद्य आदि आमोद-प्रमोद और विश्राम आदि।

१. मोटवानी, मनु धर्मशास्त्र, पृष्ठ १४०
२. मनुस्मृति, ७. १४५-२२६
३. मोटवानी, मनु धर्मशास्त्र, पृष्ठ १४०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजा के सहायक अधिकारी एवं संस्था

धर्मशास्त्रों में राज्य के कार्य की विविधता, गम्भीरता और व्यापकता को देखते हुए एकमात्र राजा के लिए समस्त कार्यों का सम्पादन असम्भव माना गया है।[1] और उसे निर्देश दिया गया है कि अपने राज्य के समस्त कार्यों के सम्यक् सम्पादन के लिए विभिन्न प्रकार के अधिकारियों की नियुक्ति कर अपने कार्यों में उनसे सहायता ले। राजा के कार्य में सहयोग करने वाले प्रमुख अधिकारियों को निम्नलिखित वर्गों में रखा जा सकता है—मन्त्री या मन्त्री परिषद्, सरकारी सेवा (सिविल सर्विस), राजदूत, गुप्तचर, सेनाधिकारी, स्थानीय अधिकारी (लोकल आफिसर), न्यायाधिकारी तथा विधायिका सम्बन्धी अधिकारी।

मन्त्री परिषद्

राजा के कार्यों में सहायता करने वाली प्रमुख संस्था मंत्री परिषद् है। इसलिए मन्त्री परिषद् का उल्लेख सप्तांग के अन्तर्गत भी किया गया है। ईमानदार और राज्यभक्त मन्त्रियों की सहायता, सहयोग, निर्देश एवं राय के बिना राजा के लिए राज्य का शासन एक असम्भव कार्य है। मनु ने यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि जो कार्य सरल होता है वह भी एक व्यक्ति के लिए दुष्कर हो सकता है। विशेषकर महान फल देने वाले राज्य जैसे संस्था का कार्य अकेले राजा के लिए साध्य नहीं हो सकता। इसलिए राजा को निर्देश दिया गया है कि अपने कार्य में सहायता लेने के लिए वह विभिन्न विशिष्ट गुणों से युक्त मन्त्रियों को नियुक्त करे।

मन्त्री परिषद् की संख्या

मंत्री परिषद् के सदस्यों की संख्या के सम्बन्ध में मनु ने एक स्थान पर यह स्पष्ट निर्देश दिया है कि मन्त्रियों की संख्या सात या आठ होनी चाहिए।[2] किन्तु राज्य कार्य की विविधता को देखते हुए इस संस्था पर

१. सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना ।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥
अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ।
विशेषतोऽसहायेन किन्तु राज्यं महोदयम् ॥ मनु०, ७. ३०, ५५

२. मौलाच्छास्त्रविदः शूरांल्लब्धलक्षान्कुलोद्भवान् ।
सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥ मनु०, ७.५४,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक निश्चित प्रतिबन्ध लगाना मनु को उचित नहीं लगता। इसलिए मनु ने यह भी संकेत किया है कि मन्त्रियों की संख्या कार्यों के संख्या पर आधारित होना चाहिए। जितने व्यक्तियों से राज्य का कार्य सुचारु रूप से चल सकता हो, उतने विशेषज्ञों को मन्त्री के पद पर नियुक्त किया जाना चाहिए।[1]

मन्त्री परिषद् के सदस्यों की योग्यता

मनु जिस किसी व्यक्ति को मंत्री नियुक्त करने के पक्ष में नहीं हैं। उनके अनुसार मंत्री होने के लिए कुछ विशिष्ट शारीरिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक गुणों का होना अत्यन्त आवश्यक है। मंत्री परिषद् के सदस्यों की योग्यता का निर्देश करते हुए मनु ने वंश परम्परा को भी एक विशेष स्थान दिया है उनके अनुसार मंत्री नियुक्त करते समय राजा को चाहिए कि उन लोगों को मंत्री नियुक्त करने में वरीयता दे जिनके पूर्वज पहले मंत्री के पद पर कार्य कर चुके हों, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि मंत्री होने के लिए किसी वंश परम्परा में उत्पन्न हो जाना ही पर्याप्त है। जिस व्यक्ति को मंत्री के पद पर नियुक्त किया जाना है उनके शारीरिक, बौद्धिक और अनुभव का स्तर भी सामान्य व्यक्ति से ऊँचा होना चाहिए। उसे पूर्ण रूप से परिलक्षित करके ही मंत्री पद पर नियुक्त किया जाना चाहिए। उसकी परीक्षा में उसके शास्त्रज्ञान, उसकी शूरता, शस्त्र चलाने में उसकी निपुणता और अच्छे वंश में उसकी उत्पत्ति आदि का विशेष रूप से विचार किया जाना चाहिए। क्योंकि राज्य के कार्य को देखते हुए मंत्री पद पर नियुक्त होने वाले व्यक्ति में विशिष्ट गुणों का होना आवश्यक है जिससे वह राज्य के गुरुतर कार्यों का निर्वाह कर सके। और व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की गुत्थियों को सुलझाने में समर्थ हो सके।

प्रजा का रंजन राज्य का महान् कर्त्तव्य है। इसके सम्पादन के लिए राज्य को अनेक योजनाओं का कार्यान्वयन करना पड़ता है किन्तु इन लाभकारी एवं कल्याणप्रद योजनाओं का सफल कार्यान्वयन तभी सम्भव है जब इनके कार्यान्वयन के लिए क्रियाकुशल, ईमानदार, दृढ़ संकल्प और चरित्रवान व्यक्ति हों। इसीलिए मनु ने मंत्रियों की उक्त योग्यताओं के

१. निर्वर्तेतास्य यावद्भिरितिकर्तव्यता नृभिः।
तावतोऽतन्द्रितान्दक्षान्प्रकुर्वीत विचक्षणान्॥ मनु०, ७.६१,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ-साथ उनकी शुचिता, बुद्धिमता, स्थिरचित्तता एवं न्यायप्रियता को विशेष महत्त्व दिया है।[1] मंत्रियों की शुचिता में वंश परम्परा की शुचिता के साथ-साथ अर्थ की पवित्रता पर विशेष बल दिया गया है कि मंत्री यदि किसी प्रकार आर्थिक दृष्टि से अपवित्र होगा या घूसखोर होगा तो राज्य का कार्य समुचित रूप से सम्पादित नहीं हो सकेगा। इसके साथ ही साथ मंत्री में स्थिर चित्तता का होना भी अत्यन्त आवश्यक है। राज्य के कार्य में अनेक ऐसे अवसर आते है जिसमें विषमता का होना स्वाभाविक है। ऐसे विषम अवसरों पर यदि मन्त्री घबड़ा जाए तो राज्य का सर्वनाश हो सकता है। इसलिए मन्त्री को स्थिर-चित्त होना अत्यन्त आवश्यक है। राज्य के कार्य एक निश्चित एवं निर्धारित यान्त्रिक कार्यक्रम के द्वारा सदैव सम्भव नहीं है उसमें हर समय उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ, हानि-लाभ के विवेचन की आवश्यकता रहती है। इसलिए मनु ने मन्त्रियों की योग्यता में प्रज्ञा को विशेष स्थान दिया है क्योंकि प्रज्ञावान् व्यक्ति समस्त द्वन्दों में सन्मार्ग को निश्चित करने में समर्थ हो जाता है। राज्य के कार्य में अर्थ का विशेष महत्त्व होता है किन्तु अर्थ संग्रह यदि अन्याय पूर्वक होने लगता है तो प्रजा राजा से असन्तुष्ट हो जाती है और राज्य का गौरव घटने लगता है। इसलिए मनु ने मंत्रियों की योग्यता में न्यायपूर्वक धन-धान्य संग्रह करने की योग्यता एवं क्षमता को एक आवश्यक गुण माना है जिससे राज्य को अपने कार्य संचालन के लिए समुचित अर्थ संग्रह भी हो जाय और प्रजा में उस अर्थ संग्रह के कारण असन्तोष भी न फैल सके।

मंत्रियों से परामर्श के विषय

मनु ने मंत्रियों से परामर्श किए जाने वाले विषयों की ओर भी संकेत किया है। इन विषयों में षाड्गुण्य (सन्धि, विग्रह, आसन, यान, संश्रय और द्वैधीभाव), स्थान (दण्ड, कोष, पुर और राष्ट्र), समुदय (धान्य हिरण्यादि के उत्पत्ति स्थान), गुप्ति (आत्मरक्षा और राष्ट्र रक्षा), और लब्ध प्रशमन (प्राप्त धन के सत्पात्र द्वारा व्यवस्था) आदि प्रमुख हैं। इन विषयों पर मनु ने राजा को मंत्रियों से अकेले या संयुक्त रूप से परामर्श

---

१. अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन्प्राज्ञानवस्थितान्।
सम्यगर्थसमाहर्तॄनमात्यान्सुपरीक्षितान्। मनु०, ७.६०,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेने का निर्देश दिया है। और यह भी संकेत किया है कि राजा योग्य मन्त्रियों पर उनके परामर्शानुसार कार्य करने का भार भी सौंप सकता है। यदि वह चाहे तो उनसे परामर्श लेकर अपने निश्चयानुसार स्वयं ही कार्य का सम्पादन कर सकता है। मनु ने यह भी निर्देश दिया है कि समस्त मन्त्रियों में विद्वान धर्मादि से युक्त विशिष्ट गुणवाले एक ब्राह्मण मन्त्री से राजा को अत्यन्त गुप्त विषयों पर विशेष रूप से परामर्श कर लेना चाहिए।[1]

अन्य पदाधिकारी

राजा अपने राज्य के विषय कार्यों के सम्पादन के लिए मंत्री परिषद के सदस्यों में से अथवा अन्य योग्य नागरिकों में से विभिन्न प्रकार के पदाधिकारियों की नियुक्ति करता है। इन पदाधिकारियों में अर्थ संग्रह करने वाले, धन धान्य के रक्षण करने वाले, महल और रनिवास के व्यवस्था करने वाले अधिकारियों का प्रमुख स्थान हैं। इनके अतिरिक्त राजा के लिए यह निर्देश है कि वह सब शास्त्रों के विद्वान, इंगित, आकार और चेष्टा के द्वारा अन्तर्भाव को समझने वाले शुद्ध हृदय तथा कुलीन एवं चतुर व्यक्तियों को दूत के पद पर नियुक्त करे। राजदूतों में अनुरक्त शुद्ध हृदय वाला चतुर स्मरण शक्ति वाला देश और काल का जानकार, सुन्दर रूप वाला, निर्भय और अच्छा वक्ता, राजदूत श्रेष्ठ माना गया है। दूतोंके अतिरिक्त राजा को अपनी सेना के लिए सेनापति की नियुक्ति करनी चाहिए और सेनापति के अधीन सभी प्रकार की सेना (हाथी, घोड़ा, रथ और पैदल) को रखना चाहिए। इसी प्रकार राजा को चाहिए कि वह धार्मिक कार्य के लिए पुरोहित, कर वसूल करने वाले अधिकारी, अन्य विविध कार्यों के अध्यक्ष, ग्रामपति दस ग्रामपति, बीस ग्रामपति, शत ग्रामपति एवं सहस्र ग्रामपति की नियुक्ति कर उनके द्वारा ग्रामों का सम्यक् शासन करे।[2]

न्याय पालिका

राज्य के कार्यों में व्यक्तियों के बीच तथा वर्गो के बीच होने वाले विवादों का निपटारा अत्यन्त प्रमुख कार्य है। धर्मशास्त्रों के समाज-दर्शन

१. मनु०, ७ ५६-५९,
२. मनु०, ७. ६०, ६२-६५, ७८, ८१, ११५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में इस प्रकार के न्याय सम्बधी समस्त कार्यों का सम्पादन राजा को करना होता है क्योंकि इस प्रकार के राज्य व्यवस्था में न्याय पालिका का प्रमुख भी राजा ही होता है। अपने न्याय सम्बन्धी कार्यों में सहायता लेने के लिए राजा को निर्देश दिया गया है कि वह न्याय कार्य को देखने के लिए नियम में दक्ष विद्वान् ब्राह्मण को नियुक्त करें और उसकी सहायता से न्याय सम्बन्धी कार्यों का निपटारा करे। इस कार्य के लिए पूर्वपीठिका की संरचना के लिए तीन विद्वान ब्राह्मणों को नियुक्त करने का निर्देश दिया गया है जिसे सभा की संज्ञा दी गई है[1]। न्यायाधीशों के लिए मनु ने यह निर्देश दिया है कि उन्हें धर्मआसन पर बैठकर शरीर को ढंककर एकाग्रचित्त होकर लोकपालों को प्रणाम कर न्याय के कार्य का देखभाल करना चाहिए। उनकी जानकारी के सम्बन्ध में मनु का कहना है कि उन्हें अर्थ तथा अनर्थ धर्म तथा अधर्म की भलीभांति जानकारी होनी चाहिए और इस जानकारी के आधार पर वादी और प्रतिवादी के वर्ण धर्म का आंकलन कर उनके वाद की सुनवाई करनी चाहिए। इन न्यायाधीशों में ऐसी क्षमता होनी चाहिए जिससे वे बाहरी चिन्हों से जैसे --स्वर, वर्ण, इंगित, आकार और चेष्टाओं से मनुष्यों के भीतरी भावों को भलीभांति समझ सकें क्योंकि आकार, इंगित, गमन, चेष्टा, नेत्र और मुँह के विकारों से मनुष्यों के भीतरी भाव जाने जा सकते हैं।[2]

न्याय सम्बन्धी मुकदमों (वादों) का वर्गीकरण

धर्मशास्त्रों में न्याय सम्बन्धी मुकदमों को 'व्यवहार' नाम से सम्बोधित किया गया है। मनु ने व्यवहार को मुख्य रूप से अठारह वर्गों में विभक्त कर उसपर निर्णय करने का निर्देश दिया है। व्यवहार के अठारह वर्ग के विचार के समय देश, जाति, कुल, साक्षी, द्रव्य आदि समस्त कारणों पर पूर्णरूप से विचार कर निर्णय करने का विधान किया गया है। व्यवहार या वाद के अठारह वर्ग निम्नलिखित है—ऋण लेना, धरोहर, किसी वस्तु या भूमि का स्वामी न होने पर भी बेच देना, अनेक व्यक्तियों का संयुक्तरूप से मिलकर कार्य करना, दान आदि में दी गई सम्पत्ति या किसी वस्तु को क्रोध, लोभ या अपात्रता के कारण वापस ले लेना, नौकरों का वेतन या

१, मनु०, ८. ९-११
२. मनु०, ८. २३-२६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मजदूरों की मजदूरी नहीं देना, पूर्व निर्णित व्यवस्था को नहीं मानना, क्रय-विक्रय में विवाद उपस्थित होना, स्वामी तथा पालक में परस्पर विवाद होना, सीमा के विषय में विवाद होना, दण्ड पारुष्य (अधिक मारपीट करना), वाक् पारुष्य (अनधिकार गाली आदि देना), चोरी करना, अतिसाहस करना (डाका डालना, आग लगाना आदि), स्त्री का पर पुरुष के साथ सम्बन्ध करना, स्त्री पुरुष का धर्म, पैतृक धन सम्पत्ति आदि का बंटवारा करना, जुआ खेलना या द्रव्यादि रखकर (बाजी लगाकर) पशु, पक्षी आदि को लड़ाना।[1]

व्यवहार के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य में सर्व प्रथम साधारण और असाधारण व्यवहार मातृका का निरूपण किया है। तत्पश्चात् ऋणदान, उपनिधि, साक्षी, लेख्य, दिव्य, दाय विभाग, सीमा विवाद, स्वामी पाल विवाद, अस्वामी विक्रय, दत्ताप्रदानिक, क्रुतानुशय, अभिपेत्याशुश्रुषा, सविद्ध-व्यतिक्रम, वेतनदान, द्यूतसमाह्वय, वाक्पारुष्य, दण्डपारुष्य, साहस, बिक्री या सम्प्रदान, संभूयसमुत्थान, स्तेय, स्त्रीसंग्रह, प्रकीर्ण आदि प्रकरणों में विभक्त कर उन सभी विषयों पर व्यापक रूप से विवेचन किया है। जिनका विवेचन विवादों को न्याय पूर्वक हल करने के लिए आवश्यक है।[2]

मनुस्मृति के आठवें अध्याय और याज्ञवल्क्य स्मृति के व्यवहाराध्याय में इन समस्त विषयों पर व्यापक रूप से विचार प्रस्तुत किया है। जो विधिशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। यहाँ यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि इसके नियम हिन्दू अधिनियम के आधार हैं जिनके आधार पर समाज की व्यवस्था आज भी चल रही है।[3]

राजा या राजपुरुष के द्वारा वाद उपस्थित करने अथवा दूसरे द्वारा उपस्थित वाद में किसी प्रकार के हस्तक्षेप करने पर न्याय की सम्भावना नहीं रह जाती है क्योंकि न्यायकर्ता यदि स्वयं वाद उपस्थित करता है तो निश्चय ही वह अपने पक्ष में न्याय करना चाहेगा। उसी

१. मनु० ८-३,७
२. याज्ञवल्क्य स्मृति। व्यवहाराध्याय, सम्पूर्ण
३. मोटवानी, मनु धर्मशास्त्र, पृष्ठ १४३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार यदि अधिकार सम्पन्न व्यक्ति किसी वाद में हस्तक्षेप करता है तो उस हस्तक्षेप से न्यायकर्ता अवश्य प्रभावित होगा और वास्तविक न्याय नहीं हो सकेगा। इसलिए मनु ने राजा तथा राजपुरुष के द्वारा किसी प्रकार के वाद उपस्थित करने का निषेध किया है। साथ ही साथ यह भी निर्देश दिया है कि राजा या राज पुरुष को किसी के वाद में किसी प्रकार का हस्तक्षेप भी नहीं करना चाहिए। राज्य का एक प्रमुख कार्य समुचित न्याय दिलाना है। जब अन्याय से न्याय पीड़ित होने लगता है, अधर्म से धर्म पीड़ित होने लगता है असत्य कहकर सत्य छुपा लिया जाता है और न्यायकर्ता विद्वान लोग धर्म न्याय एवं सत्य के बाधक शल्य को दूर नहीं कर पाते तथा असत्य पक्ष को छोड़ सत्य पक्ष को महत्त्व नहीं दे पाते तब उस अपराध के भागीदार स्वयं न्यायकर्ता भी बन जाते हैं जिस न्यायालय में न्यायाधीशों के समक्ष धर्म अधर्म के द्वारा तथा सत्य-असत्य के द्वारा पीड़ित होता है, नष्ट किया जाता है या छिपाया जाता है उस सभा के न्यायाधीश इस पाप से नष्ट हो जाते हैं। जब धर्म या न्याय नष्ट होता है तब वह सबको नष्ट कर देता है और जब धर्म या न्याय सुरक्षित रहता है तब सबकी रक्षा करता है। इसीलिए इस बात को ध्यान में रखते हुए कि नष्ट हुआ धर्म हमें अवश्य नष्ट कर देगा, धर्म को नष्ट होने से सदा बचाना चाहिए न्याय या धर्म दिव्य है जिसे वृष अर्थात् समस्त मनोभिलाषित वस्तुओं को बरसाने वाला कहा गया है अतः जो मनुष्य इसका नाश करता है या लोप करता है उसे देवता लोग वृषल (धर्म को नष्ट करने वाला) कहते हैं। अतः धर्म का नाश नहीं होने देना चाहिए। इस संसार में न्याय या धर्म ही एक ऐसा मित्र है जो मरने पर भी साथ जाता है। और सब कुछ (स्त्री, पुत्र, धन, धान्य आदि सम्पत्ति शरीर के साथ ही) नष्ट हो जाते हैं।[1]

१. धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते।
शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः॥
सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम्।
अब्रुवन्विब्रुवन्वाऽपि नरो भवति किल्बषी॥
यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः॥
धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत्॥
वृषो हि भगवान्धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम्।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत्॥ मनु०, ८. १२-१७.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विधायिका

विधायिका अथवा धर्म निर्धारण हेतु नियम बनाने वाली संस्था राज्य की एक प्रमुख शाखा है। इसका उद्देश्य पुराने नियमों की व्याख्या करना और नए नियमों का निर्माण करना होता है। विधायिका के निर्माण के लिए मनु ने निर्देश दिया है कि ऐसे बुद्धिमान ब्राह्मणों की सभा, जिन्होंने वेशभाष्यों साथ-साथ वेदों का गहन अध्ययन किया है, अपने जीवन में धर्म का सम्यक् आचरण किया है तथा जो शास्त्रप्रमाण को प्रत्यक्ष अनुभूत तर्कों द्वारा सिद्ध करने की क्षमता रखते हों, धर्म सम्बन्धी नियमों के निर्धारण करने वाली विधायिका हो सकती है। मनु इस सम्बन्ध में ऐसे सदाचारी दस ब्राह्मणों की सभा या तीन ब्राह्मणों की सभा को स्वीकृति प्रदान करते हैं। किन्तु उनके समक्ष नियम बनाने वाले व्यक्ति की योग्यता, क्षमता और सदाचार वृत्ति का महत्त्व है, व्यक्तियों की संस्था का नहीं। दस व्यक्तियों वाले परिषद् के लिए मनु ने यह स्पष्ट किया है कि तीन व्यक्ति तीनों वेदों की शाखाओं के पारंगत होने चाहिए। एक व्यक्ति श्रुति, स्मृति के अविरुद्ध न्यायशास्त्र का विशेषज्ञ होना चाहिए। एक व्यक्ति मीमांसा शास्त्र का मर्मज्ञ होना चाहिए तथा एक व्यक्ति निरुक्त शास्त्र का ज्ञाता होना चाहिए। एक व्यक्ति मनु आदि धर्मशास्त्रों का पंडित होना चाहिए तथा एक ब्रह्मचारी एक गृहस्थ और एक वानप्रस्थी इस प्रकार तीन आश्रमों के तीन व्यक्ति होने चाहिए। जहाँ तीन व्यक्तियों की परिषद् होगी वहाँ ऋग्वेद यजुर्वेद तथा सामवेद के पढ़ने वाले तथा उनके तत्त्वों को भली-भाँति समझने वाले तीन ब्राह्मणों को होना चाहिए। मनु ने यह भी निर्देश किया है कि उक्त दस की परिषद् के लिये उपयुक्त दस व्यक्तियों के उपलब्ध न होने पर अथवा तीन व्यक्तियों के परिषद् के लिए आवश्यक योग्यता रखने वाले तीन व्यक्तियों के उपलब्ध न होने पर वेद तत्त्व का ज्ञाता एक व्यक्ति भी धर्म निर्धारण के लिए नियम का निर्माण कर सकता है। किन्तु दस हजार मूर्ख मिलकर धर्म के सम्बन्ध में कोई नियम बनाने में समर्थ नहीं हो सकते। इस सम्बन्ध में स्पष्टीकरण करते हुए कुल्लूक ने यह कहा है कि केवल शास्त्र का आश्रय लेकर धर्म का निर्णय करना उचित नहीं होता क्योंकि युक्ति रहित विचार करने से धर्म की हानि होने की पूरी संभावना रहती है। इसलिए धर्म निर्धारण करने वाली परिषद् में विशेषज्ञ एक व्यक्ति, दो व्यक्ति या तीन व्यक्ति रह सकते हैं। किन्तु अपेक्षित योग्यता से रहित हजार व्यक्तियों की सभा धर्म सम्बन्धी नियम बनाने में सक्षम नहीं हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकती है। मनु ने इसे स्पष्ट रूप से निषेध किया है कि व्रतों से हीन, वेद आदि के अध्ययन से रहित, जाति मात्र से ब्राह्मण कहलाकर जीने वाले एकत्रित हजारों ब्राह्मणों की सभा विधायिका नहीं बन सकती है, और उनका बनाया हुआ नियम धर्म का निर्धारक नहीं हो सकता है। जब ऐसे लोग तमोगुण वाले हैं, मूर्ख हैं वेद और धर्म के ज्ञान से शून्य हैं, धर्म सम्बन्धी नियम बनाकर धर्म का उपदेश देते हैं तब उस व्यक्ति का पाप सौ गुना होकर उन धर्म उपदेशकों के ऊपर लग जाता है।[1]

धर्म-नियम के स्त्रोत

नियम के उद्गम के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए मनु ने चार स्रोतों का निर्देश किया है सबसे प्रथम स्रोत के रूप में मनु ने वेदों को स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि में द्वितीय स्रोत वेदों पर आधारित स्मृतिशास्त्र या धर्मशास्त्र, तृतीय स्रोत सद्पुरुषों का आचरण है और चतुर्थ स्रोत अन्तरात्मा की संतुष्टि।[2] इन चारो स्रोतों के सम्बन्ध में धर्मशास्त्रों और पुराणों में व्यापक विवेचन उपलब्ध होता है। जाबाल का कहना है कि जहां श्रुति और स्मृति में विरोध हो वहाँ श्रुति को ही महत्त्वपूर्ण स्रोत मानना चाहिए।[3] और विरोध न होने पर स्मृति को भी वेद के समान प्रमाणित मान लेना चाहिये। इस बात का समर्थन जैमिनी ने भी किया है।[4]

दण्ड

राज्य के सप्तांग में स्वामी और अमात्य के बाद दण्ड को विशेष महत्त्व दिया गया है। दण्ड एक और राजा का सहायक है और दूसरी ओर राजा से ऊपर है। क्योंकि दण्ड की सृष्टि ईश्वर ने की है। यह ईश्वर का धर्ममय पुत्र है तथा ब्रह्मतेज से अनुप्राणित है इसकी सृष्टि समस्त प्राणियों की

१– मनु०, १२. १०८–११५ तथा ११३ की कुल्लूक टीका

२– वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥ मनु, २.१२

३– अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥ कुल्लूक टीका, मनु०, २. १३,

४– जैमिनी सूत्र १, . ३. ३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रक्षा के लिए की गई है यह राजा के लिए अत्यन्त सहायक है।[१] राजा का अस्तित्व तथा राज्य की व्यवस्था दण्ड के कारण ही सम्भव है। दण्ड के भय से ही स्थावर और जंगम सभी प्रकार के जीव अपने-अपने कर्मो का फल पाने के लिये समर्थ और बाध्य होते हैं। दण्ड के कारण ही कोई प्राणी अपने धर्म का परित्याग नहीं कर पाता।[२] मनु ने यह स्पष्ट कहा है कि राजा, राजा नहीं है, अपितु दण्ड ही राजा है। और किसी में पुरुषत्व नहीं है दण्ड ही पुरुष है और उसमें ही पुरुषत्व है। इस दण्ड के अतिरिक्त सभी लोग स्त्री हैं क्योंकि दण्ड के सामने उन्हें झुकना पड़ता है। दण्ड ही नेता है क्योंकि सभी को उनके उचित कार्यों की ओर ले जाने का कार्य दण्ड ही करता है। दण्ड ही शासन करने वाला है क्योंकि उसके आदेश से ही सभी लोग अपने-अपने कर्मो में संलग्न रहते हैं। दण्ड चारो आश्रमों के धर्मो का प्रतिभू या संरक्षक या सम्पादक माना गया है। दण्ड ही समस्त प्रजाओं का शासन करता है। दण्ड ही समस्त प्रजाओं की रक्षा करता है। सबके सोते रहने पर दण्ड ही जागता है क्योंकि उसके जागते रहने से चोर आदि भयभीत होकर अपना दुष्कर्म नहीं कर पाते। इसीलिए विद्वान लोग दण्ड को ही धर्म समझते हैं।[३] इस दण्ड का प्रयोग जब सुविचारित प्रकार से होता है तो समस्त प्रजा का रन्जन होता है किन्तु जब दण्ड का प्रयोग समुचित विचार के बिना लोभ या प्रमाद से होता है तब सभी ओर विनाश ही दृष्टिगोचर होता है।[४] इसलिये मनु ने यह निर्देश दिया है कि राजा देश, काल दण्ड शक्ति और विद्या (अपराध और दण्ड का यथोचित ज्ञान)

---

१. तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः॥ मनु०, ७. १४,
याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय, ३५४

२. तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च।
भयाद्भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च॥ मनु०, ७. १५,

३. स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः॥
दण्डः शास्त्रि प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥ मनु०, ७.१७,१८,

४. समीक्ष्य स धृतः सम्यक्सर्वा रञ्जयति प्रजाः।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः। मनु०, ७.१९,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदि का समुचित विचार कर अन्याय करने वाले व्यक्तियों पर दण्ड का प्रयोग करे। अर्थात् अपराधियों को समुचित दण्ड दे।[1] यदि राजा अपने इस दण्ड प्रयोग में शिथिलता करता है और निरालस्य होकर अपराधियों को उचित दण्ड नहीं देता है तो सामाजिक व्यवस्था और राज्य व्यवस्था बिगड़ जाती है। ऐसी स्थिति में 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' की व्यवस्था चलने लगती है। बलवान दुर्बल को शूल से बेधकर उसी प्रकार सताने लगते हैं जैसे मछलियों को लोहे के सलाखों में छेदकर पकाया जाता है।[2] दण्ड के समुचित प्रयोग न होने पर किसी के अधिकार और भाग की रक्षा नहीं हो पाती। कौवे पुरोहास खाने लगते हैं और कुत्ता हविष्वान्न चाटने लगता है किसी पर किसी का प्रभुत्व नहीं रह जाता। बलवान् दुर्बलों की सम्पत्ति छीन कर स्वयं मालिक बन बैठते हैं और समाज में दुष्ट, नीच, धूर्त लोगों का ही बोल बाला हो जाता है। मनु ने तो यह स्पष्ट कहा है कि सभी लोग दण्ड के भय से ही अपने-अपने स्थानों पर नियमित और नियंत्रित रहते हैं यह लोक दण्ड से जीता हुआ लोक है। इस जगत में दण्ड का भय हटाकर पवित्र व्यक्ति की खोज करना दुर्लभ कार्य है। क्योंकि जो लोग पवित्र हैं वे अपने स्वभाव से पवित्र नहीं है अपितु दण्ड के भय से पवित्र हैं। दण्ड के भय से ही प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों का पालन करता है, अपनी सीमा में रहता है, अपना हिस्सा मात्र लेता है और अपने किए का फल भुगतने के लिए बाध्य होता है[3] दण्ड का प्रभाव इस लोक ही नहीं अन्य लोक पर भी पड़ता है और इसके प्रभाव से देव, दानव, गन्धर्व, राक्षस, पक्षी और सर्प भी अपनी-अपनी सीमाओं में रहते हुए अपने-अपने भोगों में प्रवृत्ति होते हैं। दण्ड के अभाव या अनुचित प्रयोग से विभ्रम पैदा होता है तब उससे समस्त वर्ण दूषित हो जाते हैं मर्यादाएँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं और लोगों में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है। जो राजा इस दण्ड का सम्यक् प्रयोग करता है उसे सत्यवादी विचार कर

---

१. तं देशकाली शक्ति च विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः।
यथार्हतः संप्रणयेन्नरेष्वन्यायवर्तिषु ॥ मनु०, ७.१६,

२. यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं दण्डयेष्वतन्द्रितः।
शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन्दुर्बलान्बलवत्तराः ॥ मनु, ७.२०,

३. सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः।
दण्डस्य हि भयात्सर्वं जगद्भोगाय कल्पते ॥ मनु०, ७.२२,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार्य करने वाला बुद्धिमान तथा धर्म एवं अर्थ का मर्मज्ञ माना जाता है। दण्ड के समुचित प्रयोग करने से राजा त्रिवर्ग का (अर्थ, धर्म, काम) का अधिकारी होता है और इनकी वृद्धि करता है। किन्तु यदि विषयों में आसक्त होकर दण्ड का समुचित प्रयोग नहीं कर पाता तो वह राजा दण्ड के द्वारा स्वयं मारा जाता है। दण्ड अत्यन्त तेजस्वी है इसलिये असंयत आत्मा वाले व्यक्ति इसका धारण नहीं कर सकते। यह दण्ड तब तक ही राजा के अधीन रहता है जब तक राजा इसका सम्यक् प्रयोग करता है। इसके सम्यक् प्रयोग न करने पर अथवा दण्ड भ्रष्ट या धर्मभ्रष्ट होने पर राजा को यह दण्ड परिवार सहित नष्ट कर देता है।[1]

दण्ड के प्रकार

धर्मशास्त्रों में दण्ड के अनेक प्रकार एवं अनेक रूप हैं। जैसे-वाग्दण्ड, धिग्दण्ड, धनदण्ड, कायदण्ड अथवा वधदण्ड,[2] कारागारदण्ड,[3] जाति वहिष्कारदण्ड[4] प्रायश्चित्त दण्ड,[5] निर्वासनदण्ड,[6] सम्पत्तिदण्ड[7] आदि हैं। वाणी द्वारा समझाना बुझाना अर्थात् अपराधों को उसके अपराध से परिचित कराकर उसे छोड़ देना, 'वाग्दण्ड' माना गया है। अपराधी द्वारा किये गये

---

१. मनु०, ७. २३-२८

२. वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्धिग्दण्डं तदनन्तरम्।
तृतीयंधनदण्ड त वधदण्डमतः परम् ॥ मनु०, ८. १२९,

३. अधार्मिकं त्रिभिर्न्यायैर्निगृह्णीयात्प्रयत्नतः।
निरोधनेन बन्धेन विविधेन वधेन च ॥ मनु०, ८. ३१०,

४ ज्ञातिसम्बन्धिभिस्त्वेते त्यक्तव्याः कृतलक्षणाः।
निर्दया निर्नमस्कारास्तत्मनो रनुशासनम् ॥ मनु०, ९. २३९

५. चरितव्यमतो नित्यं प्रायश्चित्त विशुद्धये।
निन्द्यै हि लक्षणैर्युक्ता जायन्तेऽनिष्कृतैनसः ॥
एनस्विभिरनिर्णिक्तैर्नार्थं किंचित्सहाचरेत्।
कृतनिर्णेजनाश्चैव न जुगुप्सेत कर्हिचित् ॥ मनु०, ११. ५३,१८९

६. परदाराभिमर्शेषु प्रवृत्तान्नॄन्महीपतिः।
उद्वेजनकरैर्दण्डैश्छिन्नयित्वां प्रवासयेत् ॥ मनु०, ८. ३५२,

७. ये नियुक्तास्तु कार्येषु हन्युः कार्याणि कार्यिणाम्।
धनोष्मणा पच्यमानास्तान्निःस्वान्कारयेन्नृपः ॥ मनु०, ९.२३१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपराध को लक्ष्य कर उसे बुरा भला कहकर मुक्त कर देना 'धिग्दण्ड' कहा गया। अपराधी से दण्ड रूप में धन ग्रहण कर उसे मुक्त कर देना 'धनदण्ड' अथवा 'अर्थदण्ड' माना गया है। कायदण्ड अथवा वधदण्ड के अन्तर्गत विविध प्रकार के शारीरिक दण्ड, बेंत या रस्सी से मारना, अंगभंग करना एवं मृत्युदण्ड आदि आते हैं।[1] मनु ने कारागार को 'बन्धन गृह' के नाम से सम्बोधित किया है। इस बन्धन गृह में अपराधियों को रखकर उन्हें दण्ड की अवधि तक दण्ड भुगतने का निर्देश किया गया है। तथा कुछ अपराधों के लिए जाति बहिष्कार दण्ड की भी व्यवस्था है। कुछ के लिए प्रायश्चित दण्ड का विधान किया गया है। इन प्रायश्चितों का अनुष्ठान कर अपराधी आत्मशुद्धि कर सकता है। कुछ अपराधों के लिए अपराधी को सम्पत्ति हरण कर लेने का भी विधान किया गया है तथा कुछ ऐसे अपराध भी बतलाए गए हैं जिसके लिए अपराधी को निर्वासन दण्ड दिया जा सकता है।

मनु ने दण्ड के दस स्थानों की चर्चा की है, लिंग, उदर, जिह्वा, हाथ, पैर, नेत्र, नासिका, कान, धन और देह। उनका कहना है कि देश-काल और परिस्थिति के अनुसार विचार कर अपराधी को दण्ड देना चाहिए।[2] महाभारत के शान्ति पर्व में दण्ड के चार प्रकार बताए हैं वाददण्ड, हिरण्य-दण्ड या अर्थदण्ड, शारीरिक दण्ड और प्राणदण्ड। कौटिल्य के अनुसार दण्ड को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है, अर्थदण्ड, कायदण्ड और बन्धनागार दण्ड। अर्थदण्ड से कौटिल्य का तात्पर्य कतिपय अपराधों के लिए अपराधियों को अर्थदण्ड देने से है। ये दण्ड छोटे और बड़े अनेक प्रकार के होते हैं। ये अर्थदण्ड पण के आंठवें भाग से लेकर सहस्त्रों पण तक निर्धारित किये गये हैं। अपराधी को शारीरिक दण्ड देना 'कायदण्ड' कहलाता है इस दण्ड में बेंत मारना, कोड़े लगाना, रस्सी से मारना, उल्टे लटकाना, हाथियों से कुचलवाना, कुत्तों से चिथवाकर प्राण लेना; हाथ पैर आदि अंगों को कटवाना, शरीर में मर्मस्थलों का छेदन करवाना, नाखूनों में सुई चुभोना; क्लेशपूर्वक शरीर के अंगों को कटवाना, शरीर एवं शीश

१. वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्धिग्दण्डं तदनन्तरम्।
तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम्॥ कुल्लूक टीका, मनु०, ८.१२९

२. अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्त्वतः।
सारापराधौ चालोक्य दण्डं दण्डयेषु पातयेत्॥ मनु०, ८. १२६,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर जलते हुए अंगार रखकर प्राण लेना, जल में डुबाना, शुद्ध वध करना, शरीर की खाल निकलवाना आदि मुख्य शारीरिक दण्ड हैं।[१]

कौटिल्य ने बन्धनगृह को 'बन्धनागार' नाम से सम्बोधित किया है। इस बन्धनागार में स्त्री तथा पुरुष दोनों को पृथक-पृथक रखने का निर्देश दिया है तथा अपराधियों के अपराध के अनुसार ही दण्ड देने का विधान किया है। बन्दियों को कठोर अनुशासन में रखने का निर्देश दिया है।[२]

दण्ड दान सिद्धान्त

मनु ने अपराधियों के लिए अनेक रूपों में दण्ड का विधान किया है। मनु का मत है कि अधर्म पूर्वक दण्ड प्रदान कभी नहीं करना चाहिए। अधर्म से दण्ड देने से दण्ड देने वाले को संसार में अयश एवं अकीर्ति होती है और परलोक में स्वर्ग का नाश होता है।[३] जो राजा दण्ड के अयोग्य व्यक्तियों को दण्ड देता है और दण्डनीयों को दण्ड नहीं देता है वह अयश प्राप्त करता है और नरक को जाता है। मनु ने इस बात पर अत्यधिक बल दिया है कि दण्ड देने से पूर्व, अपराध के प्रसंग, अपराधी का सामर्थ्य, देशकाल और परिस्थिति पर गम्भीरता पूर्वक विचार कर लेना चाहिए तब दण्ड देने का निर्देश देना चाहिए।[४]

मनु ने दण्डों की क्रमिकता का भी संकेत किया है उनके अनुसार प्रथम दण्ड 'वाग्दण्ड' है अर्थात् पहले अपराधी को उसके अपराध के प्रति चेतावनी देनी चाहिए। इसके बाद दूसरा दण्ड है 'धिग्दण्ड' यदि अपराधी चेतावनी से अपराध करना नहीं छोड़ देता है या उसका अपराध कुछ गम्भीरतर है तो उसे धिग्दण्ड दिया जाना चाहिए। धिग्दण्ड का तात्पर्य यह है कि सामाजिक अप्रतिष्ठा या खुले समाज में उनकी निन्दा। तीसरा दण्ड है 'अर्थदण्ड'। चौथा दण्ड है 'कायदण्ड' या वधदण्ड। इन चारो दण्डों को

---

१. भारतीय राज्यशास्त्र के प्रणेत्य, पृष्ठ १२६, १२७

२. डॉ० श्यामलाल पाण्डेय, भारतीय राजशास्त्र प्रणेता, पृष्ठ १२७

३. अधर्मदण्डनं लोके यशोघ्नं कीर्तिनाशनम्।
अस्वर्ग्यं च परत्रापि तस्मात्तत्परिवर्जयेत्॥ मनु०, ८. १२७,

४. तं देशकालौ शक्ति च विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः।
यथार्हतः संप्रणयेन्नरेष्वन्यायवर्तिषु॥ मनु०, ७.१६,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलग-अलग दिया जाना चाहिए। किन्तु यदि कोई अपराधी गुरुतर अपराध वाला है तो उसे चारो दण्डों को एक साथ दिया जा सकता है।[1]

मनु ने दण्ड की सापेक्षता पर विशेष बल दिया है उनके अनुसार एक ही अपराध के भिन्न-भिन्न दण्ड हो सकते हैं यह निर्णय अपराधी की दण्ड सहन करने की योग्यता और क्षमता पर आधारित होता है। उदाहरण के लिए जिस अपराध में एक साधारण व्यक्ति को एक पण का अर्थदण्ड लगना चाहिए, वही अपराध यदि राजा करता है तो उसे एक हजार पण का दण्ड लगना चाहिए।[2] चोरी का अपराध समान है फिर भी शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण को चोरी का दण्ड अलग-अलग लगना चाहिए। क्योंकि वे क्रमशः चोरी के पाप की गुरुता के अधिक जानकार हैं। कहने का तात्पर्य है कि यदि एक शूद्र जो चोरी के दोष को नहीं जानता है, उसे चोरी का जितना दण्ड मिलना चाहिए उससे आठ गुना अधिक उस शूद्र को मिलना चाहिए जो चोरी के दोष को भली-भांति जानता है और वैश्य को उससे सोलह गुना अधिक, क्षत्रिय को बत्तीस गुना अधिक और ब्राह्मण को चौसठ गुना अधिक या सौ गुना या एक सौ अठाइस गुना अधिक दण्ड मिलना चाहिए।[3]

दण्ड प्रतिशोध या बदला नहीं है अतः दण्ड देने के बाद अपराधी को अपना पूर्व स्तर प्राप्त हो जाना चाहिए। अपराध का दण्ड भोग लेने के बाद अपराधी को शुद्ध और पवित्र समझना चाहिए।[4]

---

१. वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्धिग्दण्डं तदनन्तरम् ।
तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम् ॥
वधेनापि यदा त्वेतान्निग्रहीतुं न शक्नुयात् ।
तदैषु सर्वमप्यैतत्प्रयुञ्जीत चतुष्टयम् ॥ मनु०, ८. १२९–३०,

२, कार्षापणं भवेद्दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः ।
तत्र राजा भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा ॥ मनु०, ८.३३६, ॥

३. अष्टापाद्यं तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्विषम् ।
षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत्क्षत्रियस्य च ॥
ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वाऽपि शतं भवेत् ।
द्विगुणा वा चतुः षष्टिस्तद्दोषगुणविद्धि सः ॥ मनु०, ८.३७,३८,

४. मनु०, ८.३१८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुर

मनु ने राज्य के सप्तांग में अन्य दो महत्त्वपूर्ण अंगों की चर्चा की है जिसे दुर्ग था पुर वीर राष्ट्र कहा है। दुर्ग राज्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है, मनु ने छः प्रकार के दुर्गों की चर्चा की है। धन्वबुर्ग, महीदुर्ग, जलदुर्ग, वृक्षदुर्ग मनुष्य दुर्ग और गिरिदुर्ग। इनकी व्याख्या करते हुए कुल्लूक ने कहा है कि 'धन्वदुर्ग वह है जो मरु से घिरा है। उसके चारो ओर पाँच योजन तक कहीं भी पानी न हो। महीदुर्ग, ईटे या पत्थर का बना हुआ; युद्धार्थ उपकरणों से युक्त घेराबन्दी एवं गवाक्ष आदि से युक्त रहता है। 'जलदुर्ग' चारो ओर अगाध जल से घिरा रहता है। 'वृक्षदुर्ग वह है जो चारों ओर एक योजन बड़े-बड़े वृक्षों; कष्टक, गुल्म और लता आदि से घिरा हो। 'मनुष्य दुर्ग' वह है जिसके चारो ओर हस्ती, अश्व, रथ तथा पैदल, चतुरंगिणी सेना हो। 'गिरिदुर्ग' वह है जो किसी महान पर्वत के अत्यधिक चढ़ाई के बाद हो, जिसमें पहुँचने के लिए बहुत संकरे मार्ग हों, मार्ग में नदी आदि हों, जहाँ पर कृषि योग्य भूमि और वृक्ष आदि हों।[1] इन समस्त दुर्गों में सुरक्षा की दृष्टि से मनु ने गिरि दुर्ग को अधिक महत्त्व दिया है। इन दुर्गों की सुरक्षा व्यवस्था के लिए मनु ने यह संकेत किया है कि पहले तीन दुर्गों में अर्थात् धन्वदुर्ग, महीदुर्ग, और जलदुर्ग में क्रमशः मृग, बिलों में रहने वाले चूहा और खरगोश आदि तथा जलचर (मगर, नक्र) आदि जानवरों को रखना चाहिए। वृक्ष दुर्ग में वानर, मनुष्यदुर्ग में मनुष्यों तथा गिरिदुर्ग में देवताओं का निवास स्थान बनाना चाहिए। इन दुर्गों की महत्ता इसलिए है कि दुर्गों में निवास करने वाले राजा को शत्रु सरलता से जीत नहीं पाता है। दुर्ग में रहने वाला एक योद्धा सौ योद्धाओं से और सौ धनुर्धारी योद्धा दस हजार योद्धाओं से लड़ सकते हैं। इसलिए दुर्ग को युद्ध की दृष्टि से अधिक महत्त्व दिया जाता है।[2] इन

---

१. धन्वदुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा।
नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम् ॥ मनु०, ७.७० एवं कुल्लूक टीका;

२. यथा दुर्गाश्रितानेतान्नोपहिंसन्ति शत्रवः।
तथारयो न हिंसन्ति नृपं दुर्गसमाश्रितम् ॥
एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः।
शतं दशसहस्त्राणि तस्माद्दुर्गं विधीयते ॥ मनु०, ७.७३,७४,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुर्गों को हथियार, धन, धान्य, वाहन, ब्राह्मण कारीगर, यन्त्र और पशुओं के लिए चारा आदि से सदा सम्पन्न रखना चाहिए।[1]

राष्ट्र

मनु ने राष्ट्र को संघटित करने का निर्देश दिया है क्योंकि सुसंगठित राष्ट्र वाला राजा सुख से शासन करता है। राष्ट्र के सम्यक् संगठन के लिए दो दो गांवों का, तीन-तीन गांवों का या पांच-पांच गांवों का छोटे-छोटे संगठन बनाने का निर्देश है। इसके उपरान्त दस गांवों, सौ गांवों और सहस्त्र गांवों की चर्चा की गई। ग्राम के शासन हेतु एक-एक अधिकारी की नियुक्ति की व्यवस्था, है। यह अधिकारी ग्राम में शांति व्यवस्था, सुरक्षा व्यवस्था तथा विकास के लिए नियुक्त होता है। यदि ग्राम अधिकारी को अपने ग्राम में शांति भंग की आशंका हो तो उसे दस ग्राम के अधिपति को उसकी तत्काल सूचना देनी चाहिए।[2] इसी प्रकार क्रमशः दस गांवों का रक्षक बीस गांवों के रक्षक से, बीस गांवों का रक्षक सौ गांवों के रक्षक से सौ गांवों का रक्षक हजार गांवों के रक्षक से सहायता की याचना कर सकता है तथा अपने से उच्च अधिकारी को अपने यहां होने वाले शांति-भंग की आशंका की सूचना देनी चाहिए। इन छोटे बड़े अधिकारियों का कर्त्तव्य है कि राजा के लिए कर के रूप में उपलब्ध होनेवाले अन्न, ईधन आदि एकत्र कर राजा के पास भेजें।

राष्ट्र में ग्राम वासियो के अतिरिक्त मनु ने नगरों का भी उल्लेख किया है और प्रत्येक नगर के प्रबन्ध के लिए एक अधिकारी की नियुक्ति

---

१. तत्स्यादायुधसंपन्नं धनधान्येन वाहनैः।
ब्राह्मणैः शिल्पिभिर्यन्त्रैर्यवसेनोदकेन च ।। मनु०, ७,७५,

२. राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत्।
सुसंगृहीतराष्ट्रो हि पार्थिवः सुखमेधते ।।
द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम्।
तथा ग्रामशतानां च कुर्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम् ।।
ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दशग्रामपतिं तथा।
विंशतीशं शतेशं च सहस्त्रपतिमेव च ।।
ग्रामदोषान्समुत्पन्नान्ग्रामिकः शनकैः स्वयम्।
शंसेद्ग्रामदशेशाय दशेशो विंशतीशिने ।। मनु०, ७. ११३–११६,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की व्यवस्था की है। इस अधिकारी को सर्वार्थ चिंतक कहा जाता था। इस अधिकारी का मुख्य कर्त्तव्य अपने अधीन नगर के समस्त निवासियों की आवश्यकताओं की पूर्ति कराना होता है। इस सवार्थ चिंतक के कार्य का संकेत करते हुए मनु ने कहा है कि जैसे नक्षत्रों के मध्य एक ग्रह घोर रूप धारण कर प्रशासन करता है, उसी प्रकार सवार्थ चिंतक को अपने अधिनस्थ सभी कर्मचारियों के बीच घोर रूप धारण कर उन पर शासन करते रहना चाहिए।[1] इस सवार्थ चिन्तक को अपने अधीन समस्त प्रजा के सुख-दुःख का निरन्तर ज्ञान रखना चाहिए। मनु सवार्थ चिन्तक के अधीन गुप्तचर रखने की भी व्यवस्था देते हैं। उसको इन गुप्तचरों द्वारा रपने अधीन जनता के विषय में पूरी जानकारी रखनी चाहिए, क्योंकि राजा द्वारा नियुक्त किए गए राज कर्मचारियों में प्रजा के धन हरण करने वाले और वंचक भी होते हैं। जो पाप बुद्धि कर्मचारी कामार्थियों से धन लेते हैं, उन कर्मचारियों का सर्वस्व हरण कर, उन्हें अपने राज्य से बहिष्कृत कर देना चाहिए।[2]

कोष

राज्य के सप्तांग में कोष का महत्त्वपूर्ण स्थान है कोष का तात्पर्य है धन का संग्रह। राज्य के संचालन के लिए रक्षा और विकास के लिए प्रत्येक पद पर धन की आवश्यकता होती है। राज्य की इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कोष की आवश्यकता होती है।

कोष न तो सचित धन है और न निश्चित। यह निरन्तर बढ़ता रहता है। और इसमें से प्रतिदिन व्यय भी होता रहता है अतः राज्य संचालन के लिए आय और व्यय के समस्त साधनों का सम्बन्ध कोष से हो जाता

---

१. नगरे नगरे चैकं कुर्यात्सर्वार्थचिन्तकम्।
उच्चैः स्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम्॥ मनु० ७. १२१,

२. स ताननुपरिक्रामेत्सर्वानेव सदा स्वयम्।
तेषां वृत्तं परिणयेत्सम्यग्राष्ट्रेषु तच्चरैः॥
राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः।
भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः॥
ये कार्यिकेभ्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः।
तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात्प्रवासनम्॥ मनु० ७. १२२-१२४.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। राज्य के संचालन के लिए कोष की वृद्धि अत्यन्त आवश्यक है यही कारण है कि राजकोष की वृद्धि के लिए प्रजा से राजा विभिन्न रूपों में अर्थ संग्रह करता है। परन्तु मनु ने प्रजा से अर्थ संग्रह के लिए कुछ विशेष निर्देश दिए हैं जिनके आधार पर ही अर्थ संग्रह किया जाना चाहिए। इन निर्देशों में अर्थ संग्रह किस प्रकार करना चाहिए तथा अर्थ संग्रह का क्या उद्देश्य होना चाहिए, आदि का भी समावेश किया गया है।

प्रजा रक्षण

राजा का प्रमुख कर्त्तव्य प्रजा का रक्षण है। राज्यकोष के लिए प्रजा से धन संग्रह करने का राजा को इसलिए अधिकार मिला है कि वह प्रजा का रक्षण करता है। मनु ने यह स्पष्ट किया है कि जो राजा प्रजा का रक्षण न करता हुआ प्रजा से कोष वृद्धि के लिए अर्थ ग्रहण करता है उस राजा के विरुद्ध प्रजा के मन में विद्वेष पैदा हो जाता है और प्रजा विद्रोह कर बैठती है। इतना ही नहीं यदि राजा मरता है तो वह नरक का भागी बनता है।[1] इसी प्रकार मनु ने यह भी व्यवस्था दी है कि प्रजा की रक्षा न करने वाला राजा यदि प्रजा से धन संचय करता है तो ऐसा राजा नरकगामी तो होता ही है, इसके अतिरिक्त वह प्रजा के सम्पूर्ण पापों का भागी बनकर उसे भोगता भी है।[2]

इस व्यवस्था से यह स्पष्ट होता है कि राजा को अपने अधीन प्रजा से धन ग्रहण करने का अधिकार तभी तक वैध है जब तक राजा प्रजा रक्षण सम्बन्धी कार्य विधिवत् करता रहता है ज्यों ही राजा अपने प्रजा रक्षण कार्य में प्रमाद करने लगता है वह अपने इस अधिकार से वंचित हो जाता है।

लाभ पर कर लगाने का नियम

मनु ने यह संकेत किया है कि राजकोष की वृद्धि के लिए एक प्रजा पर

---

१. अशासस्तस्करान्यस्तु बलिं गृह्णाति पार्थिवः।
तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं स्वर्गाच्च परिहीयते॥ मनु०, ९. २५४,

२. योऽरक्षन्बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः।
प्रतिभागं च दण्डं च स सद्यो नरकं व्रजेत्॥
अरक्षितारं राजानं बलिषड्भागहारिणम्।
तमाहुः सर्वलोकस्य समग्रमलहारकम्॥ मनु०, ८. ३०७, ३०८,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगने वाला कर केवल उसके लाभ पर ही लगना चाहिए। इस नियम के आधार पर किसी व्यवसाय या रोजगार में जो पूँजी लगाई जाती है उस पूँजी पर कर नहीं लगता और उस रोजगार या व्यवसाय के लिए जो धन व्यय होता है उस पर भी कर नहीं लगता। कर केवल शुद्ध लाभ पर लगता है। यह बात मनु के इस कथन से कि क्रय-विक्रय, मार्ग-व्यय, भरण-पोषण व्यय; सुरक्षा व्यय और उनके निर्वाह व्यय का सम्यक् विचार करके ही व्यापारियों पर कर लगाना चाहिए।[1]

राष्ट्रीय योजना

राजा को राष्ट्रहित के लिए तथा राष्ट्र को सुसम्पन्न एवं समृद्ध बनाने के लिए अनेक योजनाएं बनानी पड़ती हैं। तथा उन्हें समयानुसार कार्यान्वित करना पड़ता है। इन योजनाओं के कार्यान्वयन के लिए पर्याप्त धन की आवश्यकता होती है। राजा यह धन करों के रूप में अपनी प्रजा से ही प्राप्त करता है। इसलिए मनु ने राजा को इन योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए अपने अधीन प्रजा पर कर लगाने का अधिकार प्रदान किया है। किन्तु साथ ही साथ मनु ने यह प्रतिबन्ध भी लगाया है कि यह योजनाएं प्रजा के कल्याण की वृद्धि करने वाली होनी चाहिए। अर्थात् इन योजनाओं के लिए सभी प्रजा से कर लिया जा सकता है जब इनका कार्यान्वयन राष्ट्र की सुसम्पन्नता एवं समृद्धि के लिए आवश्यक हो।[2]

अकष्टकर कर लगाने का नियम

मनु का मत है कि राजकोष के निमित्त प्रजा से करों के रूप धन संचय के लिए ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जिसे प्रजा से धन संचय तो कर लिया जाय परन्तु इस धन को देने में प्रजा को किस प्रकार का द्वेष या कष्ट का अनुभव न होने पाए। अपने इस सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए मनु ने बछड़ा, जोंक, भौंरे का उदाहरण प्रस्तुत किया है। बछड़ा अपनी माता का दूध थोड़ा-थोड़ा और धीरे-धीरे इस प्रकार पिता है कि गाय बछड़े को

---

१. क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम्।
योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजो दापयेत्करान्॥ मनु०, ७. १२७,

२. यथा फलेन युज्येत राजा कर्ता च कर्मणाम्।
यथावेक्ष्य नृपो राष्ट्रं कल्पयेत्सततं करान्॥ मनु०, ७. १२८,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपना दूध पिलाने में किसी प्रकार का क्लेश या दुःख अनुभव नहीं करती अपितु आनन्दित होती है। जल जोंक किसी पशु के शरीर में चुपचाप चिपक जाता है और थोड़ा-थोड़ा एवं धीरे-धीरे उस पशु के रक्त को पीकर स्वयं तृप्त होकर अलग हो जाता है और पशु को यह पता ही नहीं चलता कि उसके शरीर से रक्तपान किया गया है। भौंरा फूल पर बैठकर उसके मधु का इस प्रकार पान करता है कि पुष्प के इस बात का आभास भी नहीं हो पाता कि उसके मधु का ग्रहण किया जा रहा है। इसी प्रकार राजा को चाहिए कि वह अपने प्रजा से कर ले ले और प्रजा आनन्दित होकर उसे कर दे दे तथा प्रजा को यह लगे भी नहीं कि उसे कर देने में किसी प्रकार का कष्ट उठाना पड़ा है।[1]

अधिक कर का निषेध

मनु इस बात का विरोध करते हैं कि प्रजा पर उसके सामर्थ्य से अधिक कर लगाया जाय। उनका कहना है कि राजा में प्रजा के धन हरण की लिप्सा राजा और प्रजा दोनों की विनाश कर देती है। मनु यह स्पष्ट संकेत करते हैं कि राजा अपनी प्रजा से उतने ही मात्रा में कर ले जिससे राज्य की शासन व्यवस्था विधिवत् संचालित हो सके और प्रजा का मूल उच्छेदन भी न होने पावे। इस नियम के आधार पर कर लगाते समय दो बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। प्रथम राज्य संचालन के लिए अपेक्षित धन की मात्रा और द्वितीय कर देने का प्रजा का सामर्थ्य। यदि प्रथम बात का ध्यान नहीं रखा गया तो आवश्यक धन के बिना राज्य का विनाश हो जाता है और यदि दूसरी बात का ध्यान नहीं रखा गया तो प्रजा का विनाश हो जाता है। इसलिए कर नीति निर्धारण इस प्रकार होना चाहिए कि प्रजा और राजा दोनों का कल्याण हो। मनु के इस कथन से कि जो राजा मूर्खता वश अपने अधीन राष्ट्र का शोषण करता है वह राज्य से शीघ्र भ्रष्ट होकर अपने बन्धु बान्धवों समेत अपने आपको नष्ट कर लेता है, उक्त नियम की पुष्टि होती है। इसी तरह मनु ने यह भी स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार शरीर के शोषण करने से प्राणियों के प्राण क्षीण हो जाते हैं उसी प्रकार राष्ट्र के शोषण से राजा के प्राण क्षीण हो जाते हैं।[2]

१. यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं वार्योकोवत्सषट्पदाः।
तथाल्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः॥ मनु०, ७. १२९.

२. मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया।
सोऽचिराद् भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः॥ मनु०, ७. १११,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोष संचय के साधन

राज कोष में जो धन-धान्य एवं जो अन्य सामग्री संग्रहीत होती है उसका प्रधान अंश प्रजा से कर के रूप में प्राप्त किया जाता है। मनु ने विभिन्न प्रकार के करों की चर्चा की है। वह है बलि, शुल्क-दण्ड, प्रतिभाग इसमें 'बलि' कहकर जो राजा षडंश के रूप में प्रजा से ग्रहण करता है। 'शुल्क' वह कर है जो स्थल मार्ग और जल मार्ग पर व्यापारियों से एक निश्चित समय पर प्राप्त होता है। दण्ड विभिन्न अपराधों के सन्दर्भ में अर्थ के रूप में लिया गया धन राशि है। और 'प्रतिभाग' वह कर है जो कच्चेमाल पर जैसे फल, पुष्प, साग, तृण आदि पर लिया जाता है।[१] कर के प्रमुख प्रकारों का एक संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया गया है।

बलि

राजा प्रजा के रक्षण कार्य के लिए प्रजा से आवश्यक धन-धान्य सामाग्री बलि कर के रूप में प्राप्त करता है। यह कर विशेष रूप से ग्रामवासियों पर लगाया जाता है। मनु ने यह संकेत किया है कि वही राजा बलि कर ग्रहण करने का अधिकारी हो सकता है जो प्रजा के रक्षण कार्य समुचित प्रकार से करता हो। जो राजा अपने अधीन प्रजा की रक्षा नहीं करता और उनसे बलि नामक कर ग्रहण करता है वह समस्त प्रजा के पाप का भागी बनता है। यह बलि कर उपज का छंठा भाग के बराबर होना चाहिए।[२] मनु ने इस कर के संग्रह के लिए यह निर्देश दिया है कि ग्राम के अधिकारी को चाहिए कि वह अपने अधीन ग्राम वासियों से अन्न, पान, इन्धन आदि बलि के रूप में एकत्र कर उसे सम्बन्धित अधिकारी को राजकोष के निमित्त प्रति वर्ष या प्रति मास भेज दिया करे।[३]

---

१. योऽरक्षन्बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः।
प्रतिभागं च दण्डं च स सद्यो नरकं व्रजेत्॥ मनु०, कुल्लूक, ८. ३०७,

२. अरक्षितारं राजानं बलिषड्भागहारिणम्।
तमाहुः सर्वलोकस्य समग्रमलहारकम्॥ मनु०, ८. ३०८,

३. यानि राजप्रदेयानि प्रत्यहं ग्रामवासिभिः।
अन्नपानेन्धनादीनि ग्रामिकस्तान्यवाप्नुयात्॥ मनु०, ७. ११८,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शुल्क

राजकोष की वृद्धि के लिए शुल्क एक महत्त्वपूर्ण कर है।[1] शुल्क कर उन व्यापारिक सामाग्री एवं वस्तुओं पर लगाया जाता है जो बाजार में विक्रय हेतु लगाई जाती है। शुल्क की दर के सम्बन्ध में मनु ने संकेत किया है कि व्यापारी के लाभ का वीसवां भाग राजा को शुल्क कर के रूप में देना चाहिए।[2] मनु ने इस शुल्क की चोरी करने वाले व्यापारियों को दण्ड देने का विधान किया है, उनके अनुसार यदि कोई व्यापारी शुल्क के भुगतान किए बिना अपने माल की बिक्री करता है अथवा दूसरे का माल खरीदता है अथवा निर्धारित समय के अतिरिक्त क्रय-विक्रय करता है, या तौल-नाप में झूठ बोलता है, उस व्यापारी पर निर्धारित कर का आठ गुना अथवा जितने मूल्य की वस्तु के लिए झूठ बोलता है उसके मूल्य का आठ गुना दण्ड लगाना चाहिए।[3] इस कर के सम्बन्ध में मनु ने राजा को यह निर्देश दिया है कि राजा क्रय-विक्रय, रक्षा सम्बन्धी व्यय, व्यापारी के मार्ग-व्यय एवं भोजन सम्बन्धी व्यय को ध्यान में रखकर शुल्क का निर्धारण करे। व्यापारी और राजा दोनों के हित को ध्यान में रखकर शुल्क का निर्धारण अधिक उपयोगी होता है।[4]

दण्डकर

राजकोष की वृद्धि जिन साधनों से होती है उनमें दण्डकर प्रमुख है। दण्ड का यहां तात्पर्य विभिन्न अपराधों के सम्बन्ध में न्यायाधीशों द्वारा लगाया गया अर्थ दण्ड है। मनु ने दण्ड के प्रसंग में दण्ड के दस स्थान का

---

१. योऽरक्षन्बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः।
प्रतिभागं च दण्डं च स सद्यो नरकं व्रजेत्॥ मनु०, ८. ३०७,

२. शुल्कस्थानेषु कुशलाः सर्वपन्यविचक्षणाः।
कुर्युरर्घं यथापण्यं ततो विंशं नृपो हरेत्॥ मनु०, ८. ३९८,

३. शुल्कस्थानं परिहरन्नकालेक्रयविक्रयी।
मिथ्यावादी च संख्याने दाप्योऽष्टगुणमत्ययम॥ मनु०, ८. ४००,

४. क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च समरिव्ययम्।
योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजो दापयेत्करान्॥
यथा फलेन युज्येत राजा कर्ता च कर्मणाम्।
तथावेक्ष्य नृपो राष्ट्रं कल्पयेत्सततं करान्॥ मनु०, ७, १२७, १२८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्देश किया है। उसमें से नौ स्थान शरीर दण्ड या कायदण्ड से सम्बन्धित हैं जैसे-लिंग, उदर, जीभ, हाथ, पैर, नेत्र, कान, नाक शरीर। और एक 'धन' अर्थदण्ड से सम्बन्धित है। नागरिकों के लिए राज्य कुछ नियमों का निर्धारण करता है इन नियमों के भंग करने वाले नागरिकों को अन्य दण्डों के समान अर्थदण्ड भी देना पड़ता है। मनुस्मृति में अर्थदण्ड के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि राजकोष में अर्थदण्ड द्वारा प्राप्त धन का विशेष महत्त्व है। मनु ने मिथ्या भाषण करने वाले पर अर्थदण्ड लगाने की व्यवस्था की है। उनके अनुसार लोभ के कारण मिथ्या साक्ष्य देने पर एक हजार पण का दण्ड लगाना चाहिए और मोह के कारण मिथ्या साक्ष्य देने पर प्रथम सादृश्य दण्ड के बराबर दण्ड लगाना चाहिए। भय से मिथ्या साक्ष्य देने पर दो मध्यम साहस दण्ड के बराबर दण्ड लगाना चाहिए। और मैत्री के कारण मिथ्या साक्ष्य देने पर प्रथम साहस के चार गुना दण्ड लगाना चाहिए।[1] ग्राम अथवा देश के संघों में जो व्यक्ति किसी विषय का वचन देकर उसे पूरा नहीं करता उसे या तो राष्ट्र से निकाल देना चाहिए अथवा उससे प्रतिज्ञा भंग होने के अपराध में चार सुवर्ण, ६ निष्क और चांदी का सतमान दण्ड के रूप में वसूल करना चाहिए।[2] इसी प्रकार खेत चराने पर सौ पण, गाली आदि देने पर बारह पण और अपशब्द के प्रयोग करने पर चौबीस पण दण्ड लगाने का विधान किया गया है।[3]

अर्थदण्ड के उक्त उदाहरण निदर्श मात्र हैं मनु ने अनेक अपराधों जैसे चोरी, साहस, व्यभिचार, मिथ्या साक्ष्य, हिंसा आदि अपराधों के लिए जहाँ अन्य प्रकार के दण्डों का विधान किया है वहाँ उन्होंने अर्थदण्ड की भी व्यवस्था की है।

---

१. लोभात्सहस्त्रं दण्ड्यस्तु मोहात्पूर्वं तु साहसम्।
भयाद् द्वौ मध्यमौ दण्डौ मैत्रात्पूर्वं चतुर्गुणम्॥ मनु०, ८. १२०,

२. एषामन्यतमे स्थाने यः सक्ष्यमनृत्तं वदेत्।
तस्य दण्डविशेषांस्तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः॥ मनु०, ८. ११९, १२०

३. पथि क्षेत्रे परिवृत्रे ग्रामान्तीयेऽथवा पुनः।
सपालः शतदण्डार्हो विपालान्वारयेत्पशून्॥
समवर्णे द्विजातीनां द्वादशैव व्यतिक्रमे।
वादेष्ववचनीयेषु तदेव द्विगुणं भवेत्॥ मनु०, ८. २४०, २६९,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तस्कर

आवागमन की सुविधा के लिए राज्य की ओर से नदी, तालों आदि को पार करने के लिए पुलों तथा नावों की व्यवस्था की जाती है। इस व्यवस्था में राज्य को धन व्यय करना पड़ता है इसलिए इन साधनों के उपयोग करने वाले व्यक्तियों से समुचित कर के रूप में धन प्राप्त किया है। यह कर तर-कर के नाम से सम्बोधित किया जाता है। इसके निर्धारण विधि के सन्दर्भ में मनु ने निर्देश दिया है कि पुल पर जानेवाली गाड़ी पर एकपण, भार युक्त मनुष्य पर आधापण, गाय, बैल, पशु तथा स्त्री पर चौथापण, भार रहित मनुष्य पर पण का आठवां भाग तर-कर के रूप में लिया जाना चाहिए।[1] व्यापारिक माल से लदी हुई गाड़ी पर भार के अनुसार तर-कर लेना चाहिए। भार रहित गाड़ी एवं दरिद्र पुरुषों से नाममात्र का तर-कर लेना चाहिए। तर-कर का यह नियम नदी के तरण के लिए है समुद्र के तरण के लिए नहीं। मनु ने कुछ लोगों को तर कर से मुक्त रखने का भी निर्देश किया है। जैसे-गर्भिणी स्त्री, सन्यासी, वानप्रस्थ, ब्रह्मचारी और ब्राह्मण।[2]

पशु कर

पशु के व्यापारी पर लाभ का पचासवाँ भाग कर के रूप में लेने का विधान है यह कर पशु-कर कहलाता है।[3]

श्रमजीवी एवं शिल्पीकर

राज्य में जो लोग श्रम और शिल्प के द्वारा धन कमाते हैं उनसे भी कर के रूप में राजा को कुछ प्राप्त होता है। किन्तु मनु की व्यवस्था देखते

---

१. पणं यानं तरे दाप्यं पौरुषोऽर्धपणं तरे।
पादं पशुश्च योषिच्च पादार्धं रिक्तकः पुमान्॥ मनु०, ८. ४०४

२. भाण्डपूर्णानि यानानि तार्यं दाप्यानि सारतः।
रिक्तभाण्डानि यत्किंचित्पुमांसश्चापरिच्छदाः॥
दीर्घाध्वनि यथादेशं यथाकालं तरो भवेत्।
नदीतीरेषु तद्विद्यात्समुद्रे नास्ति लक्षणम्॥ मनु०, ८. ४०५, ४०६,

३. पञ्चाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः।
धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा॥ मनु, ७. १३०,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए कहा जा सकता है कि यह कर धन के रूप में न प्राप्त होकर श्रम के ही रूप में प्राप्त होता है। मनु ने यह निर्देश दिया है कि जो लोग श्रम के द्वारा आजीविका कमाते हैं, जैसे—लोहार, बढ़ई, शिल्पी आदि, उनसे महीने में एक दिन राजा को कुछ काम करा लेना चाहिए।[1]

मित्र

राज्य की सप्तांग के सम्बन्ध में अलग से कोई विशेष उल्लेख नहीं किया गया है। राजा के अपने पड़ोसी राज्यों से सम्बन्ध के आधार पर मनु ने पड़ोसी राज्यों को चार वर्गों में विभक्त किया है। मध्यम राज्य, शत्रु राज्य, उदासीन राज्य और मित्र राज्य।[2] इन चार राज्यों के पृथक-पृथक और सम्मिलित मण्डल की चर्चा की गई है। प्रत्येक राज्य का सन्निकट पड़ोसी राज्य उसका शत्रु राज्य होता है। और शत्रु राज्य से परे उसका मित्र राज्य कहलाता है। प्रत्येक राज्य का एक लघु मण्डल होता है जिसमें राज्य उसका शत्रु राज्य और उसका मित्र राज्य ये तीन राज्य सम्मिलित होते हैं। इस मण्डल में अठारह प्रकृतियाँ, जिसके अन्तर्गत तीनों राज्यों के छः-छः प्रकृतियां सम्मिलित हैं, होती हैं, इन अठारहप्रकृतियों में मूल प्रकृति एक है और शेष सत्रह प्रकृतियाँ शाखा प्रकृति कही जाती है। इसी प्रकार मध्यम राज्य शत्रु राज्य, मित्र राज्य और उदासीन राज्य इनमें से प्रत्येक के शत्रु राज्य और मित्र राज्य इन सबको मिलाकर जो वृहद् मण्डल बनता है उसमें चार मूल प्रकृतियाँ अर्थात् चारों राज्यो के राजा और इनमें से प्रत्येक की सत्रह-सत्रह प्रकृतियाँ कुल मिलाकर अड़सठ शाखा प्रकृतियाँ मानी जाती हैं। इस प्रकार लघु मण्डल में अठारह प्रकृतियाँ और वृहद् मण्डल में बहत्तर प्रकृतियाँ होती है।[3] इन राज्यों के परस्पर सम्बन्ध में शत्रु से बचाव के लिए मित्र का संगठन राज्य का मित्र अंग कहा जाता है।

---

१. कारुकाञ्छिल्पिनश्चैव शूद्रांश्चात्मोपजीविनः।
एकैकं कारयेत्कर्म मासि मासि महीपतिः॥ मनु, ७. १३८,

२. मध्यमस्य प्रचारं च विजिगीषोश्च चेष्टितम्।
उदासीनप्रचारं च शत्रोश्चैव प्रयत्नतः॥ मनु, ७.१५५,

३. अनन्तरमरिं विद्यादरिसेविनमेव च।
अरेरनन्तरं मित्रमुदासीनं तयाः परम्॥ मनु, ७. १५८,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपाय

अपनी राज्य व्यवस्था के संचालन तथा अन्य राज्यों पर विजय प्राप्त करने और अपने राज्य को सुदृढ़ करने के लिए राजा को चार उपायों का और षाड्यगुण्य नीति का आश्रय लेना पड़ता है। भारतीय राजनीति में इन चार उपायों का नाम, साम, दान, भेद और दण्ड दिया गया है।[1] मनु ने इनके प्रयोग की व्यवस्था की है। उन्होंने यह संकेत किया है कि विजय के अभिलाषी राजा को अपने परिपंथियों को साम आदि समस्त उपायों के द्वारा वश में करना चाहिए।[2] यदि प्रथम तीन उपाय (साम, दान और भेद) के दारा उनको वश में न किया जा सकता हो तो चौथे उपाय का प्रयोग करना चाहिए अर्थात् दन्ड के द्वारा शत्रुओं का दमन करना चाहिए।[3] इन उपायों के सन्दर्भ में मनु ने पूर्वाचार्यों के मत का निर्देश करते हुए कहा है कि इन चार उपायों में साम और दण्ड विशेष प्रशंसनीय है[4] मनु स्वयं दण्ड को एक विवशता का साधन स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार पहले तीन उपायों का अलग-अलग या एक साथ प्रयोग होना चाहिए किन्तु उन तीनों उपायों के विफल हो जाने पर जब कोई अन्य मार्ग न रह जाए तब दण्ड का उपयोग करना उचित होता है।[5]

षाड्यगुण्य मंत्र

उपर्युक्त चार उपायों के कार्यान्वियनके लिए षाड्यगुण्य मंत्र का उपयोग किया जाता है। यह मंत्र षाड्यगुण्य इसलिए कहा जाता है कि इसके छः

१. एवं विजयमानस्य ये, स्य स्युः परिपन्थिनः।
तानानयेद्वशं सर्वान्सामादिभिरुपक्रमैः॥ मनुस्मृति, ७.१०७, कुल्लूक टीका,

२. मनु, ७. १०७

३. यदि ते तु न तिष्ठेयुरुपायैः प्रथमैस्त्रिभिः।
दण्डेनैव प्रसह्यतांश्छनकेर्वशमानयेत्॥ मनु, ७. १०८

४. सामादीनामुपायानां चतुर्णामपि पण्डिताः।
समदण्डौ प्रशंसन्ति नित्यं राष्ट्राभिवृद्धये॥ मनु, ७. १०९,

५. साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक्।
विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन्॥
त्रयाणामप्युपायानां पूर्वोक्तानामसम्भवे।
तथा युध्येत सम्पन्नो विजयेत रिपून्यथा॥ मनु, ७.१९८, २००,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंग या गण हैं। छः अंग सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संचय और द्वैधीभाव है।[1] इन गुणों का प्रयोग समय, परिस्थिति एवं स्थानको ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए। इनके सम्यक् प्रयोग पर ही राजा का भविष्य तथा विजय निर्भर रहता है। मनु इनमें से प्रत्येकके दो-दो प्रकार करते हैं। सन्धि के दो भेद करते हुए मनु ने समानकर्मा सन्धि और असमानकर्मा सन्धि दो भेद किया है। इसमें समानकर्मा सन्धि तत्कालिक या भविष्य के लाभ की इच्छा से किसी दूसरे राजा से मिलकर शत्रु पर चढ़ाई करना है। उसी प्रकार तत्कालिक या भविष्य के लाभ की इच्छा से किसी राजा से इस प्रकार की सन्धि करना कि आप एक ओर जाइये और मैं दूसरी ओर जाता हूँ, इस तरह पृथक-पृथक शत्रू पर चढ़ाई करना असमानकर्मा या असमानधर्मा सन्धि है। मनु ने सन्धि के प्रयोग की परिस्थति का निर्देश करते हुए कहा है कि जब राजा भविष्य में अपने सेना आदि का निश्चित रूप से अधिकता एवं सबलता और वर्तमान में अपनी दुर्बलता या थोड़ी हानि समझता हो तो ऐसी स्थिति में उसके लिए सन्धि का आश्रय लेना श्रेयस्कर होता है।

'विग्रह' का तात्पर्य हैं विरोध या अपकार। जिन परिस्थितियों में राजा को विग्रह का आश्रय लेना चाहिए उनकी चर्चा करते हुए मनु ने कहा है कि जब राजा को यह विश्वास हो कि समस्त प्रकृतियाँ (मंत्री सहृदय, दण्ड कोष आदि) हृष्ट पुष्ट हैं सेना एवं सेनापति में अत्यधिक उत्साह है तो उसे विग्रह का आश्रय लेना चाहिए।[2] मनु ने विग्रह के भी दो भेद किये हैं। प्रथम है—स्वयंकृत विग्रह। स्वयंकृत विग्रह वह है जिसमें राजा किसी अन्य राजा से अपने लाभ के लिए समय या असमय में युद्ध छेड़ देता है इसे स्वयंकृत इसलिए कहा जाता है कि विग्रह का आश्रय लेने वाला राजा अपनी इच्छा से अपने लाभ के लिए किसी परवसता की स्थिति न होने पर करता है। द्वितीय विग्रह मित्ररक्षात्म विग्रह है। इसमें राजा जब यह देखता है कि उनके मित्र राज्य पर कोई शत्रु राजा आक्रमण कर रहा है या

---

१. संधिं च विग्रहं चैव यानमासनमेव न।
द्वैधीभावं संश्रयं च षड्णांश्चिन्तयेत्सदा ॥ मनु, ७. १६०,

२. यदा प्रहृष्टा मन्येत सर्वास्तु प्रकृतीर्भृशम्।
अत्युच्छ्रितं तथाऽऽत्मानं तदा कुर्वीत विग्रहम् ॥ मनु०, ७. १७०;

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके मित्र राज्य को हानि पहुँचाई जा रही है, ऐसी स्थिति में मित्र पर आक्रमण करने वाले राज्य के साथ वह विग्रह का आश्रय लेता है अर्थात् उस पर आक्रमण करता है, उसकी हानि के लिए प्रयास करता है या उसका अपहार करता है।[१]

'यान' शत्रु की ओर आक्रमण की नियत से जाना है। मनु ने यान के दो भेद बतलाएँ हैं। प्रथम है--एकाकीयान और दूसरा है--मित्र-संहतयान। एकाकी यान में राजा अपने शत्रु को विपत्ति में फंसा देखकर अपनी इच्छा से बिना किसी मित्र की सहायता लिए आक्रमण के अभिप्राय से उसकी ओर अपनी सेना भेज देता है। किन्तु जब वह यह समझता है कि शत्रु आपत्ति में है परन्तु उसपर अकेले विजय प्राप्त करना सम्भव नहीं है तब अपने मित्र राज्यों की सहायता से उसकी ओर आक्रमण के अभिप्राय से अपनी सेना भेजता है। यह मित्रसंहतयान है। क्योंकि इसमें मित्रों की सहायता ली जाती है।[२] यान की परिस्थिति का संकेत करते हुए मनु ने कहा है कि जब राजा अपनी सेना आदि को हृष्ट-पुष्ट समझता हो और शत्रु की सेना को दुर्बल समझता हो तो उसे यान का आश्रय लेना उचित होता है।

'आसन' का तात्पर्य है किसी समय या परिस्थिति की प्रतीक्षा में चुपचाप बैठे रहना। आसन के भी मनु ने दो भेद किए हैं प्रथम आसन वह है जब राजा अपने पुराने कर्मों के कारण अथवा दुर्भाग्यवश अपनी सेना अपने कोष आदि को क्षीण पाता है अथवा समर्थ होने पर भी अपने ऊपर किसी प्रकार का भार नहीं लेना चाहता, इन दोनों स्थितियों में वह चुपचाप बैठा रहता है। दूसरे प्रकार का आसन वह है जब राजा अपने मित्र राजा के अनुरोध से मौन होकर बैठा रहता है।[३] आसन की परिस्थिति का उल्लेख करते हुए मनु ने कहा है कि जब राजा अपने वाहन, सेना,

---

१. स्वयंकृतश्च कार्यार्थमकाले काल एव वा।
मित्रस्य चैवापकृते द्विविधो विग्रहः स्मृतः॥ मनु०, ७. १६४,

२. एकाकिनश्चात्ययिके कार्ये प्राप्ते यदृच्छया।
संहतस्य च मित्रेण द्विविधं यानमुच्यते॥ मनु० ७. १६५,

३. क्षीणस्य चैव क्रमशो दैवात्पूर्वकृतेन वा।
मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम्॥ मनु०, ७. १६६,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आमात्य आदि शक्तियों को अत्यन्त दुर्बल समझता हो तब प्रयत्न पूर्वक शत्रु राजा को शांत रखकर स्वयं चुपचाप बैठा रहे। शत्रुराजा को शांत करने की बात इसलिए आवश्यक है कि शत्रु की ओर से किसी प्रकार का आक्रमण न हो जाए।[1]

'संश्रय' अपने को दूसरे के आश्रय में समर्पित करना अथवा दूसरे का आश्रय लेना है। संश्रय की प्रस्थिति का संकेत करते हुए मनु ने कहा है कि जब राजा अपने पर शत्रु सेना का प्रबल आक्रमण देखता हो और दुर्ग में रहने पर भी अपने को सुरक्षित न समझता हो ऐसी स्थिति में उसे किसी बलवान राजा के आश्रय में चला जाना चाहिए।[2] मनु ने संश्रय के भी दो भेद किए हैं। प्रथम संश्रय उसी स्थिति में बतलाया गया है जब शत्रु से पीड़ित राजा किसी अन्य राजा की शरण लेता है और दूसरा संश्रय वह है जिसमें पीड़ित राजा सज्जनों के साथ अधिक सम्पर्क स्थापित करने के लिए अन्य राजा की शरण लेता है।[3]

द्वैधीभाव में राजा अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए अपनी सेना को दो भागों में विभक्त कर देता है, एक भाग को अपने सेनापति के अधीन रखकर दूसरे भाग को अपने अधीन रखकर दोनों को अलग-अलग प्रदर्शित करता है। इसके भी दो भेद होते हैं, प्रथम द्वैधीभाव स्वार्थ सिद्धि के लिए होता है और दूसरा द्वैधीभाव शत्रु से रक्षणार्थ होता है।[4] द्वैधीभाव की परिस्थिति का संकेत करते हुए मनु ने कहा है कि जब राजा अपने शत्रु को सब प्रकार से बलवान समझे, तब अपनी सेना को दो भागों में विभक्त कर एक भाग को सेनापति के अधीन कर शत्रु को रोकने के

---

१. यदा तु स्यात्परिक्षीणो वाहनेन वलेन च।
तदासीत प्रयत्नेन शनकैः सांत्वयन्नरीन् ॥ मनु०, ७. १७२,

२. यदा परबलानां तु गमनीयतमो भवेत्।
तदा तु संश्रयेत्क्षिप्रं धार्मिकं बलिनं नृपम् ॥ मनु०, ७. १७४,

३. अर्थसंपादनार्थं च पीड्यमानस्य शत्रुभिः।
साधुषु व्यपदेशार्थं द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥ मनु०, ७. १६८;

४. बलस्य स्वामिनश्चैव स्थितिः कार्यार्थसिद्धये।
द्विविधं कीर्त्यते द्वैधं षाड्गुण्यगुणवेदिभि ॥ मनु० ७. १६७,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिये रखे तथा दूसरे भाग को अपने अधीन रखकर अपने किला आदि को सुरक्षित रखे।

मनु ने राज्य के सप्तांगों के वर्णन में विशेष रूप से दण्ड, दण्ड की प्रक्रिया, दण्ड के विधान, दण्ड में साक्षी, तथा किस अपराध पर कितना दण्ड देना चाहिए, दण्ड का क्या आधार होना चाहिए, साक्षी आदि किस प्रकार के होने चाहिए, आदि का विस्तार में निरूपण किया है। याज्ञवल्क्य ने भी व्यवहाराध्याय में इसका विस्तार से निरूपण किया है। अन्य अंगों का वर्णन सामान्य रूप से किया गया है। इससे यह लगता है कि धर्मशास्त्रों की दृष्टि में सामाजिक व्यवस्था को भलीभाँति स्थिर रखने तथा सुचारु रूप से चलाने के लिए दण्ड का विशेष महत्त्व है। धर्मशास्त्रों में वर्णित अपराधों को मुख्य निम्न वर्गो में विभक्त किया जा सकता है-- शरीर से सम्बन्धित अपराध साहस, हत्या, चोट पहुँचाना आदि। धन से सम्बन्धित अपराध--चोरी, ऋण तथा धरोहर का देना आदि, आचार से सम्बन्धित अपराध-मिथ्याभाषण, झूठी गवाही, अपराध छिपाना आदि, इसीके अन्तर्गत यौन सम्बन्धी अपराध को भी रखा जा सकता है।

इन अपराधों के सम्बन्ध में धर्मशास्त्रों में दण्ड और प्रायश्चित दोनों का विधान है, इसलिए यह कहा जा सकता है कि दण्ड के सम्बन्ध में धर्मशास्त्रों ने भय क्षति-पूर्ति, सुधार और शुद्धि करण के सिद्धान्त को चरितार्थ करने का प्रयास किया है। अपराध के लिए शारीरिक दण्ड देना भय और प्रतिशोध का द्योतक है। अर्थदण्ड तथा जिसके प्रति अपराध किया गया हो उसको अर्थादि दिलाना क्षतिपूर्ति के सिद्धान्त का समर्थन करता है। अपराध के लिए प्रायश्चित का विधान सुधार और शुद्धिकरण का समर्थक है।

राज्य के अन्य अंगों में राजा, मंत्री, आदि के कर्त्तव्यों का विधान कर धर्मशास्त्रों ने राजा पर धर्म और नैतिक नियम का, अंकुश लगाया है। इसलिए धर्मशास्त्रों का राजतंत्र निरंकुश राजतंत्र नहीं होकर धर्मनियंत्रित राजतन्त्र ही है।

धर्मशास्त्रों में राजा के कर्त्तव्यों में प्रजा रक्षण और उसके गुणों आदि में युद्ध आदि को विशेष महत्त्व दिया गया है। युद्ध और युद्ध में मरनेवालों तथा धर्म युद्ध करने वाले को विशेष महत्त्व देना; विश्व की शान्ति व्यवस्था

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की दृष्टि से अनुचित अवश्य लगता है किन्तु तत्कालीन समाज की व्यवस्था की दृष्टि से यह उस युग की मनोवृत्ति का परिचायक है।

इस प्रकार धर्मशास्त्रों में राज्य और दण्ड के विविध पक्षों के निरूपण के द्वारा यह दिखलाने का प्रयास किया गया है कि राजा दैवी शक्ति सम्पन्न है फिर भी धर्म के अधीन है। राजा भी अपने कर्त्तव्यों के पालन के लिए बाध्य है। उसका मुख्य कर्त्तव्य प्रजा का रक्षण करना, नियम की व्यवस्था करना तथा सभी को अपने धर्म के अधीन रखना है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपसंहार

धर्मशास्त्रों में समाज-दर्शन सम्बन्धी जो तथ्य उपलब्ध हुए हैं उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि धर्मशास्त्रों की दृष्टि में समग्रता तथा समन्वय का विशेष महत्त्व है। समग्रता से हमारा तात्पर्य यह है कि धर्मशास्त्रों ने समाज के सम्बन्ध में विवेचन करते समय केवल मानव और उसके सम्बन्धों तक ही अपने को सीमित नहीं रखा है अपितु सृष्टि, विश्व ब्रह्माण्ड, चर-अचर प्राणियों के सन्दर्भ में मानव के स्वरूप उसके कार्य और कर्त्तव्य को देखने का प्रयत्न किया है। जब हम इसे समन्वयवाद कहते हैं तो हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि इसमें विविध विचारधाराओं का समन्वय किया है अपितु हम यह कहना चाहते हैं कि यहाँ व्यष्टि और समष्टि दोनों में से किसी एक को महत्त्व देकर दूसरे की अपेक्षा नहीं की गयी है अपितु समष्टि के सन्दर्भ में व्यष्टि को और व्यष्टि के सन्दर्भ में समष्टि को रखकर दोनों के बीच सन्तुलन, सामञ्जस्य एवं समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया गया है। साधारणतया यह मान लिया जाता है कि धर्मशास्त्रों में भोगवाद की स्थापना हुई है और उसका मोक्षवाद भी व्यक्ति वाद या व्यष्टिवाद का पोषक और समर्थक है किन्तु गम्भीरता से विचार करने पर यह लगता है कि धर्मशास्त्रों की दृष्टि न भोगवादी है न व्यक्तिवादी। भोग की इच्छा मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है उसका निषेध या विरोध यथार्थ या तथ्य का विरोध है। मनुष्य सुखभोग के लिए अनेक यत्न करता है तथा अनेक कष्ट उठाने के लिए उद्यत रहता है। धर्मशास्त्रों के स्वर्गादि की मान्यता का उद्देश्य यह है कि मानव की भोगात्मक प्रवृत्ति बढ़ाने के लिए नहीं है। अपितु उसको प्रेरक बनाकर मानव से त्याग तथा अन्य परोपकारात्मक कार्य कराने के लिए है जिससे व्यक्ति अपना स्वार्थ, अपना हित और अपना लाभ समझकर उन कार्यों को दत्त चित्त होकर करे। उनमें अपना अर्जित धन व्यय करे जिसमें व्यष्टि की अपेक्षा समष्टि का कल्याण अधिक है यह मानव की भोग प्रवृत्ति को बढ़ाने का प्रोत्साहन नहीं है उस स्वाभाविक धारा को मोड़कर उससे सत्कार्य की ओर ले जाने की सद्योजना है। इस प्रकार समग्रता की स्थापना से धर्मशास्त्रों का समाज-दर्शन मानव के लिए सब कुछ है मानव किसी के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं इस प्रकार की मान्यता का विरोध करता है। यहाँ मानव को श्रेष्ठता अवश्य मिली है किन्तु वह श्रेष्ठता भोग मूलकता में निहित नहीं है वह पुरुषार्थ साधकता में निहित है अन्य सभी दृष्टियों के विश्व, ब्रह्माण्ड चर-अचर प्राणी तथा मानव में परस्पर सहयोगात्मक सम्बन्ध अपेक्षित हैं। मानव विश्व के समस्त प्राणी से उपकृत होता है उनसे अपना जीविका निर्वाह करता है अतः उनके प्रति उनकी रक्षा, उनके अस्तित्व और विकास के लिए भी उसका प्रयत्न अपरिहार्य है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि धर्मशास्त्रों का समाज-दर्शन 'व्यष्टि को समष्टि के लिए और समष्टि को व्यष्टि के लिए,' के सिद्धान्त का समर्थन कर दोनों के सह-अस्तित्व, दोनों के सहयोग तथा दोनों के विकास को महत्त्व देकर अपने समन्वयात्मक दृष्टिकोंण का परिचय देता है।[१]

धर्मशास्त्रों की इस समन्वयात्मक प्रवृत्ति का समर्थन भोग और त्याग प्रवृत्त और निवृत्त, सकाम और निष्काम, इहलोक और परलोक, अपर पुरुषार्थ एवं पर पुरुषार्थ के उभय पक्षों के समन्वय में भी स्पष्ट दीखता है। धर्मशास्त्रों में भोग के अत्यन्त त्याग (जैसे—श्रमण संस्कृति में प्राप्त होता है) को प्रोत्साहन नहीं दिया गया है क्योंकि यह एक प्रकार से मानव स्वभाव का विरोध है और केवल खोखला आदर्श बनकर रह सकता है। समस्त इन्द्रियों, मन और बुद्धि के समस्त स्वाभाविक प्रवृत्ति को दमन करने वाले साधन कुछ लोगों के लिए तथा कुछ समय के लिए स्वीकार्य भले हो जाए पर सबके लिए और सदा के लिए उनका आचरण सम्भव नहीं हो सकता। दूसरी ओर असीमित भोग वान्छाओं को लेकर भोगों की खोज में दौड़ता हुआ अधीर मानव अपने अतृप्त मन में निराशा, कुण्ठा, ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिशोध आदि को पाले बिना नहीं रह सकता वह प्रतिस्पर्धा, संघर्ष, कलह, असहयोग, अत्याचार, अपराध आदि मनोवृत्तियों के युक्त समाज का ही निर्माण करेगा। धर्मशास्त्रों का समाज-दर्शन इन दोनों अतिवादों से बचने के लिए त्याग-पूर्वक भोग और भोगपूर्वक त्याग का मध्यम मार्ग प्रशस्त करता है। यहां प्रत्येक भोग के पहले त्याग अपेक्षित है यहाँ तक कि गृहस्थ को अपने भोजन के पूर्वबलिवैश्वदेव आदि के निमित्त भोजन का अंश निकालना आवश्यक है और सहसा सन्यास के

---

१. याज्ञवल्क्य स्मृति, प्रायश्चिताध्याय, १४५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समर्थन की अपेक्षा गृहस्थ से वानप्रस्थ और वानप्रस्थ से सन्यास में ले जाने के मार्ग को प्रशस्त कर इनमें भोग पूर्वक त्याग का समर्थन हुआ है।

धर्मशास्त्रों के समन्वय दृष्टि का एक उदाहरण हमें नियतिवाद या भाग्यवाद एवं संकल्प स्वातंत्र्य या पुरुषार्थवाद के समन्वय में प्राप्त होता है। धर्मशास्त्रों के दृष्टिकोंण मे नियतिवाद परिलक्षित अवश्य होता है इनमें पूर्व कर्म के आधार पर जन्म, जीवन और भोग का स्पष्ट समर्थन है। पूर्व कर्मों की प्रबलता पर विशेष बल भी दिया गया है। मानव के व्यवहार, जाति, परिवेश को जन्म तथा पूर्व कर्म के आधार पर निर्धारित कर नियतिवाद के पक्ष का बहुत दूर तक समर्थन हुआ है किन्तु इतने से इसे नियतिवादी, देववादी या भाग्यवादी मान लेना उचित न होगा। क्योंकि यहाँ मानव के साधक स्वरूप पर बल दिया गया है उसे अपने पुरुषार्थ की सिद्धी करनी है वह चारों पुरुषार्थों की सिद्धि में सक्षम है। उसे अपने को अपने अनुसार प्रवृत्त करने का पूरा अधिकार है। वह अपना शत्रु और मित्र दोनों है। यदि वह सद्कर्मो के द्वारा अपना मार्ग प्रशस्त करता है तो इस लोक और परलोक दोनों पर विजय प्राप्त करता है परन्तु यदि वह दुष्कर्मों में लग जाता है, केवल प्रवृत्तियों का दास मात्र बनकर रह जाता है तो उसका परलोक तो जाता ही है यह लोक भी विनष्ट हो जाता है। इसलिए धर्मशास्त्रों ने शास्त्रानुमोदित कर्मों को करने के लिए सदा 'चाहिए' का विधान किया है और निर्देश दिया है कि इस 'चाहिए' के उल्लंघन में व्यक्ति स्वतंत्र अवश्य है परन्तु उसे इसके परिणाम अपयश और अपगति के लिए भी तैयार रहना है। इस प्रकार धर्मशास्त्रों के समाज-दर्शन में जहाँ एक ओर नियतिवाद है वहाँ दूसरी ओर संकल्प स्वातन्त्र्य भी। इसका तात्पर्य यह है कि न तो सब कुछ नियति निर्धारित ही है और न सब कुछ संकल्प मात्र से सम्भव ही है। जहां तक नियति की सीमा है प्रारब्ध कर्म तक और प्रारब्ध फल वहाँ तक उसके महत्त्व को स्वीकार किए बिना अनेक विषम स्थितियों की समुचित व्याख्या सम्भव नहीं है। अतः अपनी सीमा में वह बिल्कुल संगत लगता है किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि सब कुछ पूर्व निर्धारित और निश्चित है अतः मानव को हाथ पर हाथ रखकर बैठने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है। धर्मशास्त्रों की दृष्टि में मानव पुरुषार्थ का साधक है। वह अपने सद् प्रयत्नों से अपना यह जीवन और भावी जीवन सुगम और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुखद बनाने में पूर्ण समर्थ और स्वतन्त्र अवश्य है किन्तु प्रारब्ध से प्राप्त अपनी दुर्बलताओं, अपने जन्म आदि परिवेश को बदलने में वह समर्थ नहीं है। इस प्रकार नियतिवाद और संकल्प स्वातन्त्र्य दोनों का यहाँ समन्वय किया गया है।[1]

धर्मशास्त्रों का समाज-दर्शन पिण्ड और ब्रह्माण्ड में व्यक्ति और समाज में प्रतिकृतिरूपता (स्टेरियोटाइप) के सिद्धान्त का समर्थन करता है। यहां पिण्ड और ब्रह्माण्ड में आकृति मूलक, कार्य मूलक और उद्देश्य मूलक समता है। इसलिए यह कहा जाता है कि, 'यद् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे' अर्थात् जो कुछ भी पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है, पिण्ड को समझना ब्रह्माण्ड को समझना है। उसी प्रकार व्यक्ति और समाज में प्रतिकृतिरूपता है। व्यक्ति सावयवी है और समाज में भी सावयवी है। व्यक्ति के विभिन्न अवयव के स्तर, भूमिका, कार्य निश्चित एवं निर्धारित है उसी प्रकार समाज के विभिन्न अवयव के स्तर भूमिका कार्य निश्चित एवं निर्धारित है। व्यक्ति अपने अंगों को तथा उनके कार्यो को स्थानान्तरित नही कर सकता है उसी प्रकार समाज के अंगों तथा उनके विशिष्ट कार्यों का स्थानान्तरण भी सम्भव नहीं है। प्रत्येक वर्ग के स्तर, भूमिका एवं कार्य को इसके उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

धर्मशास्त्रों के समाज-दर्शन में सामाजिक-व्यवस्था कर्त्तव्य मूलक या धर्ममूलक आधार पर आधारित हैं। अतः इसे कर्त्तव्याश्रित समाज-व्यवस्था या धर्माश्रित समाज-व्यवस्था कहा जा सकता है। कर्तव्याश्रित समाज-व्यवस्था अर्थाश्रित समाज-व्यवस्था से भिन्न है। अर्थाश्रित समाज-व्यवस्था में व्यक्ति धन, लाभ, भोग आदि के लिए किसी कार्य का चयन करता है तथा उसका सम्पादन करता है। अपने अर्थ संचय के लिए वह कानून या व्यवस्था के मर्यादा में रहकर उन सब कार्यो का सम्पादन कर सकता है जिससे उसे अधिकाधिक लाभ प्राप्त हो सके। कर्म के चुनाव में उसे यह ध्यान रखना पड़ता है कि किस कर्म से उसे कितना आर्थिक लाभ सरलता से प्राप्त हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अर्थाश्रित समाज-व्यवस्था में कर्त्तव्य का चुनाव उसका सम्पादन, उससे होनेवाले

---

१. याज्ञवल्क्य स्मृति, आचाराध्याय, ३५१;
यथा ह्येकेन चक्रेण रथस्य न गतिर्भवेत्।
एवं पुरुष कारेण बिना दैवं न सिद्धयति ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आर्थिक लाभ की अधिकता और कमी को ध्यान में रखकर किया जाता है। किसी व्यक्ति को ऐसे कार्य करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता जिससे उसको समुचित लाभ न होता हो। अर्थाश्रित समाज-व्यवस्था में व्यक्ति अपने श्रम का विक्रय करता है। और विक्रय में यह सिद्धान्त मान्य है कि बेचने वाला कम से कम वस्तु का अधिक से अधिक मूल्य चाहता है और खरीदने वाला अधिक में अधिक वस्तु के बदले में कम से कम मूल्य देना चाहता है। परिणाम यह होता है कि इससे या तो श्रम की चोरी या 'शोषण का जन्म' स्वाभाविक रूप से होने लगता है। जहाँ व्यक्ति यह समझता है कि कम से कम श्रम में अधिक से अधिक लाभ लेना सम्भव है वहाँ वह अपनी योग्यता और अपेक्षा के अनुसार श्रम न कर कम से कम श्रम में अधिक लाभ ले लेता है इस प्रकार श्रम की चोरी की वृत्ति पनपती और विकसित होती है। या दूसरी ओर श्रम क्रय करने वाला जहाँ यह समझता है कि कम से कम दाम में अधिक से अधिक श्रम खरीदा जा सकता है क्योंकि विक्रय करने वाले को इस समय अर्थ की आवश्यकता है तो वहाँ श्रम का दुरुपयोग और श्रमिक का शोषण अनिवार्य परिणाम के रूप में आता है। कर्त्तव्यमूलक समाज-व्यवस्था में इस प्रकार के श्रम के स्तेय, वञ्चना, दुरुपयोग और शोषण सम्भव नहीं है। यहां व्यक्ति न श्रम बेचता है और न खरीदता है। यहाँ श्रम को उससे प्राप्त होने वाले धन, सम्पत्ति के आधार पर नहीं आँका जाता है। यहाँ श्रम कर्तव्य या धर्म है। जिस व्यक्ति का जो धर्म है उसे करने के लिए उसको किसी लाभ से प्रेरित होकर नहीं करना है। उससे मिलने वाला ऐहिक फल कम हो या अधिक उससे कर्त्तव्य के महत्त्व में कमी अधिकता का आना सम्भव नहीं है। यहाँ कर्त्तव्य का पालन नैतिक उत्थान है और उससे भावी जन्म में प्रगति सम्भव है अतः इस लोक में होने वाला लाभ उसका वास्तविक मूल्य नहीं है। इस धारणा के कारण कर्त्तव्य मूलक सामाजिक व्यवस्था में कम या कर्त्तव्य का प्रेरक अर्थ नहीं होता अपितु नैतिक प्रगति होती है जिससे होने वाला अदृष्ट लाभ दृष्ट लाभ से अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। इस मान्यता के आधार पर कार्य करने वाला व्यक्ति कभी भी अपनी योग्यता, क्षमता को छिपाकर श्रम की चोरी नहीं कर सकता क्योंकि उसकी यह मान्यता रहती है कि ऐसा करने से वह धर्म विरत होगा उसका नैतिक पतन हो जाएगा और भावी जीवन में उसे अवगति प्राप्त होगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह धारणा उसे कर्त्तव्यनिष्ठ बनाने में सहायक होती है जिससे कर्त्तव्य-मूलक समाज व्यवस्था में संघर्ष का अवसर नहीं रहता। यहां व्यक्ति प्रतियोगिता, अर्थोपार्जन आदि को लक्ष्य न मानकर कर्तव्य धर्म या नैतिक प्रगति को ध्यान में रखकर अपनी शक्ति क्षमता और निष्ठा के अनुरूप अपने निर्धारित कर्मों का यथावत् सम्पादन करता है। कर्त्तव्यमूलक समाज-व्यवस्था में 'शोषण के भाव का उदय नहीं हो पाता क्योंकि यहाँ श्रम का विक्रय नहीं होता। कोई व्यक्ति न तो अपना श्रम बेचता है और न दूसरा उसे क्रय करता है जिससे अवसर के लाभ उठाने की भावना पनप ही नहीं पाती है। श्रम करने वाला अपने श्रम के केवल उसी अंश का मूल्य चाहता है जिससे उसके जीविका का निर्वाह हो सके शेष श्रम वह व्यापक समाज हित और अपने परलोक के लिए करता है। दूसरी ओर उसके श्रम से लाभान्वित होने वाला कोई व्यक्ति विशेष नहीं होता अपितु व्यापक समष्टि होती है जिससे शोषण के भाव को उत्पन्न होने का अवसर ही नहीं रहता है।

धर्मशास्त्रों के समाज-दर्शन में यथार्थ की उपेक्षा नहीं हुई है अपितु उसका सही आकलन हुआ है उसमें यह स्पष्ट है कि यथार्थ तक सीमित रखकर मानव में उदात्त गुणों का प्रत्यारोपण सम्भव नहीं है और उदात्त गुणों के विकास बिना मानव संस्कृति मात्र प्राकृतिक व्यवस्था रहेगी जो पाशविक जीवन से उच्चतर होने का दावा ही नहीं कर सकती। अतः धर्म-शास्त्रों के समाज-दर्शन में यथार्थ को आदर्श की ओर ले जाने उससे जोड़ने औरआदर्श तथा यथार्थ में एकता स्थापित करने के लक्ष्य को विशेष महत्त्व दिया गया है। वह समाज-दर्शन न तो समाज एवं व्यक्ति को पूर्ण एवं स्वतन्त्र मानकर उसको अपनी मर्जी पर छोड़ देता है और न उसे सदा अपूर्ण रहने वाला मानकर यथास्थिति बाद का ही समर्थन करता है। यह समाज-दर्शन मानव तथा मानव समाज को अपूर्णता से पूर्णता की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर, भोग से अपवर्ग की ओर, प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर ले जाने का मार्ग प्रशस्त करता है। जिससे यथार्थ का हनन नहीं होता। अपितु वह परिमार्जित, परिशोधित एवं विकसित होकर आदर्श की ओर अग्रसर होता हुआ आदर्श के साथ एकीभूत हो जाता है। मानव में मानवता या पशु शरीर में देवत्व की प्राप्ति ही इस समन्वय का अन्तिम लक्ष्य है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्मशास्त्रों के समाज-दर्शन में सामाजिक-व्यवस्था, सामाजिक संस्थाएं, व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध आदि उसके व्यापक दार्शनिक सिद्धान्त या दार्शनिक पूर्व मान्यताओं पर आधारित एवं प्रतिष्ठित है। धर्मशास्त्रों के सामाजिक सिद्धांतों के आधार भूत दार्शनिक पूर्व मान्यताओं के प्रमुख तीन अंग हैं ब्रह्माण्ड तथा सृष्टि प्रक्रिया के सन्दर्भ में मानव, कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धान्त तथा पुरुषार्थ की अवधारणा।

ब्रह्माण्ड तथा सृष्टि प्रक्रिया के सन्दर्भ में यहकहा जा सकता है कि यह धर्मशास्त्रों का प्रमुख विषय नहीं रहा है। इस सम्बन्ध में धर्मशास्त्रों के विचार बहुत अधिक संगत एवं युक्ति युक्त नहीं लगते हैं। यहां विश्व, ब्रह्माण्ड तथा सृष्टि प्रक्रिया के सम्बन्ध में वैदिक परम्परा का पौराणिक शैली में अनुसरण हुआ है। इसलिए यहां इन विषय का विश्लेषण तथा युक्ति युक्त निरूपण उपलब्ध नहीं होता अपितु पौराणिकता से युक्त वर्णन मात्र प्राप्त होता है। सृष्टि प्रक्रिया में चर-अचर का विकास, उनके परस्पर सम्बन्ध आदि में कर्मवाद की पूर्व मान्यता स्पष्ट दिखती है। संसार का विकास कर्मफल के भोग के लिए है। प्राणी का विविध योनियों में जन्म उसके पूर्व जन्मों के किए गए कर्मों के आधार पर निर्धारित होता है। इन योनियों में उत्तम, मध्यम, अधम भेद, इसके कारण, पूर्वजन्म के पुण्य और पाप आदि स्पष्ट रूपसे कर्म के सिद्धान्त से निर्गमित तथा धार्मिक विश्वासों से स्वीकृत मान्यताएं हैं। सृष्टि प्रक्रिया में क्रमिकता, विकास सोपान जीवों की क्रमिक उत्पत्ति आदि का वर्णन भी धर्मशास्त्रों में उपलब्ध है किन्तु इस सन्दर्भ में प्राप्त सामग्रियों के आकलन से ऐसा लगता है कि उसमें वैज्ञानिकता की अपेक्षा पौराणिकता एवं धार्मिक-भावना का विशेष महत्त्व है।

धर्मशास्त्रों के समाज-दर्शन में दूसरी दार्शनिक पूर्वमान्यता कर्मवाद और पुर्वजन्मका सुप्रसिद्ध सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त भारतीय दर्शन, जीवन, संस्कृति एवं धार्मिक तथा सामाजिक व्यवस्था के आधारभूत सिद्धान्त के रूप में स्वीकृत हैं। कर्मवाद और पुनर्जन्म के सम्बन्ध में भारतीय विचार-धारा में दो प्रकार के निरूपण उपलब्ध होते हैं। इनमें से एक को युक्त-मूलक या तार्किक निरूपण तथा दूसरे को आस्थामूलक या धर्मशास्त्रीय निरूपण कहा जा सकता है। इसमें तार्किक निरूपण के उदाहरण के रूप में भारतीय दर्शनशास्त्रों में उपलब्ध कर्मवाद तथा पुनर्जन्म के निरूपण को लिया जा सकता है। जहाँ इसकी स्थापना विभिन्न तत्त्वमीमांसीय दृष्टि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोणों के आधार पर युक्तियुक्त एवं तर्क संगत रूप में की गयी है। किन्तु पुराणों तथा धर्मशास्त्रों में इसको सिद्धकरने का प्रयास नहीं किया गया है। अपितु आस्था के आधार पर कर्मवाद एवं पुनर्जन्म के विविध उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। कर्मवाद और पुनर्जन्म के तार्किक निरूपण में सम्बन्धित तत्त्वमीमांसा से संगति की स्थापना का विशेष महत्त्व है। अतः तत्त्वमीमांसा के सिद्धान्तों के आधार पर इसकी व्याख्या के लिए सम्बन्धित तत्त्वमीमांसा के पोषक तर्कों का ही उपयोग किया गया है। बौद्ध दार्शनिक अपने तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त क्षणभंगवाद, प्रतीत्य समुत्पाद एवं अनात्मवाद के पोषक तर्कों से कर्मवाद और पुनर्जन्म की स्थापना करना चाहते हैं। जैन दार्शनिकों ने अपनी अनेकान्तवादिता, एवं कर्म के पुद्गलरूपता आदि के पोषक तर्कों से कर्मवाद और पुनर्जन्म की स्थापना करने का प्रयास किया है। अन्य दार्शनिकों ने आतमवाद, ईश्वरवाद, वासना संक्रमण, अदृष्ट, अपूर्व अथवा मायावाद आदि को आधार मानकर कर्मवाद और पुनर्जन्म की व्याख्या की संगति को अपने-अपने तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त के साथ बैठाने का प्रयास किया है। धर्मशास्त्रों में कर्मवाद और पुनर्जन्म के निरूपण का जो स्वरूप उपलब्ध होता है वह उक्त तार्किक निरूपण से नितान्त भिन्न है। यहाँ तर्क और युक्ति की अपेक्षा आस्था, मान्यता, परम्परा, विश्वास तथा शास्त्र प्रमाण पर विशेष बल दिया गया है। परलोक, पुनर्जन्म, शुभ एवं अशुभ गतियों के निरूपण में युक्ति की अपेक्षा आस्था स्पष्ट परिलक्षित होती है। नतो कर्मों के शुभत्व अशुभत्व के प्रतिपादन में कोई तर्क दिया गया है और उनसे प्राप्त होने वाली विविध गतियों की संगति ही स्थापित की गयी है। केवल मान्यता के आधार पर शुभ और अशुभ कर्मों की गणना तथा उन कर्मों से प्राप्त होने वाली गतियों का विस्तार पूर्वक वर्णन कर दिया गया है। किन्तु कर्मवाद और पुनर्जन्म के सम्बन्ध में उपलब्ध सामग्री से यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्मशास्त्रों के समाज-दर्शन में कर्मवाद और पुनर्जन्म के सिद्धान्त एक सर्वमान्य एवं आधारभूत सिद्धान्त है। इसके आधार पर अनेक व्यवस्थाओं और विषमताओं की व्याख्या की गयी है। इसे अपरिहार्य रूप में स्वीकार किया गया है।

धर्मशास्त्रों के समाज दर्शन की तीसरी दार्शनिक पूर्व मान्यता पुरुषार्थ की अवधारणा है। यह एक ओर कर्मवाद और पुनर्जन्म से जुड़ा हुआ है और दूसरी ओर विश्व ब्रह्माण्ड, व्यक्ति और सृष्टि प्रक्रिया से। पुरुषार्थ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की अवधारणा भी धर्मशास्त्रों की कोई अपनी विशिष्ट अवधारणा नहीं है अपितु भारतीय दर्शनों की एक सामान्य एवं प्रायः सर्वमान्य अवधारणा है। पुरुषार्थ की अवधारणा के आधार पर भारतीय मनीषियों ने जगत् की सोद्देश्यता, सृष्टि की व्यवस्था, मानव जीवन के लक्ष्य एवं आदर्श की स्थापना की है। धर्मशास्त्रों के समाज दर्शन में भी यह सामान्य धारणा स्वीकृत है कि सृष्टि सोद्देश्य है। यहाँ न स्वच्छन्दता है, न अव्यवस्था अपितु पूर्ण नियन्त्रण और व्यवस्था है। यह जगत् प्राणियों के पूर्व जन्म के कर्मों के आधार पर उनको अपने कर्मों के फल (सुख-दुःख) दिलाने के लिए पूर्ण नियन्त्रित और व्यवस्थित रूप से विकसित हुआ है। समस्त प्राणी इस जगत् में जो कुछ सुख या दुःख भोगते हैं वह उनके अपने ही कर्मों का परिणाम है और वह उन्हें अवश्यमेव भोगना है। किन्तु पुरुषार्थ की मान्यता मानव को सृष्टि में अन्य प्राणियों की अपेक्षा गौरवपूर्ण स्थान प्रदान करने में सहायक है। जहाँ अन्य प्राणी सृष्टि चक्र या संसार-चक्र में अपने कर्म भोग मात्र के निमित्त और नियन्त्रित है वहां मानव सृष्टि में स्वतन्त्रता और संकल्प लेकर आया है। वह कुछ सीमा तक नियमित और नियन्त्रित अवश्य है किन्तु उसकी विशेषता उसकी पुरुषार्थ सार्थकता में है जो उसके स्वतन्त्र संकल्प पर निर्भर है। पुरुषार्थ में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों का स्पष्ट निरूपण हुआ है। इनमें मानव के यथार्थ और आदर्श के समन्वय का प्रयास भी स्पष्ट दीखता है। यहां स्वाभाविकता या यथार्थता को उसी रूप में स्वीकार करने का निर्देश नहीं है अपितु उसे परिशोधितकर उसे परिष्कृत यथार्थ या आदर्शोन्मुख यथार्थ के रूप में बनाने का निर्देश है।

अर्थ मानव की आवश्यकता की पूर्ति का साधन है किन्तु पुरुषार्थ होने के लिए उसे व्यवस्था के विरोधी के रूप में नहीं चलना है उसे धर्म नियन्त्रित होना है। उसके अर्जन, रक्षण, परिवर्धन की स्वतन्त्रता उसको निरपेक्ष साध्य के रूप में उपस्थित नहीं करती अपितु उसकी अपेक्षित महत्त्व को ही स्पष्ट करती है। इसलिए वृत्ति नियन्त्रण, भोगनियंत्रण तथा धार्मिक कार्यों की अवश्यमेव करणीयता आदि द्वारा धन के निःसीम संचय, स्वेच्छारी भोग तथा अपव्यय पर अंकुश लगाया गया है।

धर्म-कर्त्तव्यों की श्रृङ्खला है। जिससे व्यक्ति अपने व्यक्तिगत जीवन को सामाजिक जीवन के साथ जोड़ता है तथा जिससे व्यवस्था बनती है विकसित और दृढ़ होती है। काम-काम मानव की इच्छा की पूर्ति मात्र होकर पुरुषार्थ नहीं बनता अपितु परिष्कृत होकर कला, ललितकला,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सौन्दर्य आदि सुकुमार भावों को विकसित कर पुरुषार्थ का रूप ग्रहण करता है। साथ ही साथ पर पुरुषार्थ रूप मोक्ष-ऐहिकता को पारलौकिकता के साथ तथा भौतिकता को आध्यात्मिकता के साथ समन्वित कर मानव को उच्चतर और उच्चतम मानव के रूप में विकसित होने के लिए पर्याप्त प्रोत्साहन एवं अवसर प्रदान करता है। मानव की मोक्ष साधकता दिकता और देवत्व से ऊपर है। मानव न केवल इस परम पुरुषार्थ का अधिकारी है अपितु वह उसे प्राप्त करने में समर्थ भी है। इसकी प्राप्ति में ही मानव जीवन की पूर्णता और सार्थकता निहित है।

उक्त दार्शनिक पृष्ठभूमि पर धर्मशास्त्रों की सामाजिक व्यवस्था प्रतिष्ठित हुई है। इस सामाजिक व्यवस्था के दो अविभाज्य अंग हैं, एक वर्ण व्यवस्था और दूसरी है आश्रम व्यवस्था। वर्ण व्यवस्था समाज के समस्त कार्यों का विभिन्न वर्गों में विभाजन है जिससे व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक जीवन में संतुलन बना रहे और व्यक्ति के समुचित विकास के साथ सामाजिक व्यवस्था में स्थायित्व बना रहे।

वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत सामान्यतया चारो वर्णों की उत्पत्ति उनके समान्य और विशेष कार्य तथा उनके परस्पर सम्बन्ध का निरूपण होता है। किन्तु गम्भीरता से विचार करने पर वर्ण व्यवस्था में कुछ ऐसी विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं जिनका सार्वभौम महत्त्व है अर्थात् किसी भी समाज के लिए किसी भी समय में उन विशेषताओं का आश्रय सामाजिक व्यवस्था में सुदृढ़ता तथा व्यक्तिगत जीवन में सुख शान्ति स्थापन के लिए आवश्यक ही नहीं अपरिहार्य भी है। वर्ण व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को आजीविका या जीवन-यापन वृत्ति देने का पूर्ण दायित्व समाज पर है। समाज का कोई भी व्यक्ति जब जीविका के बिना रहेगा तब समाज में असन्तोष, शोषण और अपराध की भावना जन्म लेगी, पनपेगी और बढ़ेगी। अतः सामाजिक व्यवस्था को बेकारी से उत्पन्न दोषों से बचाने के लिए प्रत्येक समाज के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने व्यक्तियों की आजीविका का पूर्ण दायित्व स्वीकार करे। अर्जन के साधन जब एक स्थान पर संग्रहीत हो जाते हैं तब अनेक लोगों को उससे वंचित होना पड़ता है। इसलिए वर्ण व्यवस्था में यह प्रतिबन्ध लगाया गया है कि व्यक्ति को किसी एक ही और वह भी यथा साध्य अपनी ही (केवल आपत्तिकाल को छोड़ कर) वृत्ति से जीविका का निर्वाह करना चाहिए। किसी भी व्यक्ति को किसी भी दशा में अनेक वृत्तियों को एक साथ अपनाकर अधिक अर्जन और अधिक अपसंचय करने का अधिकार नहीं है। कर्मक्षेत्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में कुशलता, दक्षता एवं निपुणता के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति का कर्मक्षेत्र उसके बाल्यकाल में ही निर्धारित कर दिया जाय। समाज में केवल कुछ प्रतिशत लोग ही इतने मेधावी होते हैं कि वे वंश परम्परा से आगत कर्मक्षेत्र छोड़ कर अन्य कर्मक्षेत्र में कुशल और दक्ष हो जाते हैं किन्तु अधिकांश लोग अपने परम्परागत कर्मक्षेत्र में ही रहना चाहते हैं वह उन्हें सहज, सरल एवं स्वाभाविक लगता है और उस कार्य में वे बिना अधिक प्रयास के ही दक्ष और कुशल बन जाते हैं। इसी सामान्य आधार पर वर्ण व्यवस्था व्यक्ति का कर्मक्षेत्र जन्म से निर्धारण के पक्ष में है। वर्ण व्यवस्था में धन अर्जन धन संचय की पूर्ण स्वतन्त्रता है पर यहाँ एक और वृत्ति नियन्त्रण के द्वारा अपसंचय पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया है। और भोग की स्वाभाविक इच्छा को अधिक प्रोत्साहित नहीं किया गया है। भोग को धर्म, दान और त्याग से इतना बांध दिया गया है कि वह असीमित हो ही नहीं सकता। इस व्यवस्था में व्यक्ति को उसकी योग्यता, क्षमता और श्रम के अनुरूप मूल्य, पारितोषिक या लाभ लेने या देने की बात नहीं है अपितु 'क्षमता और योग्यता के अनुसार कार्य और आवश्यकता के अनुसार उपभोग' के सिद्धान्त का समर्थन किया गया है। जिससे अधिक योग्यता, क्षमता वाले व्यक्ति के कार्यों का लाभ उस व्यक्ति तक पहुँच सके जिसके पास उसका उचित मूल्य देने का साधन नहीं है। इस व्यवस्था में सामूहिक रूप में कार्यों का विभाजन समाज और व्यक्तियों के हित साधन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। साथ ही साथ कर्म को धर्म मानकर उसमें ऐहिकता के साथ पारलौकिकता, अर्थ की भावना के साथ धर्म की भावना, लाभ के साथ पवित्रता का भाव भरकर कर्म को बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया। स्वकर्म की श्रेष्ठता सर्वोपरि सिद्ध कर स्वकर्म में दृढ़ता एवं निष्ठा का अपूर्व प्रयास किया गया है।

आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत कुछ ऐसे तत्त्व उपलब्ध होते हैं जिनका हर समय तथा हर स्थान के लिए महत्त्व है ब्रह्मचर्य आश्रम में शिक्षा की अनिवार्यता, नि:शुल्कता, अनुशासित जीवन व्यवस्था के लिए नियमित और संयमित जीवनशैली आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है। गृहस्थाश्रम सामाजिक व्यवस्था का मेरुदण्ड है। गृहस्थ के ऊपर समाज के समस्त वर्गों एवं विश्व के समस्त प्राणियों के भरण-पोषण का दायित्व है। इस आश्रम में सीमित साधन से न्याय पूर्वक अर्जन और अर्जित धन से त्याग पूर्वक भोग के आदर्श का अनुसरण किया गया है। यहाँ संयम पूर्वक भोग इच्छा तृप्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के साथ धार्मिक संतुष्टि, अर्थ धर्म तथा काम की समन्वित उपलब्धि आर्थिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक तथा ऐहिक एवं पारलौकिक आदर्शों का अभूतपूर्व समन्वय किया गया है। वानप्रस्थ आश्रम एक निश्चित वय के उपरान्त स्वेच्छा से अधिकार और लाभ के पदों के परित्याग पर बल देता है। यह आश्रम सामाजिक जीवन में वयो-वृद्धों को शासन व्यवस्था अपने हाथ में रखने के बदले निर्देशन देने के कार्य का समर्थन करता है। यहाँ वय की अधिकता के साथ भोग से सन्यास की ओर अग्रसर होने के मार्ग का निर्देश दिया गया है। यहाँ वैचारिक स्वतन्त्रता और आध्यात्मिक चिन्तन से समाज की निःशुल्क सेवा को प्रोत्साहित किया जाता है। सन्यास आश्रम पर यह आक्षेप लगाना कि यह जीवन से पलायन की शिक्षा देता है, अत्यन्त भ्रामक है। इस आश्रम में संसार, संग्रह एवं प्रवृत्तिके स्थान पर अपवर्ग त्याग और निवृत्ति के आदर्शों को जीवन में उतारने की प्रक्रिया का प्रशिक्षण मिलता है। यह आश्रम अन्य तीनों आश्रम के लोगों को आध्यात्मिकता तथा नैतिकता के आदर्श को जीवन में उतारने, उच्च विचार और सादा एवं स्वच्छ जीवन का प्रशिक्षण अपने विचार और आचरण दोनों के द्वारा देता है। यहाँ जीवन में संयम की प्रतिष्ठा प्राकृतिक दुर्बलताओं पर विजय, लोक संग्रह लोकोपकार को ध्यान में रखकर अनासक्तभाव से उच्चतर कर्त्तव्यों के सम्पादन आत्मशुद्धि निर्भयता, त्याग, संयम आदि की शिक्षा दी जाती है तथा व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में इनकी प्रतिष्ठा की जाती है। जिससे मानव भौतिकता से आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर हो सके।

समाज-दर्शन में प्राथमिक सामाजिक संस्था के रूप में परिवार को विशेष स्थान प्राप्त है। धर्मशास्त्रों के समाज-दर्शन में परिवार की कुछ अपनी विशेषताएं हैं। परिवार का प्रारम्भ विवाह या पति-पत्नी के मिलन से होता है जहाँ अन्य समाज दर्शनों की दृष्टि में विवाह एक सामाजिक संस्था है जो शारीरिक और मानसिक आवश्यकताओं की पूर्तिमात्र के लिए है वहाँ धर्मशास्त्रों के समाज-दर्शन में विवाह एक धार्मिक संस्कार है। पति-पत्नी का मिलन कोई आकस्मिक घटना नहीं है वह पूर्व जन्मों के संस्कार पर आधारित है उनका परस्पर का सम्बन्ध शारीरिक और मानसिक आवश्यकताओं की अपेक्षा धार्मिक आवश्यकता की पूर्ति पर आधारित है। विवाह में पति-पत्नी का मिलन पहले जन्म तथा अगले जन्म का प्रेम, सहयोग, सहानुभूति और सम्पर्क की लम्बी शृङ्खला की एक कड़ी मात्र है। वह जन्म-जन्मान्तर से आते हुए सम्बन्ध और जन्म-जन्मान्तर तक चलने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाले सम्बन्ध की लम्बी रेखा का एक मिलन बिन्दु मात्र है। पति-पत्नी के सामाजिक सम्बन्ध के साथ शारीरिक रूप में उन्हें अर्धांग और अर्धांगिनी कहकर एक शरीर के दो अविभाज्य अंग के रूप प्रदर्शित किया गया है। उनको सम्मिलित कर्तव्य केवल विषय सुख में चरितार्थ नहीं होता अपितु पञ्चमहायज्ञ के सम्पादन, पितृ ऋण से मुक्ति और समस्त धार्मिक कृत्यों के अनुष्ठान में चरितार्थ होता है। परिवार में पुत्र, पुत्री का जन्म, पालन-पोषण, प्यार, सद्भाव, वात्सल्य के भावों के साथ पारलौकिक सन्तुष्टि प्रदान करता है। परिवार प्रेम, त्याग, सहयोग, संयम, आत्म-नियन्त्रण तथा अनुशासन का सक्षम प्रशिक्षण केन्द्र है। यहाँ संयुक्त अधिकार, सामूहिक स्वामित्व एवं दायित्व की भावना दृढ़ होती है। यहाँ प्रतिस्पर्धा नहीं है सहयोग है। यहाँ श्रमका क्रय-विक्रय नहीं होता अपितु क्षमता के अनुसार अधिकतम श्रम और आवश्यकता के अनुसार न्यूनतम प्राप्ति के आदर्श को पूर्ण रूप से जीवन में उतारा जाता है। यहाँ स्व के विस्तार करने का प्रशिक्षण दिया जाता है। और समाज के लिए कुटुम्ब का उच्चतम आदर्श उपस्थित किया जाता है।

विवाह एक धार्मिक संस्था के रूप में प्रतिष्ठित है इसका जैविकीय, सामाजिक शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक महत्त्व स्वीकार कर धर्मशास्त्रों के समाज-दर्शन इसे अपूर्व गौरवपूर्ण स्थान प्रदान करता है। विश्व के किसी भी समाज दर्शन में विवाह को इतना महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं मिला है जितना धर्मशास्त्रों के समाज-दर्शन में मिला है। यहाँ यह एक प्रथम दृष्टि में प्रेम आकस्मिक मिलन, शारीरिक सुखभोग हेतु संविदा या सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति हेतु एक घटना मात्र नहीं है। यह एक जन्म-जन्मान्तर से आते हुए और आगे चलने वाले प्रेम, सहयोग सम्पर्क के लम्बी श्रृङ्खला की एक छोटी कड़ी है। यह पुनर्जन्म तथा कर्मवाद की मान्यता पर आधारित सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध शरीर और मन तक सीमित न होकर आत्माओं का सम्बन्ध है। विभिन्न जन्मों के शरीर भेदसे भी आतमभेद नहीं हो पाता। धर्मशास्त्रों में विवाह के सम्बन्ध में अनुलोम का अनुमोदन तथा प्रतिलोम की अस्वीकृति में धार्मिक और सामाजिक पहलू के साथ मनोवैज्ञानिक पहलू भी दीख पड़ता है। वर के चयन में कन्या के मन में यह भाव सदा विद्यमान रहता है कि वर का पद स्तर योग्यता, क्षमता कन्या की अपेक्षा उच्च स्तर का हो। इसी प्रकार वर पक्ष के मन में यह भावना कार्यरत रहती है कि कन्या का स्तरपद आदि वर से निम्न हो। इसके विपरीत होने पर दोनों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हीन भावना का उदय होना स्वाभाविक है। अनुलोम की स्वीकृति और प्रतिलोम की अस्वीकृति में यह मनोभाव स्पष्ट ही है। सामाजिक तथा धार्मिक कृत्यों में पत्नी का पति का सहयोग आवश्यक है इन कृत्यों का निर्धारण पति के वर्ण और कुल से निर्धारित होता है। इसलिए भी अनुलोम को मान्यता दी गयी है और विलोम को अस्वीकार किया गया है। विवाह के आठ भेद, वर-कन्या के चयन की आठ प्रक्रिया के निर्देश हैं। इनके द्वारा विभिन्न वर्ग की विविध मनो वृत्तियों का परिचय मिलता है। व्यक्ति अपने प्राकृतिक स्वभाव से प्रेरित होकर अपनी संगिनी या संगी का चुनाव करता है। सात्विक और राजस प्रकृति, जिसमें ज्ञान, सुख तथा कर्म की प्रधानता रहती है को प्रशस्त की संज्ञा देकर स्वीकार किया गया है किन्तु अत्यधिक तामस प्रकृति, जो अज्ञान, मोह एवं कष्ट उत्पन्न करती हैं, को अप्रशस्त मानकर अस्वीकार किया गया है। अप्रशस्त विवाहों को स्वीकार करने पीछे यही व्यापक सिद्धान्त कार्य करते हैं क्योंकि उन विवाहों में उभय पक्ष को समान स्तर न प्राप्त होने से कौटुम्बिक सम्बन्ध की स्थापना नहीं हो पाती। एक की परवशता का लाभ दूसरा उठाता है यह समता के सामान्य सिद्धान्त का विरोध करता है। बहु पत्नी विवाह देश,काल और परिस्थिति के ऊपर निर्भर करता है। जिस समाज में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या अधिक हो और स्त्रियों को पुरुषों की जीविका पर ही जीवन निर्वाह करना हो वहां बहु पत्नी विवाह को अनिवार्य किए बिना सामाजिक व्यवस्था को चलाना सम्भव नहीं है। धर्म-शास्त्रों की सामाजिक व्यवस्था कुछ इसी प्रकार की है क्योंकि उसमें स्त्रियों के स्वतंत्रता का निषेध किया गया है।[1]

धर्मशास्त्रों में धार्मिक संस्थाओं को अन्य कृत्यों से पृथक करना अत्यन्त कठिन लगता है क्योंकि धर्मशास्त्रों की व्यवस्था में समस्त कृत्यों में धार्मिकता का इतना अधिक महत्त्व है कि समस्त कृत्यों को धार्मिक कृत्य कहा जा सकता है। फिर भी विचार की सुविधा के लिए धार्मिक संस्था के अन्तर्गत संस्कार, पञ्चमहायज्ञ, यज्ञ और प्रायश्चित का निरूपण किया गया है। ये सभी मूल रूप से आस्था मूलक हैं और व्यक्ति को भावनात्मक संतुष्टि प्रदान करते हैं। इसके साथ ही साथ इसमें उत्सव और मनोरंजन

१. पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
पुत्रस्तु स्थविरे भावे न स्त्री स्वतन्त्रयनर्हति॥ मनु०, ९. ३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का भी समावेश हो जाता है। संस्कारों के प्रचलन के पीछे कुछ आधारभूत मान्यताओं को खोजा जा सकता है जैसे मनुष्य स्वाभाविक रूप से स्वच्छ एवं पवित्र है, उसमें परिवेश एवं संसर्गज दोष उत्पन्न होते हैं, संस्कार स्वरूप धार्मिक कृत्यों द्वारा इन दोषों का निवारण सम्भव है, मानव में स्वाभाविक अपेक्षित गुणों की न्यूनता की सम्भावना है अथवा गुणों का आच्छादन हो सकता है। संस्कार वे धार्मिक कृत्य हैं जिनके द्वारा गुणों को प्रकाशित, विकसित और परिपुष्ट किया जा सकता है। इस प्रकार संस्कार दोषों को हटाकर गुणों के आधान की भावना से प्रेरित होकर किये जाते हैं। इनका सामाजिक महत्त्व बन्धु-बान्धवों का मिलन, आमोद-प्रमोद मनोरंजन तथा कलात्मक भावों को संतुष्ट और अभिव्यक्त करना है।

पञ्च महायज्ञों के पीछे समाज की समग्रता के कल्याण में व्यक्ति के कल्याण की भावना तथा व्यक्ति को समग्रता के कल्याण के लिए कार्य करने की प्रेरणा प्रदान करना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यज्ञों की भावना में आकांक्षा तथा विश्वास का अद्भुत सम्मिश्रण है। मानव विविध देवी-देवताओं को यज्ञों द्वारा सन्तुष्ट करना चाहता है यह उसका दृढ़ विश्वास है कि यज्ञों से देवता प्रसन्न और संतुष्ट होते हैं तथा इन देवताओं की संतुष्टि से वह अपनी अनेक आकांक्षा, अभिलाषाओं और कामनाओं की पूर्ति करना चाहता है।

प्रायश्चित के पीछे यह भावना काम करती है कि व्यक्ति अपने किए हुए दुष्कर्मों के परिणाम से धार्मिक कृत्यों द्वारा स्वेच्छा से कष्ट सहन द्वारा तथा व्रत उपवास द्वारा, छुटकारा पा सकता है। मनुष्य जीवन में जाने-अनजाने ऐसे अनेक कार्य हो जाते हैं जो सामाजिक, धार्मिक और आध्यात्मिक दृष्टि से अनुचित माने जाते हैं। इन कर्मों के कारण व्यक्ति का समाज में अपमान तथा उसके मन में द्वन्द्व और तनाव होने लगता है। प्रायश्चित कर्मों का विधान शुद्धिकरण की प्रक्रिया है जो दुष्कर्म करने वाले व्यक्ति को शुद्ध कर उसके मानसिक द्वन्द्व और तनाव को दूर करता है और सामाजिक यथास्थिति दिलाने में सहायक होता है।

धर्मशास्त्रों में श्रम और सम्पत्ति की अवधारणा सुदृढ़, दार्शनिक पृष्ठभूमि और उच्चतर लक्ष्य से सम्बद्ध है। यहाँ श्रम, कर्त्तव्य और धर्म या स्वधर्म का रूप ग्रहण कर अवश्यमेव करणीय होता है। श्रम किसी लाभ या मूल्य के लिए नहीं स्वधर्म पालन के लिए किया जाता है। सम्पत्ति एक सामाजिक प्रन्यास या धरोहर है। जिसका अर्जन व्यक्ति करता है किन्तु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपभोग समाज के कल्याण के लिए होता है। भागवत् पुराण का यह वचन कि 'अर्थ की आवश्यकता सबको है इसलिए इसका यथायोग्य विभाग करके ही व्यय करना न्याय संगत है,[1] उक्त स्थापना की पुष्टि करता है। धर्मशास्त्रों में निजी सम्पत्ति या व्यक्तिगत सम्पत्ति का इस अर्थ में समर्थन किया गया है कि व्यक्ति सम्पत्ति का अर्जन करता है तथा रक्षणकरता है इसलिए वह सम्पत्ति का स्वामी है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उसकी अर्जित और रक्षित सम्पत्ति केवल उसके उपभोग के लिए है अपितु वह उसके उपभोग के साथ समाज कल्याण के लिए भी है। जहाँ पाश्चात्य अर्थशास्त्री मानव की इच्छाओं की वृद्धि को सभ्यता और विकास का मानदण्ड मानते हैं वहाँ धर्मशास्त्रों का समाज-दर्शन संयम और इच्छा विरोध तथा सन्तोष को सभ्यता का मानदण्ड मानता है। वह इस मनोवैज्ञानिक तथ्य से भलीभांति परिचित है कि उपभोग से इच्छाओं की तृप्ति कभी सम्भव नहीं है वे तो निरन्तर बढ़ती ही रहती है अतः उनपर अंकुश लगाना ही मानव की वास्तविक मानवता है।[2] धर्मशास्त्रों के समाज दर्शन में सम्पत्ति के स्वामित्व के विषय में निजी स्वामित्व या सामाजिक स्वामित्व को विशेष महत्त्व नहीं दिया गया है और न उसपर विशेष विचार ही किया गया है। धर्मशास्त्रों का दृष्टिकोंण स्वामित्व की अपेक्षा सम्पत्ति के उपभोग के सही दिशा निर्धारण पर केन्द्रित रहा है। धन आवश्यक अवश्य है पर उसके प्रति अत्यधिक आसक्ति तथा उससे असीमित भोग की कामना मानव के व्यक्तिगत जीवन में असन्तोष और सामाजिक जीवन में विघटन, विषमता और क्षोभ उत्पन्न किए बिना नहीं रह सकता। धर्मशास्त्रों के दृष्टिकोंण में सम्पत्ति से व्यक्ति बड़ा है। धन का उपार्जनधन के लिएहो, यह उन्हें मान्य नहीं है। धन का उपार्जन सीमित भोग और लोक कल्याण के लिए हो; यही उनका निश्चित मत है। जहां पाश्चात्य अर्थशास्त्री "जो अर्जन करेगा वही उपभोग करेगा" का समर्थन करते हैं। यहाँ व्यक्ति अधिकार लेकर पैदा नहीं होता अपितु ऋण लेकर पैदा होता है। उसे अधिकारों की प्राप्ति के लिए श्रम नहीं करना है अपितु उसे ऋण चुकाने के लिए स्वधर्म का पालन करना है।

---

१. भागवत् पुराण, ७. १५. ६५

२. महाभारत, आदिपर्व, ७२.४९

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥—मनु, २. ९४,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्मशास्त्रों की राज्य व्यवस्था में धर्म नियन्त्रित राज्यतंत्र का समर्थन मिलता है। धर्मशास्त्रों को यह मान्य है कि यदि पूर्ण रूप से धर्म की स्वाभाविक व्यवस्था हो तो राजा शासकदण्ड और नियम की कोई आवश्यकता नहीं है। किन्तु ऐसा होता कम है इसलिए राजा, शासक, दण्ड और विधान की आवश्यकता होती है। यहाँ राजा की उत्पत्ति के द्वारा राज्य की उत्पत्ति में देवी सिद्धांत का समर्थन हुआ है किन्तु यहाँ राजतंत्र, निरंकुश राजतंत्र नहीं है विधायिका, न्यायपालिका आदि पूर्ण स्वतंत्र हैं और राजा धर्मदण्ड के अधीन रहते हुए स्वधर्म पालन के लिए बाध्य है। किन्तु इस राज्य व्यवस्था को धर्मतंत्र या थियोक्रेसी भी मानना युक्ति संगत नहीं है। क्योंकि थियोक्रेसी में राजा दैवी शक्ति सम्पन्न होकर राज्य और धर्म दोनों का नेता होता है। धर्मशास्त्रों के समाज दर्शन में राजा दैवी शक्ति सम्पन्न अवश्य है वह राज्य का नेता भी है किन्तु वह कभी भी धर्म का नेता नहीं है। धर्म या नियम सर्वोपरि है। राजा भी उसके अधीन है।

राजा धर्म और विधान का रक्षक, व्यवस्थापक, संचालक तथा प्रजा का पोषक रंजक और रक्षक है। उसका परम कर्त्तव्य प्रजा को सुखी सम्पन्न रखते हुए राज्य का रक्षण करना है। वह आन्तरिक संघर्ष कर्त्तव्यों से च्युति और सामाजिक विघटन तथा वाह्य आक्रमण से देश की रक्षा करने के लिए सदैव प्रहरी है।

धर्मशास्त्रों के दण्ड व्यवस्था में क्षतिपूर्ति, प्रतारण तथा शुद्धिकरण का सिद्धान्त निहित है। यहाँ दण्ड के लिए विधान के समक्ष सभी व्यक्ति को समान नहीं माना गया है। इसका यह अर्थ नहीं कि धर्मशास्त्र मानवतावाद का या मानव-समता का विरोधी है। इसका तात्पर्य यह है कि दण्ड निर्धारण में व्यक्ति की सामाजिक परिस्थिति, अपराध कर्म की जानकारी, सामाजिक-दायित्व, तथा सामाजिक अपेक्षा का आंकलन एक महत्त्वपूर्ण पहलू है। जिससे समान अपराध होने पर भी दण्ड में भेद हो सकता है। यहां दण्ड प्रतारण अवश्य है किन्तु प्रतिशोध नहीं है। दण्ड निर्धारण के लिए अपराध कर्म के वाह्य स्वरूप की अपेक्षा अपराधी के अभिप्राय और उद्देश्य का अधिक महत्त्व है। दण्ड एक प्रकार का शुद्धिकरण है जो अपराधी पर राजा के द्वारा प्रयुक्त होता है। इसका स्वैच्छिक रूप प्रायश्चित है जिसमें व्यक्ति अपने अपराधों के लिए स्वयं दण्ड भोगता है।

धर्मशास्त्रों के समाज व्यवस्था के सम्बन्ध में ऊपर जो कुछ कहा गया है वह या तो उसकी वास्तविकता का परिचय कराता है या उसकी विशे-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

षताओं, उसके गुणों और उपादेयपक्षों पर प्रकाश डालता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि ऐसी समाज-व्यवस्था पूर्णरूप से निर्दोष होती है। यहाँ हम धर्मशास्त्रों की समाज-व्यवस्था के कुछ दोषों की ओर संकेत करना चाहते हैं जिनके कारण यह समाज-व्यवस्था अपनी पुरानी प्रतिष्ठा को यथावत् स्थायी रखने में असमर्थ रही है।

धर्मशास्त्रों की सामाजिक व्यवस्था की आधारभूत मान्यताओं के परिणाम स्वरूप जो दोष आए हैं उनमें रूढ़िवादिता, अन्ध विश्वास एवं भाग्यवादिता अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

कर्त्तव्यों के आधार पर समाज का वर्गीकरण और स्तरीकरण सामाजिक व्यवस्था के संचालन के लिए महत्त्वपूर्ण होते हुए भी वर्ग से वर्ग में और व्यक्ति से व्यक्ति में ऊँच-नीच के भाव की इतनी बड़ी खाई बना दी है जो पाटे नहीं पट रही है।

कर्मवाद का सिद्धान्त अपरिहार्य विषमताओं की दार्शनिक सुसंगत व्याख्या प्रस्तुत करने में सक्षम अवश्य है किन्तु इसके आधार पर समस्त सामाजिक विषमताएं, जो समाज जन्य होती हैं, उचित एवं न्यायपूर्ण सिद्ध की जाने लगती हैं और शोषण, उत्पीड़न, आर्थिक विषमता एवं सामाजिक असंतुलन को भी कर्मवाद के आधार पर उचित सिद्ध करने का प्रयास होने लगता है।

रक्त की पवित्रता की मान्यता वर्ग-विभेद और ऊँच-नीच भाव को जन्म देकर समाज को अनेक जातियों-उपजातियों में विभक्त करती हैं। इससे जातिगत स्वार्थ की भावना पनपती है परस्पर आदान-प्रदान के भाव में कमी आ जाती है और समाज में विघटन उत्पन्न होने लगता है।

यथार्थ की अपेक्षा आदर्श को अधिक महत्त्व देने का परिणाम यह होता है कि यथार्थ धीरे-धीरे उपेक्षित होने लगता है और आदर्श के नाम पर ढोंग, पाखण्ड आदि समाज में जड़ जमा लेते हैं।

धर्मशास्त्रों की समाज व्यवस्था से पुरोहितवाद अपरिहार्य हो जाता है इसलिए पुरोहितवाद के कारण उत्पन्न होने वाले अनेक दोष इसमें आ गये हैं।

चारवर्णों की परस्पर मिलन की स्वाभाविकता अनुलोम और प्रतिलोम विवाह में परिलक्षित होती है किन्तु अनुलोम की स्वीकृति और प्रतिलोम की सामाजिक अस्वीकृति एक समाज से उस समाज से भिन्न एक समानान्तर समाज उत्पन्न करने में सहायक हुई है और इन दोनों समाजों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में सहयोग के भाव न होने से दुराव और विघटन की प्रवृत्ति की वृद्धि हुई है।

बहुपत्नी विवाह की प्रथा पुरुष को प्रधानता प्रदान करती है और नारी वर्ग को उसका उचित एवं अपेक्षित स्थान नहीं दे पाती। नारी वर्ग पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्धों का विधान उसके सन्तानों में विशेष प्रकार की रूढ़िवादिता, हीनभाव, ग्रन्थि और उच्चभाव ग्रंथि उत्पन्न करता है। नारी के यौन पवित्रता (अक्षतयोनि) का विवाह के लिए अत्यधिक महत्त्व देना, बाल-विवाह को प्रोत्साहित करता है जिससे वर-वधू में वय की विषमता होती है और उससे परिवार में अभियोजन की सम्भावना घटने लगती है।

पुरुष प्रधान समाज में नारी आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से पूर्ण आश्रित होने के कारण अपेक्षित हो जाती है उसका समुचित बौद्धिक विकास नहीं हो पाता उसकी प्रतिभा और क्षमता कुण्ठित होने लगती है। सामाजिक कार्यों के प्रति उसके मन में उदासीनता आ जाती है। जिससे समाज का आधा भाग एक प्रकार से निष्क्रिय हो जाता है।

कर्मकाण्ड का विशेष महत्त्व जीवन के विविध क्षेत्रों में पाखण्ड को जन्म देता है और सामाजिक जीवन के श्रम का अधिकांश अनुत्पादक बन जाता है।

रूढ़िवादिता और भाग्यवादिता आलस्य को जन्म देती है जिससे समाज नए-नए आविष्कारों और नवीन खोजों से अपने को लाभान्वित करने से वंचित रह जाता है।

जन्म से वृत्ति निर्धारण की प्रथा बुद्धिजीवी शस्त्रजीवी और श्रमजीवी वर्ग के अपेक्षित योग्यता एवं क्षमता वाले व्यक्ति उपलब्ध नहीं करा पाती। जिससे तीनों वर्ग के कार्यों का समुचित सम्पादन नहीं हो पाता है।

राजतंत्र में दैवी सिद्धान्त का समर्थन राजा को निरंकुशता की ओर ले जाने में सहायक हो जाता है। समाज का एक बड़ा वर्ग जो आवश्यकता से अधिक भी हो सकता है शस्त्रजीवी बन जाता है जो अनावश्यक, अकारण और निरर्थक संघर्षों को उत्पन्न करता है।

बुद्धिजीवी और शस्त्रजीवियों की सामाजिक प्रतिष्ठा उन्हें सबल बना देती है और श्रमजीवी आर्थिक दृष्टि से भी दुर्बल होने लगाता है। अर्थहीन होने के कारण श्रमजीवी वर्ग टूटने और बिखरने लग जाता है तथा समाज में अति जात्य वर्ग का आधिपत्य छा जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उक्त दोषों में से किन-किन दोषों ने धर्मशास्त्रों के सामाजिक व्यवस्था को किस सीमा तक प्रभावित किया है। यह निर्धारण एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण का विषय है। यहाँ केवल इतना कहा जा सकता है कि उक्त दोषों में से अधिकांश का प्रभाव धर्मशास्त्रों की समाज व्यवस्था के इतिहास में परलक्षित होता है।

धर्मशास्त्रों की सामाजिक व्यवस्था के उक्त मूल्यांकन से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि इसके दोषों को अपेक्षा इसके गुण और विशेषताओं का महत्त्व अधिक है। सभी दोष परिस्थिति जन्य हैं जिनका निवारण किया जा सकता है। इसकी विशेषताएँ व्यापक दार्शनिक पृष्ठभूमि पर आधारित हैं ज़िन्हें नए परिवेश के लिए संशोधित और परिवर्धित कर उपयोगी बनाया जा सकता है।

आधुनिक वैज्ञानिक और तकनीकी के युग में मानव निरुद्देश्य और मूल्यहीन होता जा रहा है। मशीन और यंत्र मानव पर हावी होते जा रहे हैं। शक्ति और अर्थ की लिप्सा मानव को प्रकृति के अन्य प्राणियों के प्रति उनके कर्त्तव्य एवं दायित्व को विस्मृत कराती जा रही हैं। सामाजिक सम्बन्धों में अस्थिरता, सामाजिक व्यवस्था को छिन्न-भिन्न करती जा रही हैं ऐसे अवसर पर धर्मशास्त्रों केस माज दर्शन से ऐसे अनेक सूत्र निकाले जा सकते हैं जो आधुनिक समाज में मानव के मूल्य को स्थापित करने में सहायक हो सकते हैं। मानव जीवन को अर्थ और काम की लिप्सा से ऊपर उठाकर मानव के मन में विश्व और ब्रह्माण्ड के प्रति चर और अचर प्राणियों के प्रति उसके कर्त्तव्यों का बोध करा सकें। तथा उस नए सुदृढ़ और सुव्यवस्थित समाज के निर्माण की प्रेरणा दे सकते हैं जिसका आदर्श है–सब लोग सुखी हों, सब लोग निरोग हों, सबका कल्याण हो और कोई भी व्यक्ति दुःखी न हो।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग्भवेत् ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ एवं सहायक ग्रन्थों की संक्षिप्त सूची

अग्नि पुराण—राजेन्द्र लाल मित्र, बिब्लिओथिका इंडिका कलकत्ता, आनन्द आश्रम संस्कृत सीरीज, पूना १९००

अथर्व वेद—वेद संहिता, सम्पादित शर्मा (सन्त वालेकर) संस्करण १९३८

आपस्तम्ब धर्म सूत्र—आपस्तम्बीय धर्म सूत्र, सम्पादक, जी० ब्लर, बम्बई, संस्कृत सीरीज, बम्बई, १८९२

ऋग्वेद-भाष्य-भूमिका—प्रकाशक, श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर

ऐतरेय ब्राह्मण—षड्गुरु शिष्य, सुखप्रदावृत्ति सहित, त्रावणकोर विश्वविद्यालय, संस्कृत सीरीज, त्रिवेन्द्रम

उपनिषद्—उपनिषद्, निर्णय सागर प्रेस बम्बई, गीता प्रेस गोरखपुर बृहदारण्यक उपनिषद, एतरेय उपनिषद, तैतिरीय उपनिषद, श्वेताश्व उपनिषद।

कवि कालिदास के ग्रन्थों पर आधारित तत्कालीन भारतीय संस्कृति—डा० गायत्री वर्मा, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, पिशाचमोचन, वाराणसी।

कठोपनिषद्—शांकर भाष्य, गीता प्रेस, गोरखपुर

कल्याण—अंक ४३, परलोक और पुनर्जन्मांक

कामसूत्र—वात्सायन, सम्पादित, पं० दुर्गा प्रसाद, बम्बई, निर्णय सागर प्रेस, १८९१

कोटिल्यार्थशास्त्रम्—प्राच्य विद्या संशोधनालयः मैसूरुविश्वविद्यानिलयः, मैसूरु, चतुर्थ संस्करण, १९६०

गीता रहस्य—लोकमान्य बाल घंगाधर तिलक, अनुवादक-श्रीमान् माधव राव जी प्रेस जयंत श्रीधर तिलक, लो० तिलक मन्दिर, गायकवाडवाड़ा

गौतम धर्म सूत्र—हरदत्त टीका सहित, आनन्दाश्रम, संस्कृत सीरीज, १९१०

देवी भागवत्—१९७६, अंक ३

धर्मशास्त्र का इतिहास—पाण्डु रंग वामन काणे, अनुवादक-अर्जुन चौबे कश्यप, प्रथम खण्ड, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर-प्रदेश, लखनऊ।

धर्म और समाज दर्शन—डा० राधाकृष्णन्, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, १९६०

धर्म दर्शन—लक्ष्मीनिधि शर्मा, गंगासरन एण्ड ग्रेण्ड सन्स, जतनवर, वाराणसी।

नारद पुराण—सम्पादित, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, सम्वत् १९८०

नारद स्मृति—सम्पादक, जोली, कलकत्ता, १८८५

निरुक्त—यास्काचार्य,

पराशर स्मृति—बम्बई १९११

पतञ्जलि योगशास्त्र (एक अध्ययन)—ब्रह्ममित्र अवस्थी, इन्दु प्रकाशन, दिल्ली, १९७८

पतञ्जलि कालीन भारत—डा० प्रभुदयाल अग्निहोत्री, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरुषार्थ चतुष्टय—प्रेम वल्लभ त्रिपाठी, राजविद्या-ग्रंथमाला, वाराणसी-१

प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन--डा० लक्ष्मीदत्त ठाकुर, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ।

प्राचीन भारत में वर्णाश्रम व्यवस्था—डा० मनोरमा जौहरी, किशोरचन्द जैन, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९६९

प्राचीन भारत की सामाजिक संस्कृति—डा० रामजी उपाध्याय, रामनारायण लाल बेनीमाधव, इलाहाबाद

प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास—डा० जयशंकर मिश्र, बिहार हिन्दी अकादमी सम्मेलन भवन, कदम कुंआ, पटना-३।

प्रारम्भिक समाज-दर्शन—अशोक कुमार वर्मा मोती लाल बनारसी दास दिल्ली, १९७५।

विष्णु पुराण—गीता प्रेस, गोरखपुर, सम्वत् २००९

विष्णु धर्म सूत्र—सम्पादक जोली, कलकत्ता, १८८१

वृहदारण्यकोपनिषद—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, गीता प्रेस, गोरखपुर

बोधायन धर्म सूत्र—आनन्दाश्रम, संस्कृत सीरीज

ब्रह्म पुराण—गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज, बड़ौदा १९४१

ब्रह्मवैवर्त्तक पुराण—क्षेमराज श्री कृष्णदास वेंकटेश्वर, बम्बई सम्वत् १९८८

भागवत पुराण—श्रीधर टीका सहित, कलकत्ता

भारतीय सामाजिक संस्थाएं—रवीन्द्र नाथ मुखर्जी, सरस्वती सदन मंसूरी

भारतीय संस्कृति एक समाज शास्त्रीय समीक्षा--गौरी शंकर भट्ट, साहित्य सदन, देहरादून संस्करण १९६५

भारतीय संस्कृति एक दार्शनिक विवेचन—डा० देवराज, हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश लखनऊ।

भारतीय सृष्टि विद्या—डा० प्रकाश, भारतीय ज्ञान पीठ, दिल्ली; १९७४

भारतीय समाज एवं संस्कृति—पी० सी० खरे, पुस्तक भवन, रीवां, मध्य प्रदेश

भारतवर्ष का सामाजिक इतिहास--विमल चन्द्र पाण्डेय हिन्दुस्तान ऐकेडमी, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण २०००, सन् १९६०

भारतीय राजशास्त्र प्रणेता--डा० श्याम लाल पाण्डेय, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ प्रथम संस्करण, १९६४

मनुस्मृति--कुल्लूक भट्ट, पं० हरिगोविन्दशास्त्री

मनु की समाज व्यवस्था--सत्यमित्र दुबे, किताब महल, इलाहाबाद १९६४

महाभारत--नीलकंठ की टीका सहित, पूना, १९२९-३३, गीता प्रेस, गोरखपुर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महाभारत कालीन समाज--सुखमय भट्टाचार्य, लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद १९६६

मानव धर्म-शास्त्र--इन्दिरा रमण, प्रकाशित काशी विद्यापीठ, सम्वत् १९९९

मार्कण्डेय पुराण—बिब्लियोथिका इंडिका, कलकत्ता

मार्कण्डेय पुराण – वासुदेव शरण अग्रवाल, हिन्दुस्तानी एकेडमी, उत्तर प्रदेश, लखनऊ

मित्र मिश्र—वीर मित्रोदय, वाराणसी १९०६

याज्ञवल्क्य स्मृति—अनुवादक-डा० उमेश चन्द्र पाण्डेय प्रकाशक-चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१९६७

रामायण (वाल्मीकि)—मद्रास १९३३, गीता प्रेस, गोरखपुर

लिङ्ग पुराण—कलकत्ता १८८५

वायु पुराण—पूना १९०५

वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति—म० म० प० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना

वैशेषिक सूत्र—कणाद, सम्पादित नंदलाल सिन्हा, इलाहाबाद, पाणिनी आफिस १९११, (सेक्रेड बुक आफ दि हिन्दूज)

शिव पुराण—सम्पादक: पंचानन तर्क रत्न बंगवासी प्रेस

शुक्रनीतिः--श्री पं० ब्रह्मशंकर मिश्र, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी।

श्रीमद्भागवत्गीता—प्रकाशक मोती लाल जालान, अनुवादक-श्री हरिकृष्ण दास गोयन्दका गीता प्रेस, गोरखपुर, ग्यारहवां संस्करण

श्रीमद्भागवत पुराण--गीता प्रेस, गोरखपुर

श्वेताश्वतरोपनिषद्--निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, गीता प्रेस गोरखपुर

समाज दर्शन की भूमिका—डा० जगदीश सहाय श्रीवास्तव, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।

समाज दर्शन की रूपरेखा--जे० एस० मेकेन्जी, अनुवादक, डा० अजीत कुमार सिन्हा, राजकमल प्रकाशन, पटना

समाज दर्शन--डॉ० संगम लाल पाण्डेय, एशिया बुक क० ९ यूनिवर्सिटी रोड, इला०

समाज दर्शन--रामनाथ शर्मा, केदार नाथ रामनाथ एण्ड क०, मेरठ प्रथम संस्करण

समाज और राज्य भारतीय विचार—सुरेन्द्र मित्तल, हिन्दुस्तान एकेडमी, इलाहाबाद

सांख्य कारिका--सम्पादित एवं अनुवादित एस० एस०सूर्य नारायण शास्त्री, यूनिवर्सिटी आफ मद्रास १९४८

हिन्दू संस्कार--डा० राजबलि पाण्डेय, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण १९६६

हिन्दू परिवार मीमांसा-नरिदत्त वेदालंकार, सरस्वती सदन, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Altaker, A. S.--The Position of women in Hindu civilization. The Culture, Publication House, Varanasi Hindu University, 1938.

Belvalkar, S.K. &R. D. Ranade-History of Indian Philosophy, Vol. 11 creative period, Bilvakunja, Publishing House, Poona, 1927.

Broun, L, Guy.—Social Philosophy, Mc. Grand Hill, New York, 1939.

Bary, W. M. Theodored.--Sources of Indian Tradition, Moti Lal Banarasi Das, Varanasi, Reprint. 1972.

Das Gupta. S. N.—A History of Indian Philosophy, Vol. 11, Cambridgevni Press, 1922-1932.

Deussen, P.—The Philosophy of the Upanishads, T. and T. Clark. Edinurgh. 1919.

Das, Bhagvan.—The Sciene of Social Orgn.Vol. III 1948 Benares.

Das, R. M.—Woman in Manu and his seven Commentators Tara Publications, Kamachha, Varanasi, First edition,1962.

Churye, C. S.--Caste & Class in India. Kegan paul,London, 1932.

Hutton, J. H.—Caste in India. Oxford Univ. Press, Ed. II, 1951.

Jayswal, K. P,--Manu and Yajnavalkya, Butter-wbrth, Gal. 1930.

Jha, G. N.--Manu Dharma shastra, Manu smriti. Published by University of Calcutta. 1926.

J; Jolly.—Hindu law & custion Calcutta, 1928.

Kane. P. V.—History of Dharmashastra, Ancient and Medieval Religious and Civil Law. 5 Vols Bhandarkar oriental Ressarch Institute, Poona, India 1930. F. F.

Kaul, R. N.—Social Philosply for beginners Raj Sahib Ram Dayal Agarwal, Allahabad. 1951.

Kapadia, K. M.—Marriage & Family in India, Oxford University Press, Bombay, 1958.

Mackenzie, J. S.—The out lines of Socical Philosophy.

Motwani, K.--Manu Dharmashastra, Gunesh & Co Madras,1935.

Muller, F. Max.--Sacred Books of the East, Editd by, F. Max Muller Vol XXV, The laws of Manu.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Recommended By
89097

LIBRARY
Class on
Cat. on
Tag etc.
Checked
27-11-86
11-12-86
F
19-12-86

Entered in Database
Signature with Date

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar